भगवान महावीर का २५७३ वाँ जयन्ती समारोह

महावीर जयन्ती स्मारिका 1975

सम्पादक मण्डल

प्रो० प्रवीणचन्द्र जैन

डॉ० नरेन्द्र भानावत

पं० मिलापचन्द शास्त्री

श्री केवलचन्द ठोलिया

श्री पदमचन्द साह

प्रधान सम्पादक

भंवरलाल पोल्याका

जैनदर्शनाचार्य, साहित्यशास्त्री

मूल्य चार रुपये

डाक व्यय अतिरिक्त

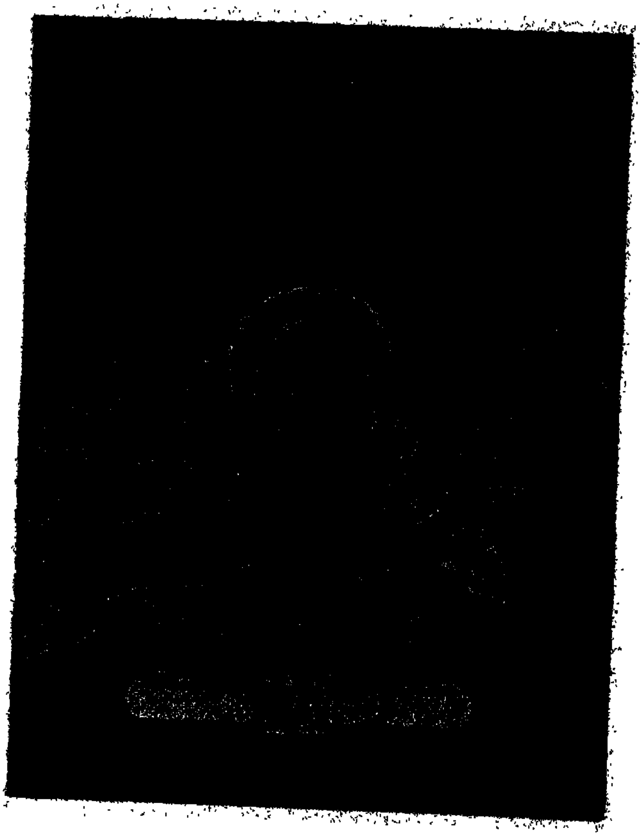
मुद्रक :
अजन्ता प्रिण्टर्स,
घी वालों का रास्ता,
जौहरी बाजार, जयपुर-३

प्रकाशक
रतनलाल छाबड़ा
मन्त्री
राजस्थान जैन सभा, जयपुर-३

राजस्थान जैन सभा, जयपुर

पदाधिकारी एवं कार्यकारिणी के सदस्य

१. श्री कपूरचन्द पाटनी	अध्यक्ष
२. श्री ताराचन्द शाह	उपाध्यक्ष
३. श्री सूरजमल सौगानी	"
४. श्री रतनलाल छाबडा	मंत्री
५. श्री बाबूलाल सेठी	स. मंत्री
६. श्री प्रकाशचन्द ठोलिया	"
७. श्री देवकुमार साह	कोषाध्यक्ष
८. श्री केवलचन्द सौगाणी	सदस्य
९. श्री कैलाशचन्द सौगाणी	"
१०. श्री रामचन्द्र जैन	"
११. श्री कैलाशचन्द्र गोधा	"
१२. श्री फतहचन्द्र छाबडा	"
१३. श्री प्रवीणचन्द्र छाबडा	"
१४. श्री राजकुमार काला	"
१५. श्री त्रिलोकचन्द काला	"
१६. श्री लल्लूलाल जैन	"
१७. श्री राधाकिशन जैन	"
१८. श्री पूनमचन्द साह	"
१९. श्री रमेशचन्द गंगवाल	"
२०. श्री सुभाषचन्द काला	"
२१. श्री अरुणकुमार सोनी	"



सन्देश

उप राष्ट्रपति, भारत
नई देहली
अप्रेल १६, १९७५

प्रिय महोदय,

आपका पत्र प्राप्त हुआ, धन्यवाद !

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि राजस्थान जैन सभा, जयपुर भगवान महावीर के उपदेशों को जन-सुलभ बनाने के लिये पिछले कई वर्षों से "महावीर जयन्ती स्मारिका" का प्रकाशन कर रही है। भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण वर्ष के संदर्भ में यह आवश्यक है कि स्मारिका एक बड़े आकार में छपे, और समयुगीन परिस्थितियों के अनुरूप सामाजिक समस्याओं के उचित समाधान ढूढ़ने में मानव जाति को प्रेरित करने की सामग्री प्रस्तुत करे। मैं आपके प्रयास की सफलता के लिये अपनी हार्दिक शुभ कामनायें भेजता हूँ !

आपका,
s/d
ब० दा० जत्ती

सूचना

स्मारिका की प्रति प्राप्त करने हेतु निम्न में से किसी एक पते पर पत्र-व्यवहार करें :—

१. श्री कपूरचन्द जैन पाटनी
इनकैम टैक्स सलाहकार
अध्यक्ष–राजस्थान जैन सभा
पाटनी जैन एण्ड कम्पनी,
जौहरी बाजार, जयपुर–३

२. श्री रतनलाल छाबडा
मंत्री–राजस्थान जैन सभा
छाबड़ा भवन, घी वालों का रास्ता
जयपुर–३.

३. भँवरलाल पोल्याका
566, जोशी भवन के सामने
मनिहारों का रास्ता
जयपुर–३.

४. श्री बाबूलाल सेठी
सेठी भवन, चूरुकों का रास्ता
स्टेट बैंक आफ बीकानेर एण्ड जयपुर के पीछे
जयपुर–३.

दो शब्द

चैत्र माह भारतीय संस्कृति और इतिहास में अपना एक विशेष महत्व रखता है। न केवल इस में भारतीय नव वर्ष का शुभारम्भ होता है अपितु अहिंसा एवं विश्व मैत्री के संदेश वाहक भगवान महावीर तथा जन-जन की श्रद्धा के प्रतीक मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम ने इसी मास में जन्म ले भारत वसुन्धरा को पवित्र किया था। प्रसिद्ध सुधारक एवं वैदिक महर्षि दयानन्द ने इसी मास में आर्य समाज की स्थापना की थी। सिंधी समाज का चेटीचण्ड दिवस भी इसी मास में आता है। नवरात्र भी इसी मास में आते हैं।

आज विश्व में अशान्ति के भयानक काले बादल छा रहे हैं। विज्ञान ने मानवता के लिये ऐसे शस्त्रों का निर्माण किया है जिसके प्रयोग से समस्त संस्कृति नष्ट हो सकती है। इन बादलों में चमकती विनाश की विद्युत को देखकर मानव हृदय भय से कांप रहा है। भय है कम्बोड़िया और वियतनाम की युद्ध विभीषिका सारे विश्व में कहीं फैल न जाय। विश्व आज ऐसे आदर्शों की खोज में है जिन पर चल कर अथवा अनुकरण कर इस विभीषिका से बचा जा सके जिसकी शीतल छाया में बैठ शान्ति और सन्तोष की सांस ले सके।

ऐसे भयानक वातावरण में हम मना रहे हैं भगवान महावीर का २५००-वाँ निर्वाण वर्ष एवं उनका २५७३ वां जयन्ती दिवस। भगवान महावीर ने जब जन्म लिया यद्यपि उस समय विश्व युद्ध जैसी कोई परिस्थिति नहीं थी किन्तु फिर भी उस समय एक प्राणी जिस प्रकार दूसरे प्राणी के खून का प्यासा हो रहा था, धर्म के नाम पर जिस प्रकार मूक पशुओं को आग की लपलपाती ज्वालाओं की भेंट चढ़ा दिया जाता था, नारी को जिस प्रकार अन्य चल सम्पत्ति की तरह दासियों के रूप में बाजारों में नीलाम पर चढाया जाता था, पड़ौसी राज्य जिस प्रकार आपस में लड़ते थे और उनसे जो जन धन की हानि होती थी वह किसी विश्व युद्ध की विभीषिका से कम नहीं थी। भगवान महावीर ने उस चीत्कार और क्रन्दन को सुना, अनुभव किया, वर्षों तक चिन्तन मनन किया और परिणाम स्वरूप अहिंसा और अनेकान्त का नवनीत प्राप्त हुआ। भगवान महावीर ने अपने को मानव कल्याण तक ही सीमित नहीं रखा अपितु प्राणी मात्र का कल्याण उनका अपना लक्ष्य रहा। आज २५०० वर्ष बाद भी उनके वे सिद्धान्त त्रस्त प्राणियों को त्रास से मुक्ति दिलाने में उतने ही उपयोगी हैं जितने उस समय थे और भविष्य में भी उनकी उपयोगिता में कोई कमी आने वाली नहीं है।

उन भगवान महावीर के सिद्धान्तों का प्रचार जन-जन में हो, जैन धर्म और जैन संस्कृति की विशेषताओं से लोग परिचित हों इसी पावन भावना से अनुप्रेरित हो स्वर्गीय श्रद्धेय पं० चैनसुखदासजी के प्रोत्साहन से सन् १९६२ में राजस्थान जैन सभा जयपुर ने स्मारिका प्रकाशन का महत्वपूर्ण निर्णय लिया जो आज भी उसी उत्साह और लगन से चालू है। हमारे इस प्रयास को न केवल सामान्य जनता ने अपितु प्रबुद्ध वर्ग ने जिस प्रकार सराहा है वही अनेक बाधाओं के बावजूद भी प्रतिवर्ष प्रकाशित करने में प्रेरणा का मन्त्र रहा है।

भगवान महावीर के २५००वां परिनिर्वाण वर्ष को अत्यधिक व्यापक बनाने हेतु जो राजस्थान सरकार ने जनोपयोगी एवं कल्याणकारी कार्यक्रम स्वीकार किये हैं वह प्रशंसनीय है किन्तु राजस्थान विधान सभा द्वारा अपने गत अधिवेशन में पशुबलि निषेध बिल का निर्विरोध पारित किया जाना परिनिर्वाण वर्ष की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि है उसके लिए मुख्यमंत्री श्री हरिदेव जोशी, प्रस्तावक श्री भीमसेन चौधरी, अध्यक्ष श्री रामकिशोर व्यास, मंत्री मण्डल के एवं विधान सभा के सारे ही सदस्य धन्यवाद के पात्र हैं। यह निर्णय आज के युग में अहिंसा के इतिहास में महत्वपूर्ण कड़ी है।

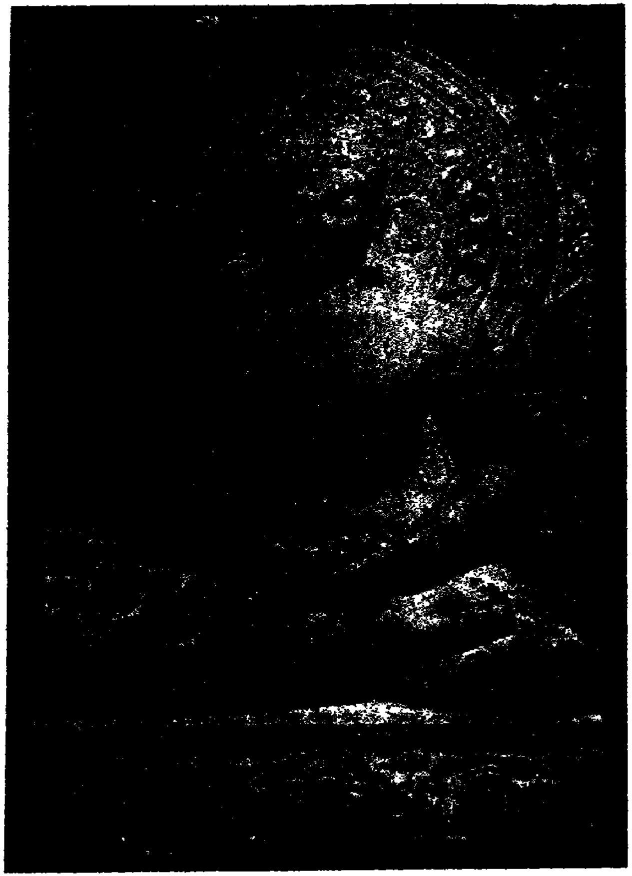
आशा है भगवान महावीर के २५००वें परिनिर्वाण वर्ष के सन्दर्भ में प्रकाशित यह स्मारिका पाठकों को उत्कृष्ट पाठ्य सामग्री उपलब्ध करायेगी ऐसा मुझे विश्वास है। इसके सम्पादन में पं० भंवरलालजी पोल्याका जैनदर्शनाचार्य अस्वस्थ होते हुए भी जिस निष्ठा एवं परिश्रम के साथ उन्होंने तथा उनके सम्पादक मण्डल के सहयोगियों ने कार्य किया है यह प्रकाशन उन्हीं का प्रतिफल है। मैसर्स अजन्ता प्रिन्टर्स के मुद्रण कार्य में, विज्ञापनदाताओं के एवं अन्य साथियों के रात-दिन के अथक परिश्रम का ही परिणाम है कि यह प्रकाशन समय पर ही प्रकाशित हो सका। मैं उन सब विद्वानों का आभार प्रकट करूंगा जिन्होंने अल्प समय की सूचना पर ही अपने विद्वतापूर्ण लेख एवं कवितायें भेजकर अनुगृहीत किया है।

अन्त में पाठकों से मेरा नम्र निवेदन है कि स्मारिका में जो त्रुटियाँ हों सूचित करें ताकि आगामी वर्ष इससे सुन्दर कलेवर एवं साहित्य सामग्री के साथ प्रस्तुत कर सकें।

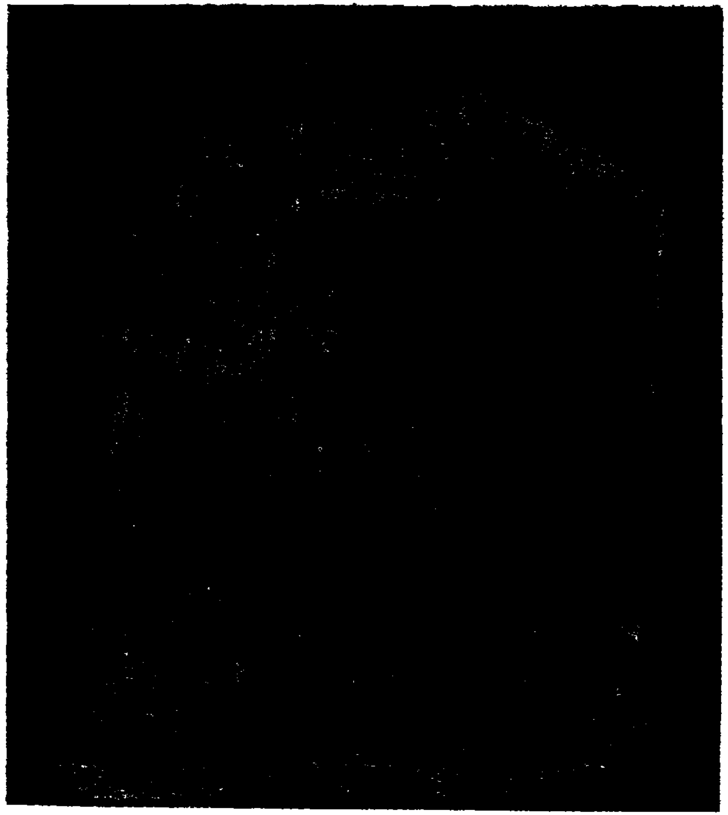
विश्ववंद्य भगवान महावीर के चरणों में शत-२ वन्दन।

कपूरचंद पाटनी,
अध्यक्ष, राजस्थान जैन सभा।

जनचेतस्क भ० महावीर



छाया शिल्पी श्री राजेश सिन्हा	J 118	सौजन्य से राज्य संग्रहालय लखनऊ



मध्ययुगीन चन्देल कला की अद्भुत कलाकृति दिगम्बर जैन साधु

सम्पादकीय

सबसे पहले नत मस्तक होते हैं उन प्रातः स्मरणीय अहिंसा के मंत्रदाता, अनेकान्त चक्षु के प्रदाता भगवान महावीर के पवित्र चरणों में जिनका २५०० वां निर्वाण वर्ष सारे विश्व में बड़े हर्ष और उत्साह से मनाया जा रहा है। फिर अनुप्रेरणा लेते हैं जयपुर के उन महान् विद्वानों के जीवन से जिसकी शृंखला आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी से प्रारम्भ होकर स्व० श्रद्धेय गुरुवर्य पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ पर आकर समाप्त होगई। जयपुर में इन महान् विद्वानों की सुदीर्घ परम्परा रही है। उन्होंने कभी समय के आगे सर नहीं झुकाया। सच बात कहने में वे कभी हिचके नहीं, इसके लिए फिर उन्हें अपना बलिदान ही क्यों न करना पड़ा हो, चाहे सारी समाज ही उनके विरुद्ध क्यों न हो। वे कभी प्रवाह में नहीं बहे अपितु,प्रवाह को उन्होंने अपने अनुकूल बनाया।

२५०० वें निर्वाण वर्ष में बहुत कुछ ऐसा हुआ है और हो रहा है जिसके सम्बन्ध में कुछ कहने को लोगों का मन भीतर ही भीतर छटपटाता रहा है किन्तु कोई उनकी बात को लोगों के सामने रखने का साहस नहीं कर पा रहा क्योंकि उसे भय है अमुक मुनि अथवा नेता उससे नाराज हो जायेगा। ऐसे मनोभावों की छटपटाहट को मुखरित करने का कुछ प्रयत्न स्मारिका के इस बारहवें अंक में हमने किया है। आज प्रजातान्त्रिक युग है और जैन पत्रों का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे किसी भी विषय पर खुल कर चर्चा होने दें। प्रत्येक ऐसी रचना को अपने पत्र में निर्भीक होकर स्थान दे जो तथ्य और तर्क पूर्ण है चाहे फिर वे पत्र की नीति के विरुद्ध ही हों। वे किसी एक ही विचारधारा, पार्टी, पूंजीपति आदि से सम्बद्ध होकर न रहें। सब प्रकार के विचारों को अपने पत्र में स्थान देने से सबसे बड़ा

लाभ यह होगा कि उस विषय में वस्तुस्थिति खुल कर सामने आजावेगी और इस प्रकार यदि कोई गलती हुई है तो उसके परिमार्जन में बड़ी सहायता मिलेगी। आज जो समाज में ठोस विद्वानों का अभाव सा दिखाई दे रहा है वह भी कुछ हद तक दूर हो सकेगा क्योंकि इससे स्वतन्त्र चिन्तन, मनन, अध्ययन एवं लेखन को प्रोत्साहन मिलेगा।

हम स्वयं भी ऐसा अनुभव करते हैं कि हमारे शीर्षस्थ नेताओं ने जो बहुत से निर्णय इस वर्ष किये उनमें विषय पर गम्भीरता से विचार करने का अभाव रहा है। वे केवल इस प्रकार हुए हैं जैसे पहले लोग यह पूछकर अपनी राय देते थे कि साहब की कांई राय छै:, साहब की राय सो म्हांकी राय: अथवा 'अहोरूपमहोध्वनि' वाली कहावत चरितार्थ रही है।

केन्द्रीय समिति और दिगम्बर केन्द्रीय समिति द्वारा वितरित, प्रकाशित प्रचार सामग्री को ही लें। किसी ने भी दिल्ली में यह नहीं देखा कि यह मूर्ति जो बनी है वह दिगम्बर परम्परा के अनुसार ठीक है या नहीं, कपड़े के बैनर में जो णमोकार मंत्र आदि छपे हैं वे सही हैं या नहीं, क्षमावनी कार्डों पर किसी दोहे के कर्त्ता का नाम आदि जो जा रहा है वह सही है या नहीं आदि-२। यहां जयपुर में जब इस ओर ध्यान दिलाया गया तो कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया गया। मालूम हुआ यह कार्य एक मुनि महाराज की देखरेख में सम्पन्न हुआ या होरहा है और किसी में भी उन मुनि महाराज से इस सम्बन्ध में कुछ कहने का साहस नहीं। आखिर ऐसा क्यों? ब्यावर के पंडित हीरालालजी शास्त्री ने स्वस्तिक के सम्बन्ध में जब दिल्ली में विद्वानों के समक्ष कुछ कहा था उस समय का जो चित्र उन्होने पत्रों में खेंचा उससे क्या प्रतीत होता है? आखिर वहां इतने विद्वान् थे क्यों सब चुप्पी लगा गये? क्यों नहीं किसी ने उनका समर्थन या विरोध किया? आज दिगम्बर जैन समाज में ऐसे कितने पंडित या विद्वान है जो 'परस्परोपग्रहो।जीवानाम्' सूत्र की वही व्याख्या करते हैं जो आज प्रचारित की जा रही है। हमारी जिनसे भी बात-चीत हुई है वे इस अर्थ का विरोध करते हैं किन्तु साहस से कोई कहना या लिखना नहीं चाहता क्योंकि किसी को क्या भय है और किसी को क्या? विद्वान तो समाज को दिशा देने वाले होते हैं वे ही यदि ऐसा रुख अपनावें तो फिर इस समाज का आखिर होगा क्या?

पूज्य आचार्यों द्वारा लिखे गये किसी सूत्र, श्लोक आदि का उनके किये हुये अर्थ के विरुद्ध अर्थ करना एवं प्राचीन चली आ रही सांस्कृतिक एवं धार्मिक परम्पराओं में मनमाना परिवर्धन न केवल हमारी धार्मिक एवं सामाजिक संस्कृति को नष्ट करने वाला होगा अपितु भविष्य में

वह गलत रूप में हमारी भावी पीढ़ी के सामने प्रस्तुत होगी इससे बड़ा पाप और अनर्थ और क्या हो सकता है ? जैन एकता के हम सबसे बड़े हामी हैं और हम किसी ऐसे प्रयत्न में जो उस एकता के लिए घातक हो बाधक नहीं बनना चाहते किन्तु यह अवश्य चाहते हैं कि वह एकता वास्तविक और स्थाई हो। कोई भी बात हृदय के अन्तर्तम से स्वीकार की जाय बहुमत के बल पर लादी न जाये। वह कार्यकारी हो उसका रूप ऐसा न हो कि जैसे कोई ऐसा चित्र बनावे जिसके विभिन्न अंग विभिन्न प्रकार के एकेन्द्रीय आदिक जीवों के हों और यह कहा जाये कि यह चित्र जीवों की एकता का प्रतीक है।

अस्तु, स्मारिका का अंक जैसा बन पड़ा वह आपके सामने है, इसमें लेखकों कवियों आदि का जो सहयोग मिला उनका हृदय से आभार, अपने सारे सहयोगियों, साथियों को धन्यवाद।

बीसियों रचनाएं इस वर्ष भी स्थान नहीं पा सकी। उन्हें लौटा दी गई हैं या लौटाई जा रही हैं। इन सबसे भविष्य में सहयोग की प्रार्थना के साथ सखेद क्षमा।

स्मारिका पढ़ते समय इस बात का ध्यान रखें कि इसके लेखक दोनों ही संप्रदाय के विद्वद्बंधु हैं अतः उनकी रचनाओं में ऐसी घटनाओं और मान्यताओं का उल्लेख संभव है जो दूसरे सम्प्रदाय के लोगों को मान्य नहीं हो किन्तु यह अपरिहार्य है।

भंवरलाल पोल्याका

कुछ तथ्य : कुछ प्रश्न

☐ पदमचन्द शाह

एम. ए. (राजनीति)

बी. काम., सम्पादन कला विशारद

भगवान महावीर के २५०० वें पावन परिनिर्वाण की स्मृति में सर्वत्र समारोह आयोजित हुये हैं, हो रहे हैं और होंगे। इस अवसर की महानतम उपलब्धियों में है—एक ध्वज, एक ध्वज गान और एक प्रतीक। इसके अतिरिक्त महामंत्र णमोकार व महावीराष्टक स्तोत्र एवं मंगल पाठ का एक रूप समारोहार्थ स्वीकारा गया। इससे आगे एक अन्य उपलब्धि जो श्रद्धेय आचार्य विनोबाजी की प्रेरणा से सामने आई—सूत्र गाथाओं का संकलन—समणसुत्तं जिसका प्रकाशन सर्व सेवा संघ–वाराणसी कर रहा है।

इस परिनिर्वाण वर्ष को मनाने हेतु गठित केन्द्रीय महासमिति में समाज के सभी सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व था और ऐसा लगता था कि शताब्दियों से सम्प्रदाय व गच्छवाद के व्यामोह में भटक रहा जैन समाज अब महावीर के ध्वज तले एक हो तीर्थंकर वर्द्धमान की जयश्री बोलेगा। इस समिति में श्वेताम्बर सम्प्रदाय के वरिष्ठ प्रतिनिधि श्री कस्तूरभाई लालभाई और दिगम्बर सम्प्रदाय के वरिष्ठ प्रतिनिधि साहू श्री शान्ति प्रसाद जैन हैं—जो क्रमशः अध्यक्ष और कार्याध्यक्ष है।

सामाजिक एकता की दिशा में पहल का कार्य जैन ध्वज और प्रतीक से प्रारम्भ हुआ लेकिन इनका किस स्तर पर समाज में विरोध है यह अदजाना नहीं है। जैन ध्वज जिसे सर्वमान्य स्वीकार कर लिया गया और उसके पश्चात इसे प्रयोग में भी लाया जाता रहा है, में असंगतियों के बारे में जैन वाङ्मय के विद्वानों ने जब कहा तो उसे अध्यक्ष श्री कस्तूरभाई लालभाई ने अस्वीकार कर दिया क्योंकि ये विद्वान दिगम्बर आम्नाय के थे और जैन दर्शन के अनुसार उसमें संशोधन की बात कर रहे थे लेकिन सर्व-सम्मत निर्णय की अभी स्याही भी नहीं सूखी थी कि ध्वज में एक बड़ा परिवर्तन किया गया। यह था ध्वज में नेवी ब्ल्यू रंग के स्थान पर काला रंग प्रयुक्त किया जाय।

मैं ध्वज में संशोधन के विरुद्ध नहीं हूं अपितु मेरा यह कहना है कि जब ध्वज में संशोधन अपरिहार्य था तो क्यों न वे सब तथ्य इस अवसर पर सोचे गये ? जिनके लिये जैन वाङ्मय के विद्वान कहते रहे । क्या कस्तूरभाई लालभाई जिनकी अध्यक्षता में १२ जून, १९७४ को बम्बई में सम्पन्न महासमिति की बैठक में यह निर्णय लिया गया–बता सकेंगे कि वे कौन सी परिस्थितियां रहीं जो ध्वज में रंग परिवर्तन हुआ। नीले रंग से काले रंग का परिवर्तन आखिर क्या कहता है। इस पर न कहीं सार्वजनिक रूप से बताया गया और न ही प्रेस को स्पष्टीकरण दिया गया कि यह रंग परिवर्तन क्यों किया गया।

प्रतिनिधित्व

जैन समाज दो सम्प्रदायों में विभक्त माना जाता है—

१) दिगम्बर
२) श्वेताम्बर

लेकिन जब परिनिर्वाण समारोह राष्ट्रीय स्तर पर सरकार के सहयोग से मनाने की बात हुई तो इसके लिये बनने वाली समिति में श्वेताम्बर समाज ने आम्नाय भेद के आधार पर प्रतिनिधित्व चाहा–अर्थात श्वेताम्बर समाज के तीन अन्य उप समाज—१) मूर्तिपूजक
२) स्थानकवासी और
३) तेरापंथी

आनुपातिक प्रतिनिधित्व की बात हुई और अन्त में दिगम्बर समाज ने इसे भी स्वीकारा और समिति का गठन हो गया। समाज स्तर पर एक महासमिति का गठन हुआ इसके अध्यक्ष श्री कस्तूरभाई लालभाई (श्वेताम्बर समाज के प्रतिष्ठित एवं वरिष्ठ नेता) तथा कार्याध्यक्ष साहू श्री शान्तिप्रसाद जैन (दिगम्बर समाज के प्रतिष्ठित नेता) बनाये गये।

प्रतिनिधित्व की लड़ाई अभी समाप्त ही हुई थी और हमने 'एकता' के लिये प्रयास प्रारम्भ ही किये थे कि अध्यक्ष ने एक सुझाव रखकर तीनधुई समाज को इस महासमिति में प्रतिनिधित्व दिया किन्तु 'सराक जाति' को इस समिति में प्रतिनिधित्व क्यों नहीं दिया गया ?

महावीर का सर्वमान्य चित्र क्यों नहीं

भगवान महावीर के इस पावन समारोह प्रसंग पर प्रदर्शनार्थ एक सर्वमान्य चित्र आज तक क्यों नहीं स्वीकार हुआ। महासमिति ने १२ जुलाई, १९७४ की बैठक में यह सर्वसम्मत निर्णय लिया था—

"भगवान महावीर के पदमासन में विराजमान तथा वस्त्रहीन चित्र का व्यापक उपयोग किया जाय। इसके लिये भगवानश्री की एक प्रभावशाली

मुद्रा का चयन अध्यक्ष श्री कस्तूरभाई लालभाई की अनुमति से किया जाय।

निर्वाणोत्सव वर्ष के प्रारम्भ के ४ माह पूर्व लिया गया निर्णय आज ७ माह के अन्तराल में भी पूरा नहीं हो पाया है। इसके पीछे क्या रहस्य है ?

यही कारण रहा कि भारत सरकार के निर्णयानुसार डाक-तार विभाग जो निर्वाणोत्सव दिवस (१३ नवम्बर, १६७४) को भगवान महावीर पर डाक टिकट प्रसारित करना चाहता था, को भगवान का चित्र समिति द्वारा सुलभ न कराये जाने से 'पावापुरी' का चित्र डाक टिकट पर प्रसारित करना पड़ा।

तीर्थ विवाद

दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के मध्य तीर्थ-क्षेत्रों को लेकर झगड़े चले आ रहे हैं। इन झगड़ों में मार-पीट तक हो गई है। कई वाद तो आज भी न्यायालय में चल रहे है और समाज का लाखों रुपया इन क्षेत्रों की रक्षार्थ इन विवादों पर व्यय हो रहा है।

तीर्थों के झगड़े दो प्रकार के है—कुछ तीर्थों पर उपासना पद्धति को लेकर झगड़े है तो कुछ तीर्थों पर स्वामित्व सम्बन्धी झगड़े है।

जहां निर्वाण वर्ष में इन झगड़ों में कमी होनी चाहिये थी वहाँ ये झगड़े और बढ़े हैं।

तीर्थों के विवादों के हल करने के लिये महासमिति ने १२ अक्तूबर, १६७४ को इन्दौर में सम्पन्न अधिवेशन में चार व्यक्तियों की एक समन्वय समिति का गठन किया। जिसकी प्रथम बैठक ६ फरवरी, १६७५ को नई दिल्ली में श्री लालचन्द हीराचन्द की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई लेकिन यह समिति अपनी कार्यप्रणाली भी तय न कर सकी।

एकता, संगठन और समन्वय की दृष्टि से भगवान महावीर के निर्वाण महोत्सव का यह पावन वर्ष हम सभी के लिये चुनौती है। दूसरों को 'अनेकान्त' के सिद्धान्त पर चलने की शिक्षा देने वाले और विश्व शान्ति का एकमात्र उपाय 'स्याद्वाद' को बतलाने वाले भगवान महावीर के अनुयायी हम स्वयं कितना प्रभु द्वारा बताये सिद्धान्तों का पालन करते हैं ? विश्व को अहिंसा और मैत्री का उपदेश देने वाले जैनों में स्वयं में कितना मैत्री और कितना ऐक्य है ?

साम्प्रदायिक सद्भाव तब ही सम्भव है जब हम विचारों से नहीं कर्मणा जैन बनें। यदि ऐसा हुआ तो सम्प्रदायवाद का विषवृक्ष स्वतः मृत हो जायेगा और समाज में ऐक्य एवं सौहार्द पैदा होगा।

यदि हमारी यही हालत रही तो वह दिन दूर नहीं जब केवल महावीर का नाम ही शेष रह जाय और महावीर द्वारा प्रचलित समाज का अस्तित्व ही न हो।

प्रकाशकीय

यह वर्ष इतिहास में जैन दर्शन की प्रभावना की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्वपूर्ण वर्ष है जबकि विश्ववंद्य भगवान महावीर का २५०० वाँ निर्वाण महोत्सव राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बड़े हर्षोल्लास के साथ मनाया जा रहा है।

मानव समाज को ऐसा साहित्य जो भगवान महावीर एवं उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म एवं दर्शन पर विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रकाश डालता हो, सुलभ कराने की दृष्टि से सभा ने १९६२ में भगवान महावीर की पावन जयन्ती के अवसर पर स्मारिका का प्रकाशन प्रारंभ किया। सभा के इस प्रयास की चतुर्मुखी प्रशंसा की गई जिससे प्रोत्साहित होकर सभा ने अपनी इस योजना को स्थाई रूप दे दिया। अब तक ग्यारह स्मारिकाएं प्रकाशित हो चुकी हैं और यह बारहवा अंक आपके हाथ में प्रस्तुत है।

किसी भी विशेष अवसर के लिये विज्ञापन द्वारा अर्थ-संचय हेतु स्मारिका जिनमें विज्ञापनों के अतिरिक्त जरा सी भी पठनीय सामग्री नहीं होती, का प्रकाशन आजकल एक सामान्य प्रवृत्ति सी बन गई है। परन्तु हमें गर्व है कि सभा द्वारा प्रकाशित स्मारिका इस कोटि की न होकर एक विशेष महत्व की है और जैन दर्शन, साहित्य, धर्म एवं संस्कृति के विषय में जानने के इच्छुक प्रबुद्ध नागरिकों ने इसके सान्दर्भिक महत्व को स्वीकार किया है तथा इन्हें संग्रहणीय एवं पठनीय साहित्य की संज्ञा दी है।

प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, जिनकी प्रेरणा से यह कार्य प्रारंभ हुआ, ने अपने जीवन-काल में इसका सम्पादन किया। उनके स्वर्गवास के पश्चात उन्हीं के परम शिष्य श्री भंवरलालजी पोल्याका जैनदर्शनाचार्य, साहित्यशास्त्री इसके सम्पादन का कार्य कर रहे

हैं। आपके कार्यकाल में प्रकाशित हुई स्मारिकाओं ने भी साहित्य सृजन के क्षेत्र में उत्तरोत्तर विशिष्ट स्थान बनाया है। आपने इस वर्ष अत्यन्त अस्वस्थ होते हुए भी पूर्ण लग्न एवं उत्साह से लेखों के संकलन चयन एवं स्मारिका को सजाने-संवारने का पूर्ण उत्तरदायित्व ग्रहण कर इसे समय पर प्रकाशित किया इसके लिये हम उनके हृदय से आभारी हैं।

समस्त विद्वानों, लेखकों एवं कवियों के जिन्होंने हमें निःशुल्क अपनी मौलिक रचनायें प्रेषित की हैं हृदय से आभारी हैं। यह उन्हीं के सक्रिय सहयोग का परिणाम है जिसके फलस्वरूप स्मारिका ने अपना विशेष स्थान बना रखा है। भविष्य में भी पूर्ण सहयोग की सभा अपेक्षा रखती है।

विज्ञापन के माध्यम से ही स्मारिका के प्रकाशन की अर्थ व्यवस्था संभव हो पाती है अतएव सभा समस्त विज्ञापन-दाताओं के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करती है। इस कार्य में सर्व श्री केवलचन्द जी ठोलिया, संयोजक विज्ञापन समिति, एवं श्री मूलचन्दजी पाटनी, सुमेरकुमारजी महावीरप्रसादजी पहाड़िया, बाबूलालजी सेठी, देवकुमारजी साह, राजकुमार काला, मालचन्दजी झांझरी, सुरेन्द्रकुमार सेठी जिनके अथक प्रयत्नों से सामग्री उपलब्ध हो सकी, के अत्यन्त आभारी हैं।

स्मारिका के मुद्रण का कार्य मेसर्स अजन्ता प्रिण्टर्स ने किया है। मुद्रण को आकृष्ट बनाने एवं समय पर प्रकाशित कराने में इस संस्थान के कार्यकर्त्ताओं और विशेषकर श्री जितेन्द्र संघी का जो सहयोग प्राप्त हुआ उसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

स्मारिका के स्तर में उत्तरोत्तर वृद्धि करने हेतु सभा सतत प्रयत्नशील है। पाठकगण सफलता का मूल्यांकन स्वयं करेंगे। कमियों को दूर करने हेतु आपके सुझाव सहर्ष आमंत्रित हैं।

सभा के अध्यक्ष श्री कपूरचन्द पाटनी एवं सम्पादक मण्डल के अन्य सदस्यों के जिन्होंने स्मारिका के स्तर में उत्तरोत्तर वृद्धि हेतु समय-समय पर जो मार्ग-दर्शन किया उसके भी आभारी हैं।

अन्त में हम स्मारिका के प्रकाशन में उन सभी महानुभावों का जिनका हमें प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग मिला है उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

भविष्य में स्मारिका के स्तर में उत्तरोत्तर वृद्धि हेतु सभी के सक्रिय सहयोग की आशा में—

मंत्री

राजस्थान जैन सभा, जयपुर



महावीर
जयन्ती
१९७४

प्रमुख अतिथि श्री अक्षयकुमार जैन झण्डारोहण करते हुए।



महिला सम्मेलन का एक दृश्य— श्रीमती नगेन्द्रबाला महिलाओं को सम्बोधित करती हुई।

राजस्थान प्रान्तीय भगवान् महावीर का २५००वां निर्वाण महोत्सव महासमिति द्वारा १३ नवम्बर १६७४ को रामलीला मैदान में आयोजित विशाल जनसभा के दो दृश्य



राजस्थान के मुख्य मंत्री श्री हरिदेव जोशी सभा को सम्बोधित करते हुए



राजस्थान के वित्तमंत्री श्री चंदनमल वैद विचार प्रकट करते हुए

राजस्थान जैन सभा, जयपुर
एक संक्षिप्त परिचय

राजस्थान जैन सभा, जयपुर जैन समाज का एकमात्र ऐसा प्रतिनिधि संगठन है जो जैन समाज के सभी वर्गों को संगठित कर उसके सर्वांगीण विकास में सतत् प्रयत्नशील है। आज से लगभग २३ वर्ष पूर्व समाज के जागरूक नवयुवकों ने आपसी मनभेदों को मिटाकर, संस्थाओं के नाम एवं पदों का मोह त्याग कर राजस्थान जैन सभा की स्थापना की है। सभा का स्वयं का एक संविधान है जो राजस्थान सोसाइटीज एक्ट के अन्तर्गत पंजीकृत है।

विशुद्ध धार्मिक एवं सैद्धान्तिक मान्यताओं को प्रधानता देकर वास्तविक धर्म का मर्म समझाते हुए जैन समाज की साहित्यिक, सांस्कृतिक, चारित्रिक, सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति के हेतु आवश्यक कार्य करना ही सभा का एकमात्र लक्ष्य है।

जनमानस को धर्म एवं कर्त्तव्य की ओर आकृष्ट करने की दृष्टि से पर्युषण पर्व, क्षमापन समारोह, महावीर जयन्ती समारोह तथा निर्वाणोत्सव पर विशेष समारोह तथा समय-समय पर व्याख्यानों-प्रवचनों के आयोजन एवं साहित्य प्रकाशन सभा की मुख्य गतिविधियाँ रही है।

गत वर्ष में किये गये कार्यों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

(ब) समारोह

महावीर जयन्ती समारोह

सदा की भांति इस वर्ष भी समस्त जैन समाज के सहयोग से दिनांक २ अप्रेल १९७४ से ४ अप्रेल १९७४ तक यह कार्यक्रम विशेष उत्साहपूर्वक मनाया गया। २ अप्रेल १९७४ को राजस्थान विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डा० सुधीरकुमार गुप्त की अध्यक्षता में एक विचारगोष्ठी 'भगवान महावीर की विरासत' विषय पर आयोजित की गई जिसमें डा. नरेन्द्र भानावत, डा. हुकमचन्द भारिल्ल, पं. मिलापचन्द शास्त्री, प्रो. प्रवीणचन्द जैन, श्री भंवरलालजी न्यायतीर्थ एव डा. कस्तूरचन्दजी कासलीवाल ने अपने सारगर्भित विचार प्रकट किये। दिनांक ३ अप्रेल को प्रातः प्रभातफेरी एवं रात्रि को श्रीमती नगेन्द्र बाला की अध्यक्षता में महिला सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें विभिन्न विदुषियों ने भगवान महावीर के जीवन एवं सिद्धान्तों पर विचार प्रकट किये। ४ अप्रेल १९७४ को प्रातः ६॥ बजे महावीर पार्क से एक विशाल जुलूस महावीर पार्क से प्रारम्भ होकर नगर के प्रमुख बाजारों में होता हुआ रामलीला मैदान में पहुँच कर एक सभा में परिवर्त्तित हो गया। आदर्श जैन मिशन, जैन संगीत मण्डल एवं मुलतान जैन मंडल के कार्यक्रम जुलूस के विशेष आकर्षण रहे। नवभारत टाइम्स के प्रधान सम्पादक श्री अक्षयकुमारजी जैन के करकमलों द्वारा झंडारोहण हुआ तथा माननीय शिक्षा मंत्री श्री खेतसिंहजी ने उद्घाटन भाषण देते हुए भगवान महावीर के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के प्रचार व प्रसार की आवश्यकता पर प्रकाश डाला। इस अवसर पर मुनि श्री कान्तिसागरजी एवं क्षुल्लक श्री सन्मतिसागरजी महाराज के प्रवचन हुए एवं अन्य विद्वानों के भाषण हुये। गत वर्षों की भांति इस वर्ष भी प्रकाशित महावीर जयन्ती स्मारिका की एक प्रति प्रधान सम्पादक श्री भंवरलालजी पोल्याका द्वारा अध्यक्ष एवं मुख्य अतिथि को भेंट की गई। उसी दिन रात्रि को श्री मेघराजजी मुकुल की अध्यक्षता में एक विशाल सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया गया।

दश लक्षण पर्व समारोह

भौतिकता के द्वन्द-फन्द से व्याप्त एवं आकुलित मानव को आध्यात्मिकता का रसास्वादन करा कर शान्ति का आभास कराने की दृष्टि से प्रतिवर्ष की भांति इस वर्ष भी भाद्रपद शुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक आध्यात्म एवं अधिकारिक प्रवक्ताओं के प्रवचन, भाषण एवं कविता पाठ

एवं भजनों के कार्यक्रम प्रतिदिन सम्पन्न हुये। डा. हुकमचन्द शास्त्री ने प्रतिदिन दश धर्मों पर सारगर्भित प्रवचनों द्वारा, जनमानस को आध्यात्मिकता का ज्ञान कराया।

क्षमापन पर्व समारोह

सदा की भाँति दशलक्षण पर्व समारोह की समाप्ति पर आसोज बुदी २ दिनांक ४ अक्टूबर १९७४ को प्रातःकाल की बेला में आपसी मतभेदों को भुलाने एवं विश्व प्रेम की भावना को जागृत करने की दिशा में सामूहिक क्षमापन पर्व समारोह रामलीला मैदान में मनाया जिसमें डा. हुकमचन्दजी भारिल्ल, पं. प्रकाशचन्दजी हितैषी एवं मिलापचन्दजी शास्त्री ने क्षमा के महत्व पर प्रकाश डाला। क्षुल्लक श्री सन्मतिसागरजी महाराज ने क्षमा को वीरता का प्रतीक बताया।

मास्टर मोतीलालजी संघी स्मृति दिवस

मूक समाजसेवी, आदर्श अध्यापक एवं सन्मति पुस्तकालय के संस्थापक स्व. मास्टर मोतीलालजी संघी का स्मृति दिवस दिनांक १७ जनवरी १९७५ को बड़े मन्दिर के प्रांगण में श्री देवराजजी मेहता, सचिव भगवान महावीर २५०० वाँ निर्वाण महोत्सव समिति, राजस्थान सरकार की अध्यक्षता में मनाया गया। श्री मेहता ने मास्टर सा. को दया और करुणा की साक्षात प्रतिमा बताते हुए श्रद्धांजलि अर्पित की। इसके पूर्व अनेक गणमान्य नागरिकों ने अपने संस्मरण सुनाते हुए श्रद्धांजलियाँ अर्पित की।

(ब) साहित्य प्रचार

सन् १९६२ से भगवान महावीर की पावन जयन्ती के अवसर पर 'महावीर जयन्ती स्मारिका' प्रकाशित करती आरही है जिसमें जैन, दर्शन, इतिहास, संस्कृति और साहित्य पर अधिकृत विद्वानों के गवेषणापूर्ण लेख एवं कवितायें रहती है।

समय-समय पर लघु पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य भी सभा ने किया जिसमें १०८ मुनिश्री विद्यानन्दजी एवं डा. हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित पुस्तकों का प्रकाशन विशेष उल्लेखनीय है।

(ख) सामाजिक प्रवृत्तियां

सभा ने केवल समारोहों एवं साहित्य-प्रचार तक ही अपने दायित्व को सीमित नहीं रखा अपितु जब भी सामाजिक क्षेत्र में कोई समस्या उपस्थित हुई आगे बढ़कर उसका समाधान करने का कष्ट किया। इस परिपेक्ष्य में राजस्थान विधान सभा में प्रस्तुत नग्नता विरोधी बिल को वापिस कराने, राजस्थान ट्रस्ट एक्ट में आवश्यक संशोधन कराने, महावीर जयन्ती, अनन्त चतुदर्शी एवं संवत्सरी का राज्य/केन्द्रीय सरकार से आवश्यक अवकाश स्वीकृत कराने, सांगानेर में जमीन से प्राप्त जैन मूर्तियों को समाज के ही सुपुर्द कराने तथा आयकर से हुए संशोधन से समाज को जानकारी कराने आदि कार्य उल्लेखनीय हैं।

समाज में व्याप्त रूढ़ियों और कुरीतियों को शांतिमय संघर्ष द्वारा बाहर निकाल फकना इसका लक्ष्य रहा है।

समाज के सभी वर्गों विशेषकर नवयुवकों ने सभा की गतिविधियों के महत्व को समझा और प्रेरित होकर सदस्यता ग्रहण की जिसके फलस्वरूप गत वर्ष में सदस्यता ६०० से बढ़कर लगभग २५०० तक पहुँच गयी। सभा की सदस्यता शुल्क केवल १) वार्षिक है। सभा का कार्य सचालन एक कायकारिणी समिति करती है जिसके २१ सदस्य हैं जिनमें ७ सदस्यों का चुनाव क्रमानुसार प्रातवष कराया जाता है।

स्मारिका विज्ञापनों की प्राप्त राशि से स्मारिका व्यय के शेष सभा के आयाजना एव गतिविधियों पर खर्च किया जाता है। सभा की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ नहीं है इस कारण सभा अभी समस्त लक्ष्यों को पूर्ण करने में असमर्थ रही है।

समाज द्वारा तन-मन-धन से सभा के आयोजनों एवं गतिविधियों में सहयोग की आशा से ही सभा का भविष्य का निर्माण निर्भर है।

मंत्री

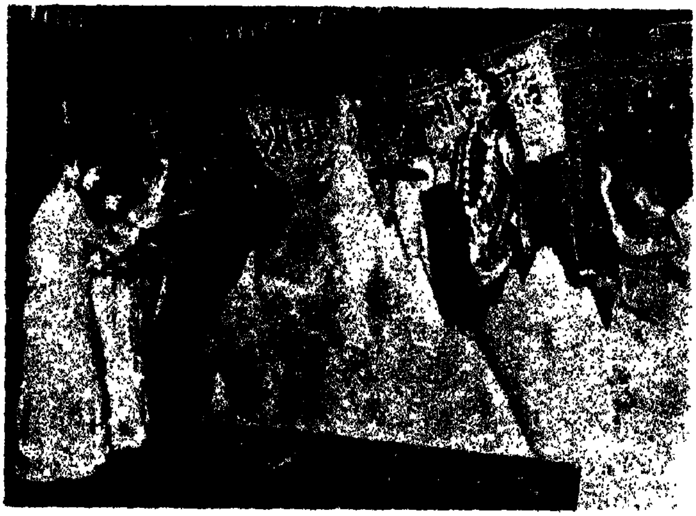
राजस्थान जैन सभा, जयपुर.

महावीर जयन्ती

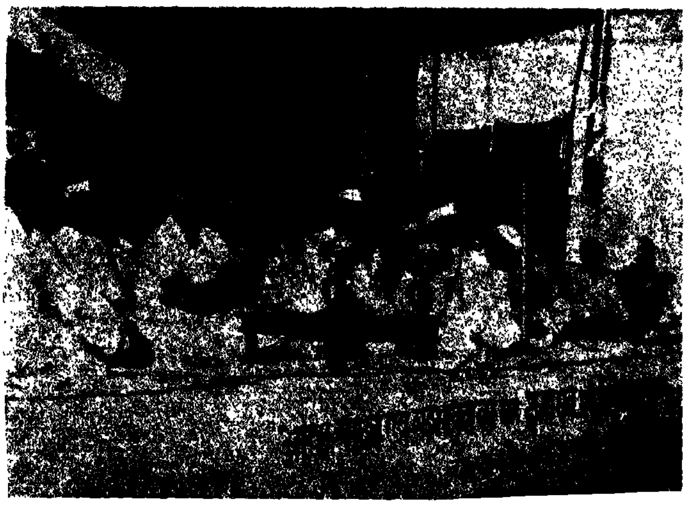
१९७४



प्रमुख अतिथि श्री अक्षयकुमार जैन के साथ राजस्थान जैन सभा की कार्यकारिणी के सदस्य एवं अन्य प्रमुख सामाजिक कार्यकर्ता ।



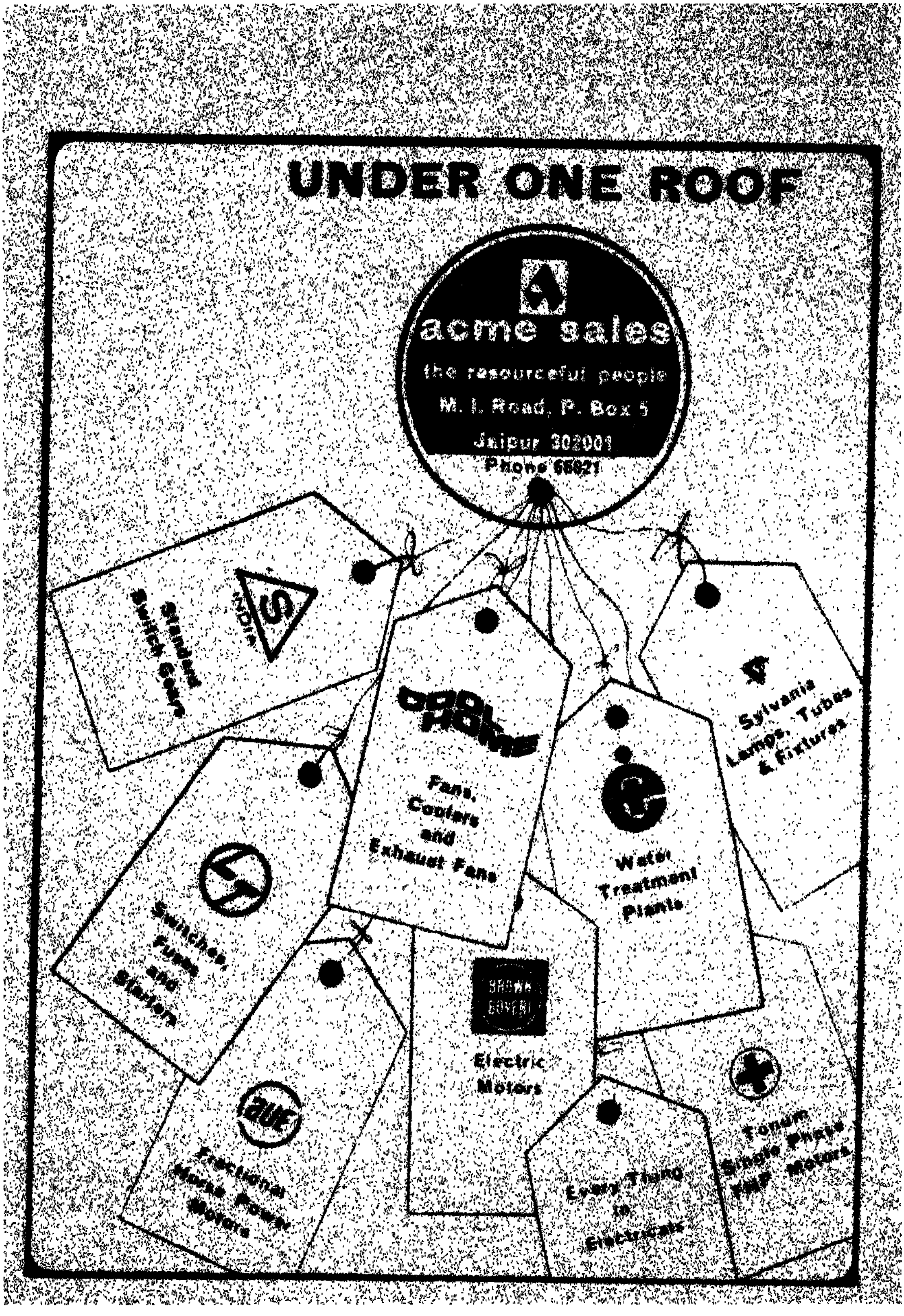
सांस्कृतिक समारोह में श्री म० दि० जैन हा० सै० स्कूल जयपुर द्वारा प्रस्तुत महावीर जन्म कल्याणक का एक मनोहारी दृश्य ।



क्षमापन पर्व १९७४ मञ्च का एक दृश्य ।

भगवान महावीर

प्रथम खण्ड


UNDER ONE ROOF
acme sales
the resourceful people
M. I. Road, P. Box 5
Jaipur 302001
Phone 65821
Standard Switch Gears
Fans, Coolers and Exhaust Fans
Sylvania Lamps, Tubes & Fixtures
Water Treatment Plants
Switches, Fuses and Starters
Electric Motors
Fractional Horse Power Motors
Every Thing in Electricals
Single Phase FHP Motors

मंगलाचरणम्

वीर वन्दना

मालिनीच्छन्दः

१

उदधिरिव गभीरः पापधूलीसमीरः
सकलमनुजहीरः कर्मशत्रुप्रवीरः ।
विपदि परमधीरः प्राप्तजन्माब्धितीरो
जयति जगति वीरस्तीर्णदुःखौघनीरः ॥

२

निखिलगुणनिधानं सर्वलोकप्रधानं
विहतविधिविधानं संगतं सन्निधानम् ।
विहितहितवितानं व्याप्तसत्कीर्तिगानं
जगति सुगुणधानं वीरमीडेऽमहानम् ॥

३

दुरिततरुकुठारः पुण्यपुञ्जप्रहारः
शिवनगरविहारः शुद्धतत्त्वैकसारः ।
अधिगतगुणसारः कीर्णसत्कीर्तिभारो
जयति जगति सारो वीरनाथोऽस्तमारः ॥

विनिहतभवजालः प्राप्तसत्कीर्तिमालः
शशिसमशुचिभालः कर्मवृन्दैककालः ।
हतमनसिजचालः साधुसंदोहपालो
जयति विजितकालो वीरनाथो नृपालः ॥

५

निखिलगुणसुपूरः कर्मपाशैकदूरो
भवतिमिरसुसूरः पापसैन्यैकशूरः ।
जयतिजनसुनन्द्यः साधुसङ्घैकवन्द्य-
श्चरमजिनवरेन्द्रः पादनम्रामरेन्द्रः ॥

□ डा० पन्नालाल जैन
साहित्याचार्य, पी-एच. डी.
सागर.

वैदिक साहित्य में नाद (शब्द) को ब्रह्मरूप माना है। यह ब्रह्मस्वरूप है और आहत और अनाहत के भेद से दो प्रकार का है। अनाहत नाद को केवल योगी ही अपनी साधना द्वारा सुन सकते हैं। किन्हीं भी दो वस्तुओं की टक्कर से उत्पन्न होने वाले आहत नाद के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक ऐसे दो भेद हैं। दो पत्थरों के टकराव से उत्पन्न होने वाली ध्वनि जैसी आवाजें उसमें अनक्षरात्मक नाद का ही एक प्रकार है। जीव सार्थक प्रयोजनभूत शब्द अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक के भेद से दो प्रकार के होते हैं। भगवान् महावीर एवं तीर्थङ्करों की दिव्यध्वनि भी स्वाभाविक, अनिच्छक मेघ गर्जन के समान अनक्षरात्मक होती है जो श्रोताओं के कानों तक पहुँचते-पहुँचते वे जिस प्रकार की भाषा को समझते हैं उसही रूप परिणमित हो जाती है। उसही दिव्यवाणी के कुछ अंश यहां पाठकों तक पहुँचा रहे हैं विद्वान् लेखक रेडियो नाटिका के माध्यम से। —प्र० सम्पादक

भगवान् महावीर के जीवन और उपदेशों पर आधारित रेडियो रूपक :

दिव्य ध्वनि

□ डा० गोकुलचन्द्र जैन
हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी.

उद्घोष का स्वर : सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

(रुक रुक कर दो बार पुनरावृत्ति)

पुरुष स्वर : (उद्घोष के स्वर में)—वैशाली के नागरिक सुनें। राजगृह की प्रजा सुनें। मागध जन सुनें। नर-नारी सुनें। आबाल वृद्ध सुनें। देव-दानव सुनें। पशु-पक्षी सुनें। विपुलाचल के उत्तुंग शिखर सुनें। गिरि गह्वर सुनें। सरिताएं सुनें। सम्पूर्ण चराचर जगत सुनें। तीर्थंकर वर्धमान महावीर की दिव्यध्वनि सारे संसार के कल्याण के लिए बिखर रही है।

स्त्री स्वर: (उद्घोष के स्वर में) - वैशाली गणतन्त्र के अध्यक्ष सम्राट चेटक के दौहित्र, कुण्डग्राम के अधिपति महाराज सिद्धार्थ के पुत्र, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, तीर्थंकर वर्धमान महावीर की विशाल समवशरण सभा से अमृत की मन्दाकिनी प्रवाहित हो रही है।

(अल्पकालिक विराम)

पुरुष स्वर : कैसा उद्घोष है यह, जो आज पच्चीस सौ वर्ष बाद भी आकाश में गूंज रहा है।

स्त्री स्वर ; वर्धमान महावीर के पावन उपदेश आज भी कानों में अमृत घोल रहे हैं।

वाचक : (पुरुष स्वर)—आज चैत्र शुक्ल त्रयोदशी है। सारे भारतवर्ष में हर्ष और उल्लास के साथ भगवान् महावीर की जयन्ती मनायी जा रही है।

महावीर जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर थे। आज से 2573 वर्ष पूर्व बिहार के कुण्डग्राम में महावीर का जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम प्रियकारिणी त्रिशला था। सिद्धार्थ वैशाली गणतन्त्र के एक प्रसिद्ध राजनेता थे।

वाचक (स्त्री स्वर) : वैशाली उस समय का एक अत्यन्त समृद्ध, सुव्यवस्थित और प्रतिष्ठित गणतन्त्र था। महाराज चेटक उस गणतन्त्र के प्रभावकारी अध्यक्ष थे। सम्पूर्ण भारतवर्ष में वैशाली और महाराज चेटक की साख थी। महावीर की माता चेटक की पुत्री थी। महावीर इस देवोपम वैभवपूर्ण वातावरण में जन्मे। महावीर के जन्म से वैशाली धन्य हो गयी। सारा गणतन्त्र जन्मोत्सव की खुशी में झूम उठा।

(पृष्ठभूमि में जन्मोत्सव का संगीत)

वाचक (पुरुष स्वर) : महावीर जन्म से ही उदीयमान, मेधावी और तेजस्वी थे, इसलिए उनके वर्धमान और सन्मति नाम पड़े। बाल्यकाल से ही कुछ ऐसी शौर्यपूर्ण घटनाएं घटीं, जिनके कारण वे वीर, अतिवीर और महावीर कहलाए। सारे वैशाली गणतन्त्र में उनकी चर्चा फैल गयी।

वाचक (स्त्री स्वर) : महावीर स्वभाव से चिन्तनशील थे। उस युग के परिवेश और परिस्थितियों ने उन्हें और अधिक चिन्तनशील बनाया। जीवन और जगत के प्रश्न बार-बार उनके मन में आकर टकराते। सामाजिक विषमता, वर्गभेद, धर्म के नाम पर हिंसा, पाखण्ड और अपव्यय तथा जीवन के लिए कठोर संघर्ष देख कर उनका मन तिलमिला उठता। वे विचारों में खो जाते। वर्षों तक वे इन प्रश्नों पर घर में ही सोचते रहे। अन्ततः तीस वर्ष की भरी जवानी में एकान्त चिन्तन के लिए घर से निकल पड़े। बिजली की लहर की तरह यह समाचार ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में फैल गया। वैशाली का राजकुमार वैभव को लात मार कर निर्ग्रन्थ योगी बन गया।

वाचक (पुरुष स्वर) : वर्धमान कुमार तीर्थंकर पार्श्व के साधुकुल में दीक्षित हो गए। कुम्भका ग्राम के निकट ऋजुकूला नदी के किनारे उन्होंने कठोर साधना आरम्भ कर दी। साढ़े बारह वर्ष तक वे एकान्त चिन्तन और कठोर जीवन जीने के तरह-तरह के प्रयोग करते रहे। एक गांव से दूसरे गांव, एक स्थान से दूसरे स्थान वे पैदल जाते। शून्य और निर्जन स्थानों में ठहरते।

वाचक (स्त्री स्वर) : ग्रीष्म की तपती दोपहिरियों में खुले आकाश में सूर्य के नीचे उत्तप्त पाषाण-शिला पर ध्यान में बैठ जाते। मूसलाधार वर्षा, भयंकर तूफान और बादलों की गड़गड़ाहट का आतंक व्यक्ति को घर से बाहर नहीं निकलने देता। ऐसे में महावीर किसी वृक्ष के नीचे अडिग खड़े होते। चारों ओर हरे-हरे घास उग आते। ताल तलैया भर जातीं। मक्खी-मच्छरों की भरमार हो जाती, ऐसे में महावीर अपनी अनावृत्त काया में संयम की साधना करते होते।

शीत ऋतु में बर्फीली हवाएं चलतीं, पक्षी तक डर कर अपने घोंसलों में छिप जाते, ऐसे में निर्वसन महावीर किसी नदी के किनारे, ताल के तट पर या पर्वत की उपत्यका में अपनी साधना में तल्लीन होते।

वाचक (पुरुष स्वर) : लगातार कई-कई दिनों तक महावीर बिना खाए, बिना पिये, रह जाते पर भोजन की याचना न करते। अनजान लोग उन्हें तरह-तरह की यातनाएं देते, अपमान करते, महावीर सब सह लेते। न बोलते, न प्रतिकार करते।

महावीर ने साधना के अनेक प्रयोग किए। उनकी साधना उग्र से उग्रतर, कठोर से कठोरतम होती गयी। और जैसे बार-बार अग्नि में तपाने से सोने का रूप निखरता चले,

महावीर के ज्ञान का आवरण हटता गया। उन्हें उन तमाम समस्याओं के समाधान स्फटिक में झलकते से दिखाई देने लगे जो उन्हें जीवन भर मथती रही थीं। महावीर केवलज्ञानी हो गए। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गए। अब वे अपने चिन्तन का अमृत जन-कल्याण के लिए उड़ेल देना चाहते थे। उन्होंने जन भाषा में जन सामान्य के लिए उपदेश देना आरम्भ किया।

वाचक (स्त्री स्वर) : महावीर के केवलज्ञान प्राप्त करने और उपदेश देने की बात महाराज चेटक, श्रेणिक बिम्बसार तथा अन्य राज परिवारों तक पहुंची तो राजन्य परिवार महावीर के दर्शनों और उनके उपदेशों को सुनने के लिए उनके पास पहुंचने आरम्भ हो गए।

जनसामान्य को जब यह ज्ञात हुआ कि महावीर के उपदेश किसी वर्ग विशेष के लिए नहीं होते तो अपार जन समूह उनके उपदेश सुनने उमड़ पड़ा।

महावीर के उपदेशों के लिए विराट सभाओं का आयोजन होने लगा। प्रत्येक व्यक्ति इन सभाओं में बिना किसी भेदभाव के बेरोकटोक आ सकता था। इसी कारण इस सभा को समवशरण सभा कहा गया।

वाचक (पुरुष स्वर) : राजगृह के विपुलाचल पर महावीर की प्रथम विशाल समवशरण सभा आयोजित हुई। मगध सम्राट श्रेणिक बिम्बसार उस सभा के प्रधान श्रोता थे और उस युग के बहुश्रुत विद्वान् इन्द्रभूति गौतम तीर्थंकर महावीर की दिव्यवाणी के प्रथम व्याख्याता। लाखों लाख आंखें महावीर की ओर लगी हुई थीं और चारों ओर से जयजयकार का शंखनाद हो रहा था :—

सामूहिक स्वर : तीर्थंकर महावीर की जय !
ज्ञातृपुत्र महावीर की जय !!
दीर्घतपस्वी महावीर की जय !!!

वाचक (पुरुष स्वर) : गौतम ने शान्ति की घोषणा की और आकाश में मंगलध्वनि व्याप्त होने लगी :

मंगल ध्वनि : चत्तारि सरणं पव्वज्जामि
अरहंते शरणं पव्वज्जामि
सिद्धे सरणं पव्वज्जामि
साहू सरणं पव्वज्जामि
केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि
(अल्पकालिक अन्तराल)

वाचक (पुरुष स्वर) : तभी जैसे अनहदनाद गूंज उठा—

दिव्य-ध्वनि : सव्वे जीवा वि इच्छंति
जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं
निग्गंथा वज्जयंति णं।
जह मम ण पियं दुक्खं
जाणइ एवेम सव्वजीवाणं।

वाचक (स्त्री स्वर) : गौतम ने महावीर की दिव्यध्वनि की व्याख्या दी :

व्याख्या : आयुष्मन् श्रेणिक और कल्याणेच्छु भव्य जीवो ! तीर्थंकर महावीर ने अभी अपनी दिव्यध्वनि में हिंसा और अहिंसा का प्रतिपादन किया।

जीवन और जिजीविषा का प्रश्न चिरंतन है। सभी प्राणी जीना चाहते हैं। मरना कोई नहीं चाहता। इसलिए निर्ग्रन्थ प्राणिवध का निषेध करते हैं। जिस प्रकार हमें दुःख प्रिय नहीं है, उसी प्रकार किसी को दुःख अच्छे नहीं लगते।

वाचक : मन्त्र मुग्ध हो कर सभी महावीर की दिव्यध्वनि का पान कर रहे थे :

दिव्य ध्वनि : सव्वे पाणा, सव्वे भूया,
सव्वे जीवा सव्वे सत्ता,
न हन्तव्वा, न अज्जावियव्वा,
न परिघेतव्वा,
न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा ।

व्याख्या : कोई भी किसी का प्राण न लें, किसी को पीड़ा न दें। किसी को परिताप न दें। किसी को उद्वेजित न करें।

दिव्य ध्वनि : एयं खु नाणिणो सार जं न हिंसति किंचण ।
अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया ।।

व्याख्या : ज्ञानी होने का सार यही है कि किसी की हिंसा न करें। यही अहिंसा का रहस्य है, यही अहिंसा का विज्ञान है।

पुरुष स्वर (श्रेणिक) : प्रभो ! हमने अहिंसा का सन्देश सुना। जीवन के समग्र विकास के लिए हमें और पथदर्शन करें।

दिव्य ध्वनि : अहिंस सच्चं च अतेणगं च
तत्तो य बम्भं अपरिग्गहं च ।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि
चरिज्ज धम्मं जिण देसियं विदू ।।

पुरुष स्वर (व्याख्या) : आयुष्मन् श्रेणिक ! तीर्थंकर महावीर का मन्तव्य है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये ही पांच महाव्रत हैं। इनको धारण कर जिनोपदिष्ट धर्म का आचरण करें।

दिव्य ध्वनि : पाणे य नाइवाएज्जा अदिन्नं पि य नाइए।
साइयं न मुसं बूया एस धम्मे वुसीमओ ।

व्याख्या : प्राणी का घात न कर, बिना दिए किसी की वस्तु न ले, छलयुक्त और असत्य न बोल, यही धर्म है।

दिव्यध्वनि : मुसावाओ य लोगम्मि सव्वसाहूहिं गरिहिओ ।
अविस्सासो य भूयाणं तम्हा मोसं विवज्जए ।

व्याख्या : असत्य की सभी सज्जन पुरुष निन्दा करते हैं। झूठ बोलने से अविश्वास पैदा होता है। इसलिए असत्य का त्याग करना चाहिए।

वाचक : तीर्थंकर महावीर की दिव्यध्वनि अनन्त आकाश में सहस्रगुणित हो कर फैल गयी। उनके कल्याणकारी उपदेश मलय की सुरभि की तरह चारों ओर सुगन्धि बिखरने लगे। स्थान-स्थान पर समवसरण सभाओं का आयोजन होने लगा। काशी, कोशल कलिंग, कुरुजांगल, कम्बोज, बाल्हीक, सिन्धु, गान्धार आदि जनपदों में महावीर की समवसरण सभाएं हुईं।

इस बार श्रेणिक ने तीर्थंकर महावीर के समक्ष एक नयी बात प्रस्तुत की।

पुरुषस्वर (श्रेणिक) : भगवन् ! जीवन की आचार संहिता तो हमने सुनी। राजतन्त्र और समाज व्यवस्था के विषय में हमारा पथप्रदर्शन करें।

दिव्य ध्वनि : कम्मुणा बंभणो होइ कम्मुणा होई खत्तियो ।
वइस्सो कम्मुणा होई सुद्दो होई उ कम्मुणा ।

व्याख्या : आयुष्मन् श्रेणिक ! जन्म से कोई छोटा-बड़ा, ऊंच-नीच नहीं होता। व्यक्ति अपने कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से शूद्र होता है। मनुष्य मात्र एक है। इसमें पशुओं की तरह जाति भेद नहीं है।

दिव्य ध्वनि : असंविभागी नहि तस्स मुक्को ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो ।
जहा दुम्मस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रसं ।
न य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं ।

व्याख्या : जो व्यक्ति संविभाग नहीं करता, सब स्वयं ही बटोर लेना चाहता है उसका कल्याण नहीं हो सकता।

संग्रह के प्रति तीव्र आसक्ति ही परिग्रह है। जैसे भ्रमर पुष्प को पीड़ा दिए बिना उसका

रस ग्रहण कर लेता है और अपने को तृप्त पाता है, उसी तरह दूसरों को पीड़ा दिए बिना अपना रस ग्रहण करना चाहिए।

दिव्यध्वनि : पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसि।
पुरिसा अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ एवं दुक्खा पमुच्चसि।

व्याख्या : श्रेणिक ! व्यक्ति अपना मीत स्वयं है। बाहर क्या मित्र खोजता है। अपने को जान, उसी को वश कर तो दुखों से छूट जायगा। दूसरों को वश में करके भी सुख नहीं मिल सकता।

दिव्य ध्वनि : अप्पा कत्ता विकत्ता य दुक्खाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठि सुपट्ठिओ॥

व्याख्या : अपने दुख और सुख का कर्त्ता व्यक्ति स्वयं ही है। अपना मित्र भी आप ही है और अपना शत्रु भी आप ही स्वयं है।

वाचक : हम समझते हैं कि दूसरों का दमन करके उन्हें अपने वश में कर लेंगे और चैन की नींद लेंगे। महावीर ने कहा—

दिव्य ध्वनि : अप्पा चेव दम्मेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ अस्सिं लोए परत्थय॥

व्याख्या : अपना दमन करो। अपना दमन बड़ा मुश्किल है। अपना दमन कर लिया तो लोक और परलोक दोनों सध गए।

दिव्य ध्वनि : अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पाणमेव अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए।

व्याख्या : युद्ध ही करना है तो अपने आप से कर। बाहर युद्ध करने से क्या लाभ ?
अपने आप को जीत लिया तो सुखी हो जाएगा।

दिव्य ध्वनि : जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ।

व्याख्या : संग्राम में हजारों हजार योद्धाओं को जीता तो क्या जीता। एक अपने को जीत, तो सब जीत लिया। यही सर्वश्रेष्ठ विजय है।

वाचक : तीर्थंकर महावीर जीवन की जटिल समस्याओं के समाधान बहुत ही सीधे सादे शब्दों में प्रस्तुत करते। साधारण व्यक्ति की जिज्ञासा का समाधान उसी की भाषा में उसी के ढंग से करते। दर्शक दीर्घा से जिज्ञासाएं उभरीं और आकाश में गूंज गयीं।
कहं चरे कहं चिट्ठे कह मासे कहं सये।
कहं भुञ्जन्तो भासन्तो पाव कम्मं न बंधइ॥
भगवन्, कैसे चलें, कैसे रुकें, कैसे बैठें, कैसे सोएं, कैसे खाएं, कैसे बोलें कि पाप न बंधे।

वाचक : महावीर ने जिज्ञासु की ही भाषा में समाधान किया—

दिव्यध्वनि : जयं चरे जयं चिट्ठे जय मासे जयं सये।
जयं भुञ्जन्तो भासंतो पाव कम्मं न बन्धइ।

व्याख्या : आयुष्मन्, तीर्थंकर महावीर का संदेश है कि विवेक से चलो, विवेक से रुको, विवेक से बैठो, विवेक से सोओ, विवेक से खाओ, विवेक से बोलो तो पाप नहीं बंधेगा।

वाचक (पुरुष स्वर) : तीर्थंकर महावीर की दिव्य-ध्वनि का प्रभाव दूर-दूर तक फैलता गया। सभी यह समझते कि महावीर उन्हीं की बात कह रहे हैं। सभी को अपनी समस्याओं के समाधान महावीर की दिव्य ध्वनि में दिखाई पड़ते।

वाचक (स्त्री स्वर) : महावीर ने अपने चतुर्विध संघ में नारी को पुरुष के समान ही प्रतिष्ठा दी। यह उस युग के लिए एक विशेष बात थी।

वाचक (पुरुष स्वर) : सामाजिक वर्ग भेद और

आर्थिक विषमता को मिटाने के लिए महावीर ने जो सूत्र दिए, उनसे जन जीवन में नयी चेतना आयी। दलित और शोषित वर्ग ने राहत की सांस ली।

वाचक (पुरुष स्वर) : महावीर ने धार्मिक आचार-संहिता की जो व्याख्या दी, उससे व्यक्ति की प्रतिष्ठा बढ़ी। अनेकान्त का चिन्तन दे कर महावीर ने दार्शनिक चिन्तन को एक नयी आधारभूमि दी। महावीर की दिव्यध्वनि अनुगूंज बन कर चारों ओर फैल गयी।

आवइया वयणपहा तावइया होंति णयवाया।

अवरोप्पर सावेक्खं णयविसयं तह पमाण-विसयं च।

त सावेक्खं तत्तं निव्वेक्खं ताण विवरीयं।

व्याख्या : एक बात को कई तरह से कहा जा सकता है और जितने तरह से बात कही जाए, उतने ही नयवाद हो सकते हैं। पर वे सब सापेक्ष सत्य हैं। सापेक्ष कथन ही तत्व है। वही सत्य है। निरपेक्ष कथन सत्य नहीं होता।

मैं जो कहता हूं, मात्र वही सत्य है, इस प्रकार का आग्रह ही मतभेदों का जनक है। मैं जो कहता हूं, वह भी सत्य है, ऐसा कहना मतभेदों में सामंजस्य लाता है। यही सापेक्षता है। यही अनेकान्त है।

वाचक : जीवन की सार्थकता और महत्ता को बताते हुए महावीर ने कहा कि एक क्षण भी व्यर्थ न गमा—

जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तई।

अहम्मं कुणमाणस्स अफला जन्ति राइओ।।

जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तई।

धम्मं च कुणमाणस्स सफला जंति राइओ।।

व्याख्या : जो रात बीत गयी, सो बीत गयी, वह फिर वापस नहीं आती।

जो अधर्म रत हैं, उनकी रातें निष्फल जाती हैं।

जो धर्म में लगे हैं, उनकी रातें सफल हो जाती हैं।

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए, थोवं चिट्ठइ लंब-माणए।

एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम मा पमा-यए।

व्याख्या : ओस की बूंद कुशाग्र पर जैसे क्षण भर टिकती है, वैसे ही यह जीवन अस्थिर है। इसलिए क्षण भर भी प्रमाद न कर।

जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ।

जाविन्दिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे।।

व्याख्या : जब तक बुढापा नहीं सताता, जब तक व्याधियां नहीं बढ़तीं, जब तक इन्द्रियां अशक्त नहीं होतीं, तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए। बाद में कुछ नहीं होने का।

जहा पोम्मं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा।

एवं अलित्तं कामेहिं तं वयं बूम माहणं।।

व्याख्या : जैसे कमल जल में उत्पन्न होकर भी उससे लिप्त नहीं होता, वैसे ही जो संसार में रह कर भी भोगों में आसक्त नहीं होता वही ब्रह्म-विद् है, वही सच्चा ज्ञानी है।

वाचक : तीस वर्ष की दीर्घ अवधि में तीर्थंकर महावीर की अनेक धर्म सभाओं के आयोजन हुए। उनके कल्याणकारी उपदेशों के प्रभाव से जन-जीवन में एक नयी चेतना का संचार हुआ, आर्थिक विषमता कम हुई, शासन तन्त्र सरल हो गए, दार्शनिक चिन्तन में ऋजुता आयी।

वाचक : बहत्तर वर्ष की आयु में तीर्थंकर महावीर पावानगर में निर्वाण को प्राप्त हुए। वे संसार से मुक्त हो गए, पर उनकी दिव्य-ध्वनि की अनुगूंज आज पच्चीस सौ वर्ष बाद भी वायुमण्डल में व्याप्त हो रही है।

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जउं।

तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं।।

विश्वकल्याण की भावना के उद्घोषक : भगवान महावीर

जैन तीर्थंकरों की वर्तमान कालचक्र की चौबीसी में भगवान् महावीर अन्तिम थे जिनके द्वारा उपदिष्ट धर्मशासन में हम लोग अपना जीवन-यापन कर रहे हैं। यद्यपि विश्व में अगणित धर्माचार्य समय समय पर अवतरित होकर लोगों को अपने ढंग से कल्याण-मार्ग का उपदेश देते रहे हैं किन्तु उनके उपदेश विशेषरूप से मानव तक ही सीमित और अधिकांश में वे तात्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित रहे हैं। भगवान् महावीर ने अपना धर्म-मार्ग प्राणी-मात्र के कल्याण को लक्ष्य में रख दिया था इस ही लिए वह केवल मानवोदयी न होकर सर्वोदयी था जिसका मूलाधार अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांत थे। उन्हीं भगवान् महावीर की संक्षिप्त जीवन गाथा और अमृतमय उपदेश यहां इन पंक्तियों में प्रस्तुत हैं उदीयमान नवयुवक लेखक श्री रांवका द्वारा।

—प्र० सम्पादक

□ श्री प्रेमचन्द रांवका
एम० ए०, शिक्षा शास्त्री, जयपुर

अहिंसा मूलक आचार, अनेकान्त मूलक विचार, स्याद्वाद मूलक उच्चार और अपरिग्रह मूलक समाज रचना इन्हीं चार मणिस्तम्भों पर जैनधर्म का विशाल सर्वोदयी प्रासाद अवस्थित है। युग-युग से तीर्थंकरों ने इसी प्रासाद का जीर्णोद्धार कर इसके स्वरूप को स्थिर किया है। इसी परम्परा में अन्तिम तीर्थंकर भ. महावीर प्राणिमात्र के लिए स्वाधीन मुक्ति पद प्रवर्शक के रूप में अवतीर्ण हुये।

भगवान महावीर वैशाली के राजा चेटक की पुत्री त्रिशला (प्रियकारिणी) और ज्ञातृक लोगों के प्रमुख राजा सिद्धार्थ के पुत्र थे। वैशाली के गणतन्त्र नायक राजा चेटक महावीर के नाना थे। राजा श्रेणिक (बिम्बसार) और रानी चेलना महावीर के मौसा-मौसी थे। ईसा से लगभग 598 वर्ष पूर्व वैशाली के कुण्डनगर में शुभ चैत्र मास की त्रयोदशी के दिन त्रिशला महादेवी ने अपनी दक्षिणी कोख से इस अलौकिक पुत्र को जन्म दिया। जन्म से कुछ दिनों पूर्व माता त्रिशला को रात्रि के पिछले प्रहर में 16 स्वप्न दिखायी दिये जो भावी पुत्र के चक्रवर्ती तीर्थंकर आदि अनुपम गुणों के साक्षी थे। वह पुत्र अपने उज्ज्वल शरीर की कांति से अन्धकार को विनष्ट करने वाला महा देदीप्यमान जगत हितैषी मति श्रुति और अवधि तीनों ज्ञानों का धारी धर्म तीर्थ का प्रवर्तक अन्तिम तीर्थंकर हुआ। द्वितीया के चन्द्रमा की भांति, वह अलौकिक पुत्र दिन प्रतिदिन विकसित होने लगा। वह अपने दाहिने पांव में सिंह चिन्ह का धारी था।

युवा होने पर कलिंग नरेश राजा जितशत्रु की सुन्दरी युवती कन्या यशोदा के साथ "भगवान महावीर" के विवाह की चर्चा चली। माता-पिता ने विवाह के लिए पुत्र को बहुत समझाया, पर वह कब स्वीकार करने वाले थे। संसार की असारता जानकर महावीर ने सुख वैभव पूर्ण 29 वर्ष की युवावस्था में ही राज-पाट का परि-

त्याग कर साधना के कठिन मार्ग को अपनाया। जिस परिग्रह को मनुष्य अपनी अन्तिम श्वांस तक भी छोड़ते हुये हिचकिचाते हैं, उसी परिग्रह को राजकुमार महावीर ने नश्वर और अनित्य जान कर उसी समय त्याग दिया और दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली। अपने 12 वर्ष की निरन्तर साधना तप त्याग और ज्ञानाभ्यास द्वारा उन्होंने अपने पूर्वसंचित कर्मों का क्षय किया। 12 वर्ष की कठिन मौन साधना और आत्मचिन्तन के पश्चात् उन्हें अनन्त चतुष्टय–अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य की प्राप्ति हुई। फिर अपना अवशिष्ट जीवन उन्होंने प्राणि मात्र को सम्बोधने में बिताया।

भगवान महावीर के पूर्व आर्यों के धार्मिक जीवन की अधोगति हो चुकी थी। ब्राह्मणों के वितण्डावाद तथा कर्मकाण्ड से आर्य जाति की धार्मिक सफलता नष्टप्राय हो गई थी। कालचक्र की गति से वर्ण-व्यवस्था और अधिक वर्णों में विभाजित हो गई और कालान्तर में भारत देश जातियों का अजायबघर बन गया जिससे राष्ट्रीय एकता छिन्न-भिन्न हुई और समाज में अनेक बुराइयां प्रवेश कर गई। जाति व्यवस्था से समाज में स्वार्थपरता, संकीर्णता तथा संकुचित मनोवृत्ति घर कर चुकी थी और समाज में हिंसा की भावना प्रबल हो चुकी थी। ऐसी परिस्थिति में भगवान महावीर ने जन्म लेकर तात्कालीन रूढ़िग्रस्त हानिकारक परम्पराओं का सुधार कर एक नूतन अहिंसामय जीवन का संचार किया। बढ़ते हुये पशुहवन यज्ञ का विरोध किया और 'जीवो और जीने दो' का प्रचार कर जन-जन में विश्व बन्धुत्व की भावना उत्प्रेरित की। अपने बहुमुखी कल्याणकारी उपदेशों के द्वारा सहस्रों मनुष्यों को सन्मार्ग पर लाकर अपना अनुयायी बनाया। अपना समूचा जीवन मानव मात्र के कल्याण में लगाकर भगवान महावीर किसी एक सम्प्रदाय के नहीं, अपितु सर्वदा सर्वत्र चिरस्मरणीय एवं वन्दनीय बन गये।

महावीर के समय में विद्वानों की भाषा संस्कृत थी। जन-साधारण की समझ से बाहर इस भाषा में जनता को समझाना कठिन था। अपने उपदेशों का लाभ सर्वजन सुलभ हो, इसके लिए भ. महावीर ने संस्कृत के स्थान पर तत्कालीन प्रचलित अर्द्ध-मागधी भाषा में ही प्राणिमात्र को प्रबुद्ध कर "अहिंसा" की जीवन के विविध आयामों में प्रतिष्ठा-पना की। अहिंसा के परिवेश में महावीर का अपना अलौकिक योगदान था।

इस प्रकार 30 वर्ष तक लगातार धर्म प्रचार करने के बाद अन्तिम समय महावीर पटना प्रान्त के पावापुरनगर में पहुंचे। वहां 527 ई. पूर्व कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि के अन्तिम प्रहर में उन्हें निर्वाण प्राप्त हुआ।

भगवान महावीर आजन्म कौमार, विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न एवं अद्वितीय ज्ञान, बल एवं तप के धारक थे। अपने इन्हीं अप्रतिम गुणों के कारण उनको वीर, अतिवीर, सन्मति तथा वर्द्धमान आदि नामों से भी अलंकृत किया गया। वे महात्मा बुद्ध के समकालीन थे। बुद्ध स्वयं भगवान महावीर को सर्वज्ञ व सर्वदर्शी मानते थे। उन्होंने अपने 'मज्झिम निकाय' में भगवान वीर को निगण्ठ— नाम से अभिहित किया। वेदों में भी महावीर का नामोल्लेख पाया जाता है।

महावीर के समय की राजनीति का मुख्य आधार धर्म था। पर धर्म की आड़ में स्वार्थियों ने अपने तुच्छ स्वार्थ की पूर्ति के लिए प्रजा का शोषण कर रखा था। स्त्री एवं शूद्रों को समान रूप से मानव अधिकार सुलभ नहीं थे। धर्म जैसी पवित्र वस्तु भी तत्कालीन प्रजा के लिए प्रताड़न का मुख्य अस्त्र बनी हुई थी। महावीर का मानस-पटल इस दुर्दशा से अहर्निश अधिक व्यथित हुआ। वे स्वान्तः

सुख व नहीं जिये। परोपकार में ही उनका अपना सुख था। अपने अमृतमय उपदेशों का पान कराकर तत्कालीन प्रजा को उन्होंने पुनः जागृत कर दिया। उनके उपदेश सार्वभौमिक व सर्वकालीन सत्य पर आश्रित थे। साम्प्रदायिक व्यामोह से महावीर ने अपने आपको कोसों दूर रखा और अहिंसामय पावन गंगा की अविरल धारा से जन-जन को पवित्र कर उनमें विश्व बन्धुत्व की भावना का सूत्र समान रूप से पिरोया। इस प्रकार महावीर किसी विशेष सम्प्रदाय के नहीं, अपितु प्राणि-मात्र के बन गये। भगवान महावीर के उपदेश उस पावन धारा के समान हैं, जिसमें स्नान करने से तन और मन दोनों पवित्र हो जाते हैं। भूतकाल से अब तक न जाने कितने ही भग्न हृदयोंका इससे उद्धार हुआ और कितने ही अभागों के भाग्य उदय हो गये और भविष्य में भी ये सर्वजन हिताय चिर स्थायी रहेंगे। उन उपदेशों का सार इस प्रकार है—

1. अपने मन, वचन और काय के व्यवहार से किसी भी प्राणी को पीड़ा न होने दो क्योंकि जीवन सभी को प्यारा है।

2. शुद्ध और सात्विक भोजन करो। खान-पान का हमारे आचार-विचार और शरीर स्वास्थ्य पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। तामसिक भोजन मन और इन्द्रियों में विकार पैदा करता है, शरीर को रोगी और आलसी बनाता है।

3. अपनी आवश्यकता से अधिक संचय मत करो और अधिक का सत्पात्रों में वितरण करो।

4. आदमी जन्म से नहीं कर्म से बड़ा बनता है। अतः जाति और कुल का अभिमान मत करो।

5. जगत के सब धर्मों को आदर और समन्वय भाव से देखो। जो कुछ आप कहते हो वह तो ठीक है ही किन्तु वह भी ठीक हो सकता है, जो दूसरे कहते हैं।

6. मैले दर्पण की भांति राग भाव से रंगे हृदय में वीतराग शांतदेव के दर्शन नहीं हो सकते।

7. व्रत, तप, संयम और शील का पालन तब तक निरर्थक है। जब तक इस जीव को अपने पवित्र शुद्ध स्वभाव का बोध नहीं होता।

8. हे जीव, तू चाहे जहां जा और चाहे जो कर। परन्तु जब तक तेरा चित्त शुद्ध नहीं होगा, तब तक किसी तरह भी तुझे मोक्ष नहीं मिल सकता।

9. क्रोध शांति का नाश करता है, और मान विनय का, मान मित्रता का और लोभ सभी सद्-गुणों का अतः शांति से क्रोध को जीतो, नम्रता से अभिमान को जीतो, सरलता से माया का नाश करो और सन्तोष से लोभ को काबू में लाओ।

10. सांसारिक वस्तुओं की भी सीमा होती है अतः सर्वभक्षी और सर्वग्राही मत बनो। इससे संसार में विषमता फैल कर क्षोभ उत्पन्न होगा। अतः त्याग पूर्वक परिमित वस्तुओं से अपना जीवन व्यतीत करो। जितना त्याग करोगे उतनी ही शांति प्राप्त होगी।

11. परिग्रह हानिकारक है जिस प्रकार नदी का पानी बिना वर्षा के थोड़ा होता हुआ भी स्वच्छ और निर्मल होता है एवं वर्षा होने पर वही पानी अधिकता के कारण गंदा हो जाता है. ठीक उसी प्रकार जब तक मानव परिग्रह रहित रहता है तब तक उसका मन स्वच्छ रहता है। परिग्रही होने पर उसकी आकांक्षाएं और अधिक बढ़ जाती हैं और वह दूसरों पर अधिकार पाना चाहता है। इससे मन वचन और काम तीनों गंदे हो जाते हैं।

भगवान महावीर की इन शिक्षाओं में त्रिकाला-बाधित सत्य विद्यमान है जिसे अस्वीकार करने का कोई दुराग्रह नहीं कर सकता। भगवान महावीर का सन्देश (उपदेश) कितना दिव्य, उज्ज्वल और पुनीत था इस सम्बन्ध में स्वर्गीय कवीन्द्र रवीन्द्र ने लिखा है "भगवान महावीर ने भारतवर्ष को ऊंचे स्वर से मोक्ष का सन्देश दिया। उन्होंने कहा कि धर्म केवल सामाजिक रूढ़ि नहीं, बल्कि वास्तविक सत्य है। मोक्ष केवल साम्प्रदायिक बाह्य क्रियाकाण्डों

से नहीं मिल सकता, प्रत्युत सत्य धर्म का आश्रय लेने से प्राप्त होता है। धर्म के अन्तर्गत मनुष्य और मनुष्य के बीच रहने वाला भेदभाव कभी स्थायी नहीं रह सकता।"

स्व. पं. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ के शब्दों में "महावीर कोई व्यक्ति नहीं वह तो एक सिद्धान्त है। अहिंसा और अनेकांत की बहती हुई विचार धारा है। मानव की लोकोत्तर जीवन पद्धति है।"

सर्व जीव समभाव, सर्व धर्म समभाव और सर्व जाति समभाव का शुभ सन्देश प्रसारक, जनजन में विश्व बंधुत्व की भावना के उत्प्रेरक भगवान महावीर के अमृतमय उपदेश और उनकी जीवन गाथा मानव मात्र के लिए चिरकाल तक प्रेरणादायी रहेगी। उनका जीवन सन्देश इहलोक के लिए अभ्युत्थान-कारक है तो परलोक में निःश्रेयस का प्रदाता। ★

एक-पल

तुम्हारे कलुषित कार्य कलाप, करायेंगे जब तुम्हें विलाप
तुम्हारे मन के सारे पुण्य, न भरमा पायेंगे संताप।
तुम्हारे रिश्तों के सब नाप, अरे नप जावेंगे चुपचाप
न होगा कोई किसी का मीत, समझ जायेगा जग तब आप।

❀

तुम्हारे मधुर मधुर व्यवहार, तुम्हारे वचनों का व्यापार
धरा रह जायेगा उस रोज, मृत्यु का जब होगा आहार।
तुम्हारे गोपनीय वे काम, तुम्हारे बहुचर्चित श्री नाम
एक दिन उद्धृत होंगे सहज, किसी के नाम; किसी के काम।

❀

तुम्हारी दुनिया के सब लोग, दीन या भोग रहे जो भोग।
सभी को एक घाट बहना, तटों का त्याग हृदय से लोभ।
तुम्हारे सघन साँवले केश, तुम्हारा आकर्षण मय वेश
देखने कौन रुका है मीत, जगत का शून्य रहा है शेष।

❀

भरो क्या आँखों में काजल, तुम्हें जल-जल बनना काजल
तुम्हारे तन की संरचना, कि तुम बस एक पिंड काजल।
तुम्हारे बाँके प्यारे नैन, नैन से आते जाते सैन
बुला पायेंगे न उस रोज, मृत्यु जब टेरे कहीं अनैन।

❀

तुम्हारी दैहिक-गठन, मदन; साथ देगी न अंतिम क्षण
कि मन जब जुड़ने को बेताब, टूट रहते हैं तब ये तन।
और फिर बन-ठन में तल्लीन, तुम्हें क्या देगी दुनिया दीन
तुम्हें होगा तब प्राणाधार, एक पल प्रभु बंदन में लीन।

☐ श्री सुरेश सरल
गढ़ा फाटक, जबलपुर

मानव व्यक्तित्व के चरम आचार्य भगवान श्री महावीर स्वामी

सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् श्री शास्त्री के अनुसार भगवान् महावीर गीता में वर्णित उन महान् आत्माओं की गिनती में आते हैं जो धर्म की ग्लानि और अधर्म के अभ्युत्थान से पीड़ित मानव की रक्षा हेतु इस धरा पर अवतरित होते हैं। वे व्यक्तित्व निर्माण के महान् आचार्य थे। उन्होंने अपने तप और त्याग से धर्म के सत्य स्वरूप को सामान्य जन तक पहुँचाने का जो असाधारण कार्य किया आज भी उसका प्रभाव मानव समाज पर अक्षुण्ण रूप से देखा जा सकता है।

—प्र० सम्पादक

☐ आचार्य रमेशचन्द्र शास्त्री
अजमेर।

श्रीमद् भगवद् गीता का यह कथन नितान्त सत्य है—

> यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

अर्थात् जब-जब धर्म की हानि तथा अधर्म का अभ्युत्थान होता है तब-तब कोई न कोई महान् आत्मा इस सृष्टि में आविर्भूत होता है। यह नियम सार्वजनिक तथा सार्वकालिक है। इसी नियम के अन्तर्गत विश्वभर का मानव समाज गति करता रहता है। समस्त प्राणिवर्ग सत्व, रजस् तथा तमस् इन तीन प्राकृत गुणों का ही एक समूह है, जिनके कारण समाज में 'उथल पुथल' मचती रहती है। किसी काल तथा किसी स्थान में रजोमिश्रित तमोगुण के कारण अधर्म की वृद्धि होती है और किसी काल तथा किसी स्थान में रजोमिश्रित सत्व गुण के कारण धर्म की वृद्धि होती है यही नियम इस सृष्टि में अनादि समय से चला आता है। देवासुर संग्राम की कल्पना का आधार भी यही नियम है। देवों तथा असुरों की यदा-कदा प्रबलता धर्म तथा अधर्म की यदा-कदा प्रबलता से पूर्णतः साम्य रखती है। आसुरी सम्पत् तथा दैवी सम्पत् का संघर्ष ही इस विश्व का अनवरतचक्र है। इसी के कारण विश्व में युद्ध, हिंसा, अनाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार, अनीति, लोलुपता, तस्करी, अन्याय, अशान्ति आदि तथा शान्ति, अहिंसा, सदाचार, नीति, परोपकार, सत्य, अचौर्य न्याय आदि घटते बढ़ते रहते हैं। युद्ध हिंसा असत्य अन्याय आदि से जब मानव समाज विकृत हो जाता है तो उसमें शान्ति स्थापना के लिए कोई न कोई महान् आत्मा इस धरती पर प्रकट होती है। भगवान् राम, कृष्ण, महावीर स्वामी, गौतम बुद्ध, स्वामी दयानन्द, महात्मा गांधी आदि महापुरुष इसी नियम के अन्तर्गत पृथ्वी पर आविर्भूत हुए और उन्होंने समाज की आवश्यकता के अनुसार पुनः समाज की व्यवस्था को सुधारने का प्रयत्न किया।

भगवान् महावीर स्वामी एक ऐसे असाधारण व्यक्तित्व के धनी थे जिसने हिंसा से उत्पीड़ित समाज को अहिंसा का पावन मार्ग दिखाया तथा अपने स्वयं के आचरण द्वारा उसे अहिंसक बनाने का अनथक प्रयत्न किया।

आज के युग में या पहले के भी किसी युग में, हिंसा ही समाज की सबसे बड़ी समस्या रही है। शेष सभी समस्यायें या तो सीधे इसी से उद्भूत हैं या इसके साथ परम्परया अपना सम्बन्ध रखती हैं। असत्य, व्यभिचार, अन्याय, भ्रष्टाचार सभी इसी हिंसा के पारिवारिक सदस्य हैं। यदि समाज स्वभावतः अहिंसक बन जाय तो वह दुःख तथा तापों से मुक्ति पा सकता है यही उसकी परिनिर्वाण अवस्था मानी जानी चाहिए।

जब हम भारत के युग-इतिहास पर दृष्टि डालते हैं तो ईसा पूर्व सप्तम शताब्दी के भारत में समाज के धार्मिक जीवन को एक क्रान्ति के मोड़ पर खड़ा पाते हैं। वैदिक धर्म में कर्मकाण्ड की मुख्यता के कारण अब स्वाभाविक आकर्षण का अपकर्ष हो गया था। जनसामान्य उससे विमुख हो रहा था, उसे अपने चारों तरफ दुःख ही दुःख दिखाई देता था। धर्म का विशाल स्वरूप सिकुड़ कर जन्मजात ब्राह्मणों की ठेकेदारी के अन्तर्गत समा गया था। उपनिषदों से हम सर्वप्रथम कर्मकाण्ड के विरुद्ध विचारों की अभिव्यक्ति पाते हैं। उनमें ज्ञान की उपलब्धि तथा नैतिक जीवन पर अधिक बल दिया गया है, किन्तु उपनिषदों की विचारधारा का प्रभाव समाज की ऊपरी श्रेणियों तक ही सीमित रहा। सामान्य जनता में उस ज्ञान का प्रचार-प्रसार न हो सका। भगवान् महावीर स्वामी ने अपने तप तथा त्याग से धर्म के सत्य स्वरूप को सामान्यजन तक पहुंचाने का असाधारण कार्य किया। वे श्री पार्श्वनाथ के 250 वर्ष पश्चात् पृथ्वी पर अवतीर्ण होने वाले चौबीसवें तीर्थंकर थे। 30 वर्ष की अवस्था में अपने भरे पूरे यौवन में उन्होंने गृहत्याग किया और 12 वर्ष की कठोर साधना के बाद 42 वर्ष की आयु में सत्य ज्ञान की प्राप्ति की। वे सुख तथा दुःख के बन्धन से मुक्त हो गए। तभी से वे 'जिन' कहाये, क्योंकि उन्होंने अपनी तपः साधना से सुख दुःख के द्वन्द्व पर विजय प्राप्त की थी। उन्होंने अपने जीवन के शेष तीस वर्ष धर्मोपदेश देने में व्यतीत किए। उनके उपदेशों के अनुसार जिस जैन धर्म का विकास हुआ वह विशेष रूप से तप, त्याग, विनय, नम्रता, सेवा, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग आदि पर विशेष बल देता है।

भगवान् महावीर स्वामी को हम व्यक्तित्व के निर्माण का आचार्य कह सकते हैं। उनके द्वारा बताये गए मार्ग पर निरन्तर चलकर तपःसाधना करने वाला व्यक्ति आत्मा की परमशक्ति के साथ ही सर्वज्ञ की स्थिति को भी प्राप्त कर सकता है।

श्री सिद्ध हेमचन्द्राचार्य ने भगवान् महावीर स्वामी की जो स्तुति की है उससे हम उनके वास्तविक स्वरूप को समझ सकते हैं—

अनन्तविज्ञानमतीतदोष-
मबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् ।
श्री वर्धमानं जिनमाप्तमुख्यं
स्वयंभुवं स्तोतुमहं यतिष्ये ॥

यह कारिका स्याद्वाद मञ्जरी नामक प्रसिद्ध जैन दर्शन ग्रन्थ की प्रथम कारिका है। इसमें वर्धमान श्री महावीर स्वामी को अनन्त विज्ञान-विशिष्ट, समस्त दोषों से अतीत, अबाध्य सिद्धान्त (जिनके सिद्धान्तों का खण्डन नहीं किया जा सकता) अमर्त्य पूज्य अर्थात् देव भी जिनकी पूजा करते हैं, आप्तमुख्य यानी त्रिकालाबाधित ज्ञान वाले आप्त पुरुषों में प्रमुख स्थान रखने वाले बताया गया है। वास्तव में श्री महावीर स्वामी को यह स्थान अपनी तपः साधना से ही प्राप्त हो सका है।

हमें यह कहने व लिखने में तनिक भी संकोच नहीं है कि महावीर स्वामी संसार के निष्कलङ्क तथा तपस्वी व्यक्तियों में अपना विशिष्ट स्थान

रखते थे। पच्चीस सौ वर्ष हुए उनके निर्वाण को, परन्तु उनके ज्ञान का प्रकाश तथा तप का प्रभाव आज भी मानव समाज पर अक्षुण्ण रूप से देखा जा सकता है। हमें महावीर स्वामी के विचारों में सर्वत्र मानवता के प्रति अपार स्नेह की झलक दिखाई देती है। आज सारा संसार उनके प्रति अपनी अमर श्रद्धाञ्जलि अर्पित करके अपने को धन्य मान रहा है यह उसका परम सौभाग्य है।

भार यह संसार क्यों है ?

कार में चक्कर लगाती जिन्दगी बेकार क्यों है ?
क्या कभी सोचा किसी ने भार यह संसार क्यों है ?

(१)

हाथ मानव का सहारा, हाथ से रोटी पकाते।
हाथ ने खोदा कुओं को, हाथ से उपवन लगाते।
हाथ के एहसान अनगिनती, मगर दें दोष किसको-
यदि उसी से बावले इन्सान, खेतों को जलाते।

स्वर्ग-सी सुन्दर धरा पर छारहा संहार क्यों है ?
क्या कभी सोचा किसी ने भार यह संसार क्यों है ?

(२)

आज के विज्ञान युग में चेतना खोई पड़ी है।
साधनों का है सहारा, साधना सोई पड़ी है।
बाल हो या वृद्ध, मेहनत से सभी तो जी चुराते-
कौन उठकर गुल करे अब, रोशनी जोई पड़ी है।

वासना से राग, हावी हो गया शृङ्गार क्यों है ?
क्या कभी सोचा किसी ने भार यह संसार क्यों है ?

(३)

है कहाँ संयम नियम झख मार जीवन जी रहे हैं।
भूल बन कर चाय को दस बार दिन में पी रहे हैं।
इन्द्रियों के दास होकर, आत्मा को भूल बैठे-
सूईयां रंग, डाक्टरों का मोमजामा सी रहे हैं।

प्राकृतिकता से परे हट भावना बीमार क्यों है ?
क्या कभी सोचा किसी ने भार यह संसार क्यों है ?

(४)

छोड़कर चलना जमीं पर आसमाँ में उड़ रहे जी।
सत्य से मुँह मोड़ कोरी कल्पना में गुड रहे जी।
मन्दिरों में भी पुजारी फोड़ते हैं सिर परस्पर-
खूब चलती है वकीलों की मुकदमे जुड़ रहे जी।

प्रेम की पगडंडियों पर ईर्ष्या असवार क्यों है ?
क्या कभी सोचा किसी ने भार यह संसार क्यों है ?

(५)

संभल जाओ साथियो, आनन्द भोगों में नहीं है।
शील का साम्राज्य मायाजाल रोगों में नहीं है।
शान्ति, सुख, सन्तोष, समता को कभी क्या पा सकोगे-
प्रेम, सहृदयता, दया यदि आज लोगों में नहीं है।

सादगी से द्वेष, झूठे फैशनों से प्यार क्यों है ?
क्या कभी सोचा किसी ने भार यह संसार क्यों है ?

श्री प्रसन्नकुमार सेठी
जयपुर.

भगवान महावीर की समकालिक स्थिति और उनके द्वारा प्रतिपादित संस्कृति

जिस समय भगवान महावीर ने अपने अवतरण से इस भारत भू को पवित्र किया उस समय विद्वान लेखक के मतानुसार भारत की स्थिति आर्थिक दृष्टि से तो सन्तोषजनक थी किन्तु शिक्षा और चारित्र की दृष्टि से ठीक नहीं थी। चन्दना जैसी लड़कियों की सरे बाजार बिक्री इस कथन के साक्ष्यस्वरूप है। श्रमण और ब्राह्मण परम्पराएँ दोनों ही अपने-अपने अस्तित्व के लिए जूझ रही थीं। श्रमण संस्कृति श्रम पोषक थी और अहिंसा प्रधान थी तो ब्राह्मण संस्कृति आभिजात्य से क्रूर हिंसा पर आधारित थी जिसमें शूद्रों और स्त्रियों को जो संख्या की दृष्टि से उस समय की जनसंख्या के तीन चौथाई थे, अपने उत्थान का कोई अवसर न था। दोनों में तीन और छह का अन्तर था। श्रमण संस्कृति प्रागैतिहासिक काल से चली आ रही थी। यही जैन संस्कृति थी। यह संस्कृति व्यक्ति के व्यक्तित्व को नहीं उसके गुणों को महत्व देती है। आज की हिंसाप्रधान मानवीय समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में यह संस्कृति किस प्रकार मंगलस्वरूप हो सकती है यह बताने का प्रयत्न किया गया है लेखक द्वारा उसकी इन पंक्तियों में।

—प्र. सम्पादक

□ प्रो० प्रवीणचन्द्र जैन
जयपुर.

अवसर्पिणी काल की चौथी अवस्था यानी दुःषमा–सुषमा काल के अन्तिम चरण में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, सोमवार, तदनुसार ता० 27 मार्च ई० पू० 598 के शुभ दिन भगवान महावीर राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला देवी के गर्भ से कुण्डग्राम, वैशाली में उत्पन्न हुए। उनके जन्म का काल मानव जाति के इतिहास का क्रान्तिकारी काल माना जाता है। ग्रीस, चीन, ईरान और भारत में जो उस समय के प्रबुद्ध देश थे उदार चेता मनीषियों ने पूर्वाग्रहों से युक्त प्रथाओं के विरोध में अपनी आवाज उठाई थी।

उस समय भारत की स्थिति आर्थिक दृष्टि से सन्तोष जनक थी, आर्थिक उत्पीडन बहुत कम था। समाज में श्रम की प्रतिष्ठा थी। सब लोगों के पास अपने अपने आजीविका के साधन थे पर शिक्षा और चरित्र की दृष्टि से जन सामान्य की स्थिति ठीक नहीं थी। एक ओर तो वारवनिताओं की सत्ता, और दूसरी ओर चन्दना जैसी लड़कियों को चौराहे पर खड़ी करके दासी के रूप में बेचना, फिर बहुविवाह को समृद्धता का चिह्न माना जाना ये ऐसी बातें हैं जो इस बात पर प्रकाश डालती हैं कि नगरों में विलासितापूर्ण जीवन किस जघन्य स्थिति को प्राप्त हो चुका था।

उस समय क्षत्रियों की प्रबलता थी। श्रमण और ब्राह्मण दोनों परम्पराएं अपने अपने क्षेत्र में काम कर रही थीं। कभी सिद्धान्त भेद के कारण और कभी पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के कारण इन परम्पराओं में संघर्ष भी हो जाते थे। क्षत्रिय लोग श्रमण परम्परा को अधिक प्रश्रय देते आ रहे थे। श्रमणों में आजीवक, अचेलक और बौद्ध प्रमुख थे। बौद्धों के अनुसार तीर्थियों की भी प्रमुखता थी।

पूर्ण काश्यप, मंखलि गोशाल, संजय वेलट्ठिपुत्त, अजित केश कम्बल, और प्रबुद्ध कात्यायन तीर्थियों के नेता थे। इस समय अक्रियावाद, भौतिकतावाद तथा अनीश्वरवाद प्रमुख विरोधीवाद थे। गौतम बुद्ध स्वयं अहिंसावादी थे, पर वह भी मांस भोजन का पूर्ण निषेध नहीं कर सके थे।

ब्राह्मण लोग भी वैदिक परम्पराओं की रक्षा के लिए बहुत जागरूक थे। प्रश्नोपनिषद के आचार्य पिप्पलाद, मुण्डकोपनिषद के रचयिता भारद्वाज, कठोपनिषद के प्रचारक नचिकेता आदि इस काल की ऐसी बौद्धिक और आध्यात्मिक विभूतियां हैं जिन्होंने अपनी नवीन विचारपद्धति से प्राचीन भारतीय संस्कृति की रक्षा की।

शूद्र और स्त्रियां जो मिलकर समाज की जनसंख्या के तीन चौथाई भाग थे हीन सामाजिक स्थिति में थे। जातिमद इस समय पराकाष्ठा को पहुंचा हुआ था। स्त्रियां सामान्यतः भोग्य वस्तुएं मानी जाती थीं शूद्र अस्पृश्य थे। कहीं कहीं इसके अपवाद अवश्य थे। एकाधिक पत्नी रखना उच्च वर्णों में एक रिवाज सा बन गया था। बहु विवाह को समृद्धता का आवश्यक घटक समझा जाता था। पशुबलि को धार्मिक आचार मान लिया गया था, इसकी छाया में प्रसाद के रूप में प्राय सभी वर्णों में मांसाहार का प्रचार था।

महाभारत के पश्चात् भारत राजनीतिक दृष्टि से छिन्न भिन्न सा हो गया था। राष्ट्रीय एकता का अर्थ बहुत सीमित था। एक ओर राजा प्रधान राज्य थे जिनमें सामन्तों की स्थिति प्रभावपूर्ण थी। दूसरी ओर जन-प्रधान राज्य थे। क्षत्रिय कुलों ने अपने संघ भी स्थापित कर लिये थे। इन गुणों में विशेषत उल्लेखनीय हैं, लिच्छवि या वज्जिगण, शाक्यगण, मल्लगण, कोलियगण, मगध गण, उत्तर कौशल गण, कलिंग गण और अंग गण। लिच्छवि अथवा वज्जिगण-राज्य में आठ क्षत्रियों के कुलों के प्रतिनिधि थे जो "राजा" कहलाते थे। इनके नाम हैं—वृजि, लिच्छवि, ज्ञातृक, विदेह, उग्र, भोग, इक्ष्वाकु, और कौरव। इनमें लिच्छवि क्षत्रिय प्रमुख थे। उनकी राजधानी वैशाली इस समय का प्रमुख नगर था। लिच्छवि वंश जैन धर्म का उपासक था। उनमें राजा चेटक प्रमुख थे। उनकी पत्नी का नाम सुभद्रा या भद्रा था। उनके एक पुत्र सिंहभद्र था और सात पुत्रियां थी जिनके नाम हैं, त्रिशला, मृगावती, सुप्रभा, प्रभावती, चेलना, ज्येष्ठा, और चन्दना। इनमें पांच का विवाह हो गया था। त्रिशला भगवान महावीर की माता थी। मृगावती का विवाह कौशाम्बी नरेश शतानीक से हुआ था। वत्सराज उदयन इन्हीं का पुत्र था। सुप्रभा का विवाह दशार्ण नरेश दशरथ से हुआ था। पद्मावती सिन्धु सौवीर या कच्छ देश के राजा उदयन की राजरानी थी। चेलना मगध सम्राट श्रेणिक की पट्ट-महिषी थी। ज्येष्ठा और चन्दना आजीवन ब्रह्मचारिणी रहीं। इन वैवाहिक संधियों के अतिरिक्त मल्लकि और अठारह काशी-कौशल के गण-राज्यों से भी लिच्छवियों की संधि हो गई थी। इस प्रकार लिच्छवियों की शक्ति इन राज्यों में सबसे प्रबल थी, शाक्य गण राज्य में शुद्धोदन के पुत्र रूप में गौतम बुद्ध का जन्म हुआ था। मल्ल गणराज्य में मल्लवंशीय क्षत्रियों की बहुलता थी। इसके दो भाग थे एक कुशीनारा जिससे भगवान बुद्ध का विशेष सम्पर्क था। दूसरा भाग पावा था जहां भगवान महावीर का निर्वाण हुआ। मगध गण राज्य के सम्राट श्रेणिक बिम्बसार थे। उत्तर कौशल की राजधानी श्रावस्ती थी। कौशल के दक्षिण में वत्सराज्य था जिसकी राजधानी कौशाम्बी थी। वत्सदेश के पश्चिम में अवन्ति राज्य था जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी। कलिंग या उड़ीसा का राजा जितशत्रु था। अंग की राजधानी चम्पा थी।

इस प्रकार इन सभी राज्यों की संख्या 16 थी। इनमें पारस्परिक स्पर्धा के कारण भयंकर नर-संहार होता रहता था।

यह है भगवान महावीर के जन्म-काल की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक स्थिति। इस पृष्ठभूमि में भगवान महावीर द्वारा प्रसारित जैन संस्कृति का एक विशेष महत्व है। हम उनके जीवन चरित की बात यहां न देकर श्रमण संस्कृति के ही एक विशिष्ट स्वरूप जैन संस्कृति के विषय में ही कुछ कहना चाहेंगे।

जैन, बौद्ध, ब्राह्मण, आर्य, श्रमण, भारतीय, पाश्चात्य, वैदिक, अवैदिक आदि विशेषण संस्कृति के सम्बन्ध में दृष्टिविशेष के ही बोधक हैं। तात्त्विक रूप से इनका कोई महत्व नहीं है। जहां तक संस्कृति का सम्बन्ध है उसके तत्व मूलतः एक से हैं। उसका कारण है। वह यह कि उसके मूल में मानव आत्मा है। संस्कृति का सम्बन्ध है चेतना से जिसकी मानव शरीर के द्वारा सर्वाधिक अभिव्यक्ति होती है। चेतना का शुद्ध और निर्मल स्थिति में प्रकाश ही संस्कृति का चरम विकास है। चेतना को ही जीव या आत्मा कहते हैं। संस्कृति-संबन्धी समस्त चिन्तना में भेद में अभेद की खोज जारी रहती है। प्रदेश, राज्य, राष्ट्र और विश्व इन नामों के आयाम में जिस एकता के दर्शन होते हैं वह एकता संस्कृति-मूलक ही है। आध्यात्मिकता जनित परिष्कार को ही संस्कृति कहते हैं। संस्कृति की चर्चा में व्यक्ति प्रधान है। व्यक्ति समाज का घटक होता है। व्यक्तियों का यदि आध्यात्मिक परिष्कार होता जाय तो सुसंस्कृत समाज स्वत घटित हो जायगा। आध्यात्मिक परिष्कार से तीन प्रकार की स्वतन्त्रता का आविर्भाव होता है। विश्वास की स्वतन्त्रता, विचार की स्वतन्त्रता और आचार की स्वतन्त्रता। इसको दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं—सुसंस्कृत व्यक्ति के विश्वास स्वोन्मुख होते हैं, विचार स्वोन्मुख होते हैं और आचार स्वोन्मुख होते हैं। स्व का अर्थ है आत्मा। संस्कृति विश्वास, विचार और आचार को स्वोन्मुख बनाती है।

सभ्यता बाह्य वस्तु है। भौतिक विकास को बतलाने वाली। यह विकास संस्कृति का भौतिक अभिव्यंजन है। इसीलिए यह कहने का रिवाज सा हो गया है कि यदि संस्कृति आत्मा है तो सभ्यता उसका शरीर है।

संस्कृति का उद्भव व्यक्ति के सशक्त केन्द्रीय विचार से होता है। यदि मूल में ही अशक्तता है तो व्यक्ति का संस्कृति विषयक प्रयत्न परप्रेरित और पराधीन हो जायगे। यह केन्द्रीय विचार आत्म-विजय का ही विचार है।

जैन संस्कृति जिन की संस्कृति है। जिन वह जो अपने कर्मों को जीतकर वीतराग हो गया है। वीतरागता ही मुक्ति है। तो जैन संस्कृति का फलितार्थ हुआ—जिन अर्थात् मुक्त आत्मा, उसकी संस्कृति मुक्तता की ओर ले जाने वाली ही नहीं, मुक्तता में प्रतिष्ठित करने वाली संस्कृति। इस प्रकार की संस्कृति आध्यात्मिक संस्कृति कहलाती है।

इस संस्कृति की ओर जाने वाले व्यक्ति का ध्येय शुद्ध होना चाहिये। ध्येय या तो बंधन में डालने वाला या मुक्त करने वाला हो सकता है। स्पष्ट है, आध्यात्मिक संस्कृति मुक्ति को ही अपना ध्येय बना सकती है। फिर केवल ध्येय ही शुद्ध नहीं होना चाहिये उसके साधन भी शुद्ध होने चाहिएं। ये साधन निश्चय ही भोगप्रधान न होकर त्यागप्रधान होंगे। रागनिष्ठ न होकर वीतरागतानिष्ठ होंगे, विकारोत्पादक न होकर संस्कारपरक होंगे। ये ऐसे साधन होंगे जो व्यक्ति को बहिर्मुखता से अंतर्मुखता की ओर ले जायेंगे। बहिरात्मा को अन्तरात्मा और परमात्मा बनाने वाले होंगे। लक्ष्य ठीक है या नहीं साधन ठीक है या नहीं इसकी जांच कौन करे—कैसे हो? जांच तो स्वयं ही को करनी होगी उसके लिए उसकी दृष्टि विशुद्ध होनी चाहिये। दृष्टि यदि सराग है, पूर्वाग्रहों से युक्त है तो वह निर्मल नहीं है। सन्तुलित दृष्टि वीतराग स्थिति को प्राप्त

व्यक्ति की होती है। राग और द्वेष से ऊपर उठे हुए व्यक्ति की। इसलिए आत्म-शुद्धि की आवश्यकता सर्वोपरि है। आत्म विशुद्धि में आत्मा की प्रधानता और पर की गौणता हो जाती है। अपने को भूलकर पर को समझना आत्मा को अशुद्ध बनाना है। अपने को समझना जरूरी है। अपने आपको समझना, पर को समझना, आत्मा और शरीर के सम्बन्ध को जानने के लिए जरूरी है।

जैन संस्कृति प्रागैतिहासिक संस्कृति है। इसे श्रमण संस्कृति भी कहते हैं। यह एक परिवर्तनशील धारा है। देश और काल दोनों का इस पर प्रभाव पड़ता आया है। ब्राह्मण संस्कृति का मूल आश्रम व्यवस्था है। डा० रामजी उपाध्याय ने एक जगह आश्रम शब्द की व्याख्या की है—आ समन्तात् श्रमः अत्र इति आश्रम-शब्दस्य व्याख्या। आश्रम माध्यमेन जीवनपर्यन्तमधिकाधिकः श्रमः क्रियते। श्रमु धातु से ही आश्रम और श्रमण दोनों शब्द बने हैं। आश्रम का श्रम और श्रमण का श्रम दोनों ही धार्मिक कृत्य के बोधक हैं। श्रमण में श्रम का अर्थ त्याग लिया गया है। आचार्य हरिभद्र सूरि कहते हैं-श्राम्यतीति श्रमणः जो तप करता है वह श्रमण है। आचार्य रविषेण ने भी तप को ही श्रम कहा है—

परित्यज्य तपो राज्यं श्रमणो जायते महान्।
तपसा प्राप्य सम्बन्धं तपो हि श्रम उच्यते॥

प्राकृत में श्रमण को समण कहा जाता है। श्रमण के तीन संस्कृत रूप हैं—श्रमण, शमन और समन। श्रम, शम और सम ये तीन तत्व श्रमण संस्कृति के मूल आधार प्रतीत होते हैं। श्रमण में तपस्या का भाव प्रमुख है। शमन से अपनी वृत्तियों को शान्त रखना अभिप्रेत है। इसे शम भी कहते हैं। समन सम् पूर्वक अण् प्राणने धातु से निष्पन्न है। इसकी व्युत्पत्ति है समतया शत्रुमित्रादिषु अणति प्रवर्तते इति समनः। इसका अर्थ हुआ तुल्य प्रवृत्तिवान व्यक्ति। स्थानांगसूत्र के अनुसार— सो समणो जइ सुमणो भावेण, जइ ण होइ पावमणो। उत्तराध्ययन के अनुसार—समया ए समणो होइ—अर्थात् समन सम भाव से या समभाव से होता है। धम्मपद में भी कहा है—

यो च समेति पापानि अणुं थूलानि सब्बसो।
समितत्ता हि पापानं समणोति पवुच्चति॥

अर्थात् जो अणु और स्थूल पापों का पूर्ण रूप से शमन करता है वह पापों का शमन करने के कारण समण है। निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरुक और आजीवक ये श्रमण के दूसरे नाम हैं। श्रमण परम्परा का उल्लेख वैदिक और वेदोत्तर साहित्य में स्थान स्थान पर हुआ है। किसी एक स्थान पर जमकर न बैठना, तपस्या करना और स्वयं के आचरण से समताभाव को और वचन या उपदेश से जीवन दर्शन को यत्र तत्र सर्वत्र प्रसारित करना श्रमण का कार्य है।

श्रमण संस्कृति और जैन संस्कृति एक ही धारा के दो नाम हैं। इस संस्कृति में भी विचार-भेद और आचार-भेद होता रहा है जिसने अनेक सम्प्रदायों को जन्म दिया है। सम्प्रदायों का होना बुरी बात नहीं है, बल्कि विशिष्टीकरणकी दृष्टि से उनका होना वांछनीय भी है। जब तक सम्प्रदाय मूल विचारधारा से विच्छिन्न नहीं होता उसकी उपलब्धियां चिंतन और साधना दोनों का पोषण करती रहती हैं। श्रमण संस्कृति की विशेषताएं हैं—

गुणपूजा—व्यक्ति के स्थान पर गुणों पर बल देना इस संस्कृति की प्रथम विशेषता है। जैसे णमोकार मन्त्र। इसे मन्त्रराज कहा गया है। हमारा नमन उन सब साधुओं के प्रति है जो मुक्ति के लिए भोग से त्याग की ओर चल पड़े हैं और अपनी तपोजन्य उत्कृष्टता के कारण उपाध्याय आचार्य और अर्हत् या सिद्ध बने हैं। दूसरे, यह

संस्कृति अपने उद्धार का दायित्व किसी अन्य पर न छोड़कर स्वयं पर ही डालती है। कर्म बन्धन से, आस्रव और बन्ध की अवस्था से कर्म-मुक्ति की ओर, संवर और निर्जरा की ओर चलना, इस प्रकार अपना उद्धार स्वयं करना यही मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है। इस प्रकार स्वावलम्बी आत्मा जिसे अन्तरात्मा भी कहा जाता है परमात्मा बन जाता है। परमात्म-स्वरूप को प्राप्त व्यक्ति जो कुछ बांटता है धर्मोपदेश या देशना के रूप में, वही लोक के उद्धार में निमित्त बन जाता है। जो आत्माएं देशना के विद्युत्कणों को पकड़ लेती हैं उनके जीवन में क्रान्ति का उदय हो जाता है। 12 वर्षों की तपस्या के बाद, मौनपूर्वक तपस्या के बाद भगवान महावीर ने कैवल्य प्राप्त किया, अपनी देशनाओं से चाहे उनका माध्यम कोई भी रहा हो उसे उन्होंने जन-जन में बांट दिया।

यह संस्कृति विचार और आचार के समन्वय पर बल देती है। आचारहीन विचार और विचार-हीन आचार दोनों ही मिथ्यात्व हैं। भोग छोड़ना त्यागमार्ग पर चलना निरुद्देश्य नहीं होना चाहिए। आध्यात्मिकता का चरम विकास पुद्गल और आत्मा के भेदीकरण से ही सम्भव है। इस भेदी-करण की आरम्भ से अन्त तक की समस्त प्रक्रिया भेद-विज्ञान कहलाती है।

यह संस्कृति सत्य के दर्शन पर, निर्मल ज्ञान पर और इन दोनों के अनुसार आचरण पर बल देती है। आज की भाषा में सत्य दर्शन या सम्यग्दर्शन मानो सत्यम् की ओर, सम्यग्ज्ञान मानो शिव की ओर और इन दोनों से पवित्र आचरण सम्यक्चारित्र मानो सुन्दरम् की ओर ले जाता है। ऐसा लगता है मानो सम्यक्त्व पूर्ण दर्शन, ज्ञान और चारित्र आज सत्यं शिवं और सुन्दरं के रूप में रवीन्द्र-भारती द्वारा परिभाषित हुए हैं। संस्कृति का यह प्रशस्त मार्ग विचार और आचार के समन्वय में, भौतिकता से आध्यात्मिकता की परिणति में मुख-रित होता है। दूसरे शब्दों में, पतन से उत्थान की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला यह मार्ग है।

इस संस्कृति की अन्तरात्मा है अहिंसा का भाव। प्राणिमात्र के प्रति आत्मत्व का भाव। ऐसा भाव जो निरन्तर जागरूकता से ही सम्भव है। जहां प्रमाद हुआ मूर्छा आ गई, मोह या अंधेरा छा गया और अहिंसा का स्थान हिंसा ने ले लिया। प्रमाद का हटना जरूरी है। जागरूकता का पहला और आखिरी लक्षण यही है। स्व और पर को उसके अनन्त रूपों में देख सकना, विविध भंगियों से अनन्त संभावनाओं या अपेक्षाओं का दर्शन कर सकना जागरूकता की सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त व्यक्ति के लिए ही सम्भव है। जो उठकर जागरूक हो जाता है वही सर्वज्ञ हो जाता है। सर्वज्ञ ही वस्तु के अनेकान्त स्वरूप का यथावत् दर्शन कर सकता है। अनुभव कर सकता है। वचन से उसकी प्ररूपणा जो भी होगी देश, काल, पात्र और भाव की अपेक्षा से एक समय में किसी एक रूप को लिये हुए ही होगी। ऐसी हालत में एक रूप तो मुख्य हो जाता है और शेष रूप गौण बन जाते हैं। शेष रूप हैं ही नहीं ऐसा न हुआ ही है और न हो ही सकता है। वक्ता और श्रोता दोनों ही की अपेक्षा स्याद्वाद को जन्म दे देती है। अहिंसा, अनेकान्त और स्याद्वाद तीनों एक दूसरे में घुले मिले हैं। अहिंसा की वृत्ति के बिना तत्व का प्ररूपण ऐसे विकारों को जन्म दे देता है जिससे आत्मा या आत्माएं कषायित हो जाती हैं। वे क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी हो जाती हैं। इन कषायों से आत्मा को जहां मुक्त होना चाहिए था वहां वे उनसे आकारित हो जाती हैं। हमें प्रेम से, आत्मोद्धार की भावना से तत्वों को समझना और समझाना है, तत्वज्ञान प्राप्त करना है और इष्ट अपेक्षाओं से आज के सन्दर्भ में उन्हें अभि-व्यक्त करना है।

यह संस्कृति जैसा पहले भी कहा गया है आत्म-विजय को अपना लक्ष्य मानती है। संयम के द्वारा ही यह सम्भव है। इसमें कर्तव्यभावना प्रधान रहती है। उसके लिए अधिकार या शक्ति तो स्वतः मिलने वाले हैं। किसी से मांगने की या किसी को ज्ञापन देने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। मार्ग ही यह ऐसा है। संयममयी निराकुल साधना से आत्मा अपने शुद्ध चिदानन्दमय रूप में परिनिष्ठित होती है और इस रूप से जो प्रेरणा मिलती है वह दूसरी आत्माओं के हृदय-परिवर्तन में निमित्त बन जाती है।

तो इस प्रकार भगवान महावीर द्वारा परिचारित, प्रसारित और परिपोषित जैन संस्कृति आध्यात्मिक संस्कृति है। इसे संक्षेप में आत्म-संस्कृति कह सकते हैं। आत्म-संस्कृति प्रत्येक प्राणी की संस्कृति है। इसे अपने आपको केन्द्र में रखकर ही समझने और समझाने की आवश्यकता है।

आज का युग भौतिकता प्रधान है। अर्थ प्रधान इस युग की समस्याएं इतनी और ऐसी जटिल हैं कि उनसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हिंसा को पोषण मिलता आ रहा है। इस हिंसा प्रधान मानवीय समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में यों तो जीवमात्र के लिए और विशेषतः मानवमात्र के लिए इस संस्कृति का प्रत्येक पहलू सांगत्य और औचित्य को लिये हुए है। आइये हम सब अपनी स्वयं की साक्षी में कहें—

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव !

दिव्य-वाणी

एओ य मरइ जीवो, एओ य उववज्जइ।
एयस्स जाइ मरणं, एओ सिज्झइ णीरओ॥

अर्थ—यह जीव अकेला ही मरता है और अकेला ही उत्पन्न होता है। उसके अकेले की ही मृत्यु होती है अर्थात् दूसरा कोई साथ नहीं जाता। यह जीव अकेला ही कर्मरूपी मैल को नष्ट कर एवं शुद्ध हो सिद्ध पद को अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करता है।

—आचार्य श्री वट्टकेर स्वामी

भगवान महावीर की परम तेजस्विता

जैन धर्म में सत्य की कसौटी यह नहीं है कि अमुक घटना का वर्णन अमुक शास्त्र में है अथवा नहीं या अमुक घटना जैसी की तैसी घटित हुई थी अथवा नहीं। यहां तो यदि कोई घटना हमें राग, द्वेष और मोह को छोड़ने एवं सन्मार्ग ग्रहण करने हेतु अनुप्रेरित करती है तो वह झूंठ होते हुए भी सत्य है और इसके विपरीत मिथ्यामार्ग की ओर प्रेरित करने वाली सत्य घटना को भी शास्त्रकारों ने असत्य बताया है। भगवान महावीर के जीवन की कई ऐसी घटनाएं हैं जो दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों में वर्णित नहीं हैं, किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों में उनका सविस्तार वर्णन किया गया है। वे घटनाएं उपर्युक्त सत्य की परिभाषा के कितनी निकट हैं अथवा उनके पीछे क्या प्रयोजनभूत तत्व छिपा है इसका वर्णन प्रस्तुत किया है हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार श्री यशपाल जैन ने अपने इस निबन्ध में। हमारा अनुरोध है कि पाठक इसी दृष्टिकोण से निराग्रही बन उनके इस निबन्ध से अनुप्राणित हों।

—प्र० सम्पादक

□ श्री यशपाल जैन
नई दिल्ली.

भगवान महावीर के पच्चीससौवें निर्वाण-महोत्सव वर्ष में देश-विदेश में लोगों का ध्यान महावीर की ओर आकृष्ट हुआ है। वे जानना चाहते हैं कि वर्तमान युग में महावीर की सार्थकता क्या है ? हम उनसे क्या सीख सकते हैं ? उनकी शिक्षाओं से युग-बोध किस प्रकार प्रभावित हो सकता है ?

इस लेख में महावीर के सिद्धान्तों का विवेचन अभीष्ट नहीं है। मैं महावीर के विषय में सोचता हूं तो कई चित्र उभर कर सामने आते हैं। यहां मैं तीन चित्र प्रस्तुत करूंगा, जिनमें उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर आ जाते हैं। उनमें पहला चित्र है उनके गृह-त्याग के महान क्रान्तिकारी कदम का। संसार के अधिकांश प्राणी धन-सम्पत्ति का संग्रह करते हैं, सत्ता जुटाते हैं, पर महावीर के यहां तो ये चीजें पहले से ही मौजूद थीं। वे राजपुत्र थे। उनके चारों ओर वैभव था। वे कितने आनन्द का जीवन व्यतीत कर सकते थे। अपने धन से कितनों का अभाव दूर कर सकते थे, राजसत्ता से कितने बड़े-बड़े काम सम्पन्न कर सकते थे। इन भौतिक वस्तुओं का मद और मोह कम नहीं होता। इसलिए मैं मानता हूं कि इन सबका त्याग महावीर का क्रान्तिकारी कदम था। एक क्षण में इस वैभव को उन्होंने ऐसे त्याग दिया, जैसे कोई बालक हाथ के खिलौने को उठाकर फेंक देता है।

राम ने गृह-त्याग किया था, पर उसके पीछे पिता के वचन की रक्षा की भावना थी, फिर उनके साथ लक्ष्मण और सीता भी गये थे। बुद्ध ने घर-बार छोड़ा, पर रात के समय, जब यशोधरा और राहुल गहरी नींद में सो रहे थे। शायद उनके

बन में रहा होगा कि दिन में जाने पर कहीं पत्नी, पुत्र और स्वजनों का आग्रह उन्हें विचलित न कर दे। राम और बुद्ध का त्याग कम नहीं था, पर महावीर तो दिन दहाड़े गये और सबसे विदा होकर गये। भरा-पूरा घरबार, अतुल धन-सम्पत्ति और वैभवशाली राजपाट ऐसे छोड़ दिया मानों उनका मूल्य मिट्टी के ठीकरे के बराबर भी न हो।

इस चित्र को देखकर मेरा मन विस्मय से भर उठता है। क्या महावीर धन-सम्पत्ति के महत्व को नहीं जानते थे? क्या राजपाट की महत्ता उनसे छिपी थी? नहीं वे इस सबसे भलीभांति परिचित रहे होंगे, पर इससे भी अधिक उन्होंने इस सनातन सत्य को माना होगा कि जो नश्वर है, वह कभी स्थायी सुख नहीं दे सकता। धन आता है, चला जाता है; राज उठते हैं, गिर जाते हैं, और वह समाज मानव के लिए कैसे स्पृहणीय हो सकता है, जिसमें राजा और रंक की चौड़ी खाइ हो, एक देने का गर्व करे, दूसरा लेने का अपमान सहे! मानव के गौरव को स्थापित और प्रतिष्ठित करने के लिए महावीर के अन्तर में गहरी भावना रही होगी और उसी से प्रेरित होकर उन्होंने मोह-माया के दुर्ग को एक ठोकर में भूमिसात कर दिया होगा।

निर्भीक-तेजस्वी विभूति

दूसरा चित्र है एक निर्भीक परम तेजस्वी विभूति का। घरबार तथा राजपाट के सारे वैभव को तृणवत त्याग कर महावीर साधना के मार्ग पर चल पड़े हैं। न उनके पास कोई भौतिक साधन है, न कोई संगी-साथी। यों वह एकाकी दीख पड़ते हैं, पर 'स्व' का विसर्जन हो जाने से अब उनके लिए कुछ भी पराया नहीं रह गया है। सब कुछ उनका अपना हो गया है, सब उनके अपने बन गये हैं।

अनेक स्थानों में घूमते हुए वे अस्थिग्राम पहुंचते हैं और वहां से कुछ दूर शूलपाणि यक्ष के मन्दिर में ध्यान के लिए ठहरते हैं। ग्रामवासी यह देखकर कांप उठते हैं। अरे, यह स्थान तो बड़ा भयंकर है! वे यक्ष की विनाशकारी शक्ति को जानते हैं। महावीर से निवेदन करते हैं, "मुनिवर, यहां मत ठहरिये। यहां जो भी कोई रात बिताता है, उसे यक्ष जीवित नहीं छोड़ता। आप गांव में चलिए और वहीं रात्रिवास कीजिए।"

ग्रामवासियों के भय का उनके चित्त पर कोई प्रभाव नहीं होता। वह बड़े ही निर्भीक, पर मधुर शब्दों में कहते हैं, "मैं गांव में चल सकता था, पर अब कैसे जाऊं? स्वतन्त्रता की साधना में अभय का होना अनिवार्य है। मैं इस सुनहरे अवसर को नहीं छोड़ सकता। मेरी कसौटी यहां है, मैं उससे पीछे नहीं हट सकता।"

ग्रामवासी बेचारे निरुत्तर हो जाते हैं और चिन्तित अपने-अपने घरों को लौट जाते हैं।

रात्रि का आगमन होता है। वह सुनसान, बियाबान बनस्थली एकदम निस्तब्ध हो उठती है। चारों ओर सन्नाटा छा जाता है। उस निविड़ अंधकार में हाथ-से हाथ नहीं सूझता।

महावीर ध्यान में निमग्न हो जाते हैं। अकस्मात भयंकर कोलाहल होता है। किसी के अट्टहास से सारा बन-कान्तर गूंज उठता है, पर महावीर अपने ध्यान में लीन रहते हैं। उनकी एकाग्रता भंग नहीं होती। थोड़ी देर में एक भीमकाय हाथी आता है। बड़ी क्रूरता से वह महावीर पर प्रहार करता है। अपने तीव्र दांतों से उन्हें सताता है। पर महावीर को उसका पता भी नहीं चलता। आखिर हाथी हताश होकर लौट जाता है।

फिर आता है एक भयंकर विषधर नाग, जिसकी फुंकार से सारा सोता बन जाग उठता

है। सभी चीत्कार करने लगते हैं। वह फन उठा कर भगवान महावीर पर आक्रमण करता है, उन्हें डसता है, लेकिन महावीर निश्चल खड़े रहते हैं। तब हाथी की भांति सर्प भी अपने मुंह की खाकर चला जाता है।

यक्ष पराभूत हो जाता है।

इस प्रकार की एक नहीं, सैकड़ों घटनाएं महावीर के साधना-काल में घटीं, पर महावीर इतने निर्भय, इतने एकाग्र-चित्त और इतने तेजस्वी थे कि उनके पैर कभी डगमगाये नहीं। वे निरन्तर आगे ही बढ़ते गये।

मैं इन घटनाओं को प्रतीक रूप में मानता हूं। मानव का सबसे बड़ा शत्रु उसके अन्तर में बैठा है. बाहरी शत्रु पर विजय पाना आसान होता है, किन्तु इस भीतर बैठे शत्रु को जीतना बड़ा कठिन होता है। महावीर द्वारा अभय की सिद्धि का रहस्य इस बात में है कि उन्होंने अपने अन्तर के शत्रु को जीत लिया था।

प्रेम अहिंसा के पुजारी

उनका तीसरा चित्र उभरता है प्रेम और अहिंसा के महान पुजारी का। उनका प्रेम असीम था। वह मानव-मात्र को ही प्रेम नहीं करते थे, उनके प्रेम की परिधि में सभी जीव-धारी आते थे। इसकी साधना उनके जीवन में बचपन से ही आरम्भ हो गई थी। एक दिन अपने साथियों के साथ वे खेल रहे थे कि अचानक एक सांप आ गया। सारे संगी-साथी डर के मारे कांपने लगे, लेकिन महावीर को तनिक भी हैरानी न हुई। उन्होंने साथियों को समझाया, 'घबराने की जरूरत नहीं।' पर उनमें से एक भी बालक न रुका। महावीर अडिग खड़े रहे। उन्होंने बड़े प्यार से सांप को पकड़ लिया और दूर ले जाकर छोड़ आये।

कहा जाता है कि उनकी इस प्रकार की बहादुरी की घटनाओं के कारण ही उनका नाम 'महावीर' पड़ा। उनमें इतना साहस उनके असीम प्रेम में से उपजा था। प्रेम, मैत्री और समता को जन्म देता है। जिसमें राग-द्वेष नहीं है, जिसका हृदय प्रेम से छलछलाता है, वह सबके प्रति अपनत्व का भाव रखता है। प्रेम और अहिंसा पर्यायवाची हैं।

इस सन्दर्भ में मुझे 'चण्डकौशिक' की कथा बड़ी प्रेरणादायक लगती है। अपनी साधना के दूसरे वर्ष में महावीर एक दिन उस स्थान पर ठहरे, जो भयंकर विषधर चण्डकौशिक का निवास-स्थान था। लोगों ने उन्हें बहुत रोका, पर महावीर कहां मानने वाले थे।

चण्डकौशिक के भय से लोग उस स्थान को छोड़कर चले गये थे। उस नाग की दृष्टि में इतना तीव्र विष था कि वह जिसकी ओर देख लेता था, वही भस्म हो जाता था। जब वह वन में घूम कर लौटा तो देखता क्या है कि उसके घर में एक व्यक्ति खड़ा है। किसका इतना दुस्साहस कि उसके घर के अन्दर प्रवेश करे। महावीर कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े थे। चण्डकौशिक ने क्रोध से उनकी ओर देखा, पर यह क्या ? महावीर पर उस दृष्टि का कोई प्रभाव न पड़ा। वे ज्यों-के-त्यों खड़े रहे। तब नागराज आपे से बाहर हो गये। उनकी आंखों में तीव्रतम विष भर आया, लेकिन महावीर पर उसका भी कोई असर नहीं हुआ। अपनी विफलता पर चण्डकौशिक का पारा अब आसमान पर पहुंच गया। उसने आगे बढ़कर पूरी शक्ति से महावीर के बायें पैर के अंगूठे पर मुंह मारा, लेकिन ध्यान की शक्ति के आगे उसका विष व्यर्थ हो गया। फिर क्या था, उस विषधर ने दूसरी बार उनके पैर को डसा और जब उसका भी कोई परिणाम न निकला तो वह उनके पैर में लिपट कर गले पर पहुंचा और वहां जाकर मुंह मारा, लेकिन महावीर

चट्टान की तरह अकंप खड़े रहे। उनका बाल भी बांका न हुआ।

चण्डकौशिक अपने आवेग और पराजय की निराशा से थक कर चूर हो गया। उसने असहाय दृष्टि से महावीर की ओर देखा और फिर कुछ दूर पर जाकर चुपचाप बैठ गया।

जब महावीर की ध्यान-प्रतिमा सम्पन्न हुई तो उनकी निगाह विशालकाय चण्डकौशिक पर गई। उन्होंने बड़े प्रेम और आत्मीयता से उसकी ओर देखा। एक क्षण में नागराज का विष घुल गया और जो दृष्टि अपने भयंकर विष के कारण दूर-दूर तक के लोगों के लिए आतंककारी बनी हुई थी, वह अमृत से भर उठी। यह था प्रेम और मैत्री का प्रभाव अहिंसा का पराक्रम।

नहीं जानता कि यह घटना सत्य है या नहीं, पर मेरा मन इस घटना से अधिक उसके पीछे की भावना पर जाता है और मैं मानता हूं कि यदि अहिंसा के प्रति हमारी निष्ठा अडिग है, यदि सबके प्रति हमारा प्रेम निस्वार्थ है, यदि सबके प्रति हमारे हृदय में समानता का भाव है, तो हमारे सामने उग्रतम विरोध भी स्वतः ही पराजित हो सकता है।

वर्तमान युग में महावीर की वह तेजस्विता भारतवासियों के जीवन में प्रकट हो जाय तो देश का कायाकल्प हो सकता है। महावीर को पूजकर हम अपना जितना भला कर सकते हैं उससे कहीं भला उनके मार्ग पर चल कर हो सकता है। वह दिन कितना धन्य होगा, जबकि मानव-जाति उनके इस महान स्वरूप को देखेगी और उसके अनुरूप अपने जीवन को ढालने के लिए कृत-संकल्प होगी।

दिव्य वाणी

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं न केणवि।
आसाए वोसरित्ताणं समाहिं पडिवज्जये।।

अर्थ—सब जीवों के प्रति मेरा समता भाव है, किसी के साथ भी मेरा वैरभाव नहीं है। मैं सब प्रकार की आशा–तृष्णाओं को छोड़कर समाधि-समत्व को धारण करता हूं।

—आचार्यश्री वट्टकेर स्वामी

भगवान् महावीर के गर्भकाल से लेकर केवलज्ञान उत्पत्ति तक की घटनाओं का अति संक्षिप्त किन्तु रोचक वर्णन दोनों ही सम्प्रदाय के ग्रन्थों के प्रामाण्य के साथ इस रचना में प्रस्तुत किया गया है। लेख के प्रारम्भ में जो भगवान् महावीर के जन्म स्थान कुण्डलपुर को अभी भी अनिर्णीत बताया है इससे हम सहमत नहीं हैं क्योंकि इतिहास के पुष्ट प्रमाणों से कुण्डग्राम की स्थिति अब निर्णीत अवस्था में पहुँच चुकी है। मुजफ्फर जिले की गण्डकी नदी के समीप स्थित बसाढ़ नामक ग्राम ही प्राचीन वैशाली था और इसके समीप का क्षत्रिय कुण्डपुर ही भगवान् महावीर का जन्म कल्याणक स्थान। वहां से जो उत्खनन में सिक्के प्राप्त हुए हैं वे भी इस तथ्य की ही पुष्टि करते हैं।

—प्र० सम्पादक

संसारोद्धारक भगवान महावीर

☐ श्री उदय 'प्रभाकर'
शास्त्राचार्य, जैन दर्शनाचार्य एम॰ ए॰, इन्दौर

जगत् प्रसिद्ध भगवान महावीर का जन्म कुण्डलपुर नगर में हुआ था, जो अपनी रमणीयता, वैभव आदि के लिए प्रसिद्ध था। इसका समर्थन 'डॉ० होर्नल' ने वैशाली के निकट स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'महावीर' नाथ या नायवंशी क्षत्रिय राजकुमार थे। कुण्डलपुर वैशाली के निकट ही था।[1] बौद्धों के 'महावग्ग' नामक ग्रन्थ में भी 'कोटिगाम्य' और कुण्डगाम्य में नाथवंशीय क्षत्रियों का विवेचन किया गया है, जिससे ऐसा स्पष्ट हो जाता है कि कुण्डग्राम में ही इनका जन्म हुआ था जिसका वर्तमान नाम कुण्डलपुर है, जो राजगृह के समीप है। फिर भी इस विषय में कोई ठीक प्रमाण नहीं प्राप्त होता है। कुण्डलग्राम की विशेषता का वर्णन गुणभद्राचार्य विरचित 'उत्तरपुराण' में देखने को मिलता है।

प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव से अनेक भवों के उपरान्त "अंतिम तीर्थङ्कर के रूप में आज से पच्चीस सौ बहत्तर वर्ष पूर्व जन्म माना जाता है।"

भगवान का शुभागमन :—

प्रत्येक तीर्थङ्कर या भगवान के आने के पूर्व उस नगर में छः महिने पूर्व रत्नों की वृष्टि होने लगती है, प्रजा धन-धान्य से पूर्ण हर्षोन्मुख होकर नाचने लगती है। दिशाएँ स्वच्छ निर्मल हो जाती हैं एवं चारों ओर आनंद की लहर दौड़ जाती है। जैसा कहा भी गया है :—

> दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः प्रदक्षिणार्चिहुविरग्निराददे।
> बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं भवो हि लोकाभ्युदया तादृशाम्॥

---

1. See—the Life of Mahavira— (p. 16–17)

संसार में महापुरुषों का जन्म कल्याण के लिए ही हुआ करता है । यथा :—

"तत्रैव पुत्रपुण्येन पुण्ये किं वा दुरासदम्[1] ।।

अर्थात् पुण्योदय होने पर दुष्कर कार्य भी सुकर हो जाते हैं ।

और भी :—

सकलः शशीव विमलं गगनं
कुसुमोद्गमो महदिवोपवनम् ।
भुवि विश्रुतं श्रुतमिव प्रशस्त-
स्तदलंचकार स कुलं धवलः ।।[2]

तथा :—एक और रमणीय कल्पना देखिये :—

तज्जन्मकाले विमलं नभोऽभू-
द्दिग्भिः समं भूरपि सानुरागा ।
स्वयं विमुक्तानि च बंधनानि
मंदं ववौ गंधवहः सुगन्धिः ।।[3]

यहां तक यह भी कहा जाता है कि पुत्र रत्न के उत्पन्न होने पर रत्नों के दीपक तेजहीन हो जाते हैं । जैसा कि कहा गया है :—

तस्मिन्सुते तत्क्षण जातमात्रे
रत्नप्रदीपाः प्रभया विमुक्ताः ।
नित्यं नरालम्बित भोगभागा
नागा इवोच्चैः सविषादमस्थुः ।।[4]

अमरचन्द सूरि विरचित 'पद्मानंद महाकाव्य' में वर्णित भगवान के जन्म का एक रोचक वर्णन : -

प्रभुः प्रभाभरैराभाद् गर्भतो निर्गतो बहिः ।
भासयन् ककुभो भास्वानिव शारदवारिदात् ।।
प्रभौ प्रत्यक्षतां प्राप्ते भुवनत्रय भास्करे ।
उद्द्योतो द्योतयामास त्रैलोक्यमपि तत्क्षणम् ।।
तमांसि ध्वंसमेष्यंति, यं प्रं क्षमान्यतोऽपि ।
किं चित्रं त्रिजगद्ध्वान्तमुद्द्योतस्तद्भवो ऽहरत् ।।

भगवान के जन्म से आकाश मंडल ही क्या, अपितु तीनों लोक ही प्रकाशमय हो जाते हैं, कहीं भी अंधकार का सद्भाव देखने को नहीं मिलता ।

भगवान के जन्म होने पर स्वर्ग के इन्द्र द्वारा उत्सव कराया जाता है । स्वयं सौधर्म इन्द्र सुमेरु पर्वत पर बने हुए एक पाण्डुक वन है, वहीं पर स्थित विस्तीर्ण पाण्डुकशिला है, जो रत्नमयी सिंहासन से युक्त है वहीं पर देव-देवेन्द्रों द्वारा भगवान को विराजमानकर अभिषेक किया जाता है और रत्नजटित आभूषणों को पहनाकर सुगन्धित माला पहनाई जाती है । इसका वर्णन 'हरिवंश-पुराण' में प्राप्त होता है । वैसे प्रत्येक तीर्थङ्कर के चरित वर्णन करते हुए कवियों ने उपर्युक्त स्थितियों का विवेचन किया है ।[5]

महावीर की विभूतियों से ही उनकी प्रसिद्धि चारों ओर फैल गई थी और समस्त जनपद क्या, मुनिजन भी चन्द्रमा की कलाओं के समान वृद्धि को प्राप्त महावीर से अपने-आपको कृतकृत्य समझने लगे थे । सम्यग्ज्ञान से युक्त जानकर चारणलब्धि के धारक विजय व संजय नाम के दो मुनि अपनी शंका का समाधान कराने लिए महावीर के पास आये, पर उनकी शंका का समाधान उनको देखते ही हो गया, तब उन्होंने भगवान का नाम 'सन्मति' रक्खा था और दिनोंदिन वे वृद्धि को प्राप्त हुए ।

अनंत ज्ञान, अनंत बल और अनंतसुख के

1. क्षत्रचूड़ामणि 1-89
2. महावीर चरित 5-22 ।
3. महावीर चरित 1-47 ऐसा ही कथन जम्बूस्वामीचरितं 5।123-127 तक चन्द्रप्रभचरितम् सर्ग 17-1 से 8 तक ।
4. द्विसंधानमहाकाव्य-2।12 । और महावीरचरित पृ. 344 । श्लो० 58-59 ।
5. चन्द्रप्रभचरितम् 17-19 । धर्मशर्माभ्युदय 8।1 । इत्यादि ।

धारक महावीर थे। वे कोई देव या काल्पनिक व्यक्ति नहीं थे, अपितु आत्मा से परमात्मपद की ओर अग्रसर मोक्षमार्ग के प्रवर्तक थे।[1]

महावीर ने जन्म से ही मोक्षमार्ग की बात को समझा, और स्वयं आधार बनाया उस नवीन पथ का जहां पर कांटे ही कांटे थे, पर उस पथ के कांटे भी फूल बन गये। वे जन्म से ही मति, श्रुत, अवधि ज्ञान के धारक थे। प्रत्येक तीर्थङ्कर का वर्णन करते हुए कवियों ने उनके नैसर्गिक ज्ञान का विवेचन किया है। जैसा कि महाकवि हरिचंद्र ने लिखा है :

"नैसर्गिक ज्ञाननिधेजगद्गुरोगुरुश्च
शिक्षा सु बभूव तस्य कः ?"[2]

विकास को प्राप्त हुए महावीर अपनी चपलता को दूर करने के लिए स्वयं आगे बढ़े और शैशव को व्यतीत कर यौवन अवस्था रूपी लक्ष्मी को प्राप्त हुए। उनका शरीर मनोज्ञ, निस्वेदता आदि स्वाभाविक दश अतिशयों से युक्त था। वे अतिशय इस प्रकार हैं:—मलमूत्ररहित शरीर, पसीना न आना, दूध के समान श्वेत रक्त, वज्रवृषभनाराच संहनन, समचतुरस्र संस्थान, अद्भुत रूप, अतिशय सुगन्धता, 1008 लक्षण शरीर, अनंतबल, प्रिय-हितकर वचन।

संसार में रमण करते हुए भी संसार से विरक्त रहे। राजकुमार तो थे ही, पर राज वैभव से परे थे। इसका कारण था संसार की वास्तविकता का ध्यान कर स्व-पर कल्याण की आकांक्षा। समस्त देवोपनीत वैभव को भोगते हुए तीस की अवस्था को प्राप्त हो गये थे।

अब क्या था, वे तपश्चरण की ओर अग्रसर हो गये, तथा घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञानी हो गये। केवलज्ञान की प्राप्ति के पूर्व बारह वर्ष तक महावीर ने कठोर तपश्चरण किया, तदुपरांत भारतवर्ष के विविध स्थानों पर भ्रमण कर आत्मज्ञान की वास्तविकता का ज्ञान कराया। मानव मात्र में क्या, प्राणी मात्र में आत्मस्रोत बह निकला और अपने-आपको बाह्य परिकर से हटाकर आभ्यंतर की ओर अग्रसर कर लिया, और जुट गये सभी उस पथ की खोज में जिसे पूर्ववर्ती तीर्थङ्करों द्वारा प्राप्त किया गया था। महावीर ने उसी मोक्ष-रूपी पथ पर चलने के लिए प्राणी मात्र को संकेत किया। भ्रमण करते हुए आप उज्जयनी नगरी में जा पहुंचे, वहां अतिमुक्तक नामक 'श्मशान' भूमि में ध्यानस्थ हो गये। उसी समय 'भव' नाम के विद्याधर ने उनके ऊपर उपसर्ग कर ध्यान से विचलित करना चाहा, पर आत्म साधक को विचलित न कर पाये। तभी से आप 'अतिवीर' कहलाये।

उज्जैन से विहार करते हुए कौशाम्बी नगरी में जा पहुंचे और वहां ही सती 'चंदना' से आहार लेकर पुनः वन की ओर प्रस्थान कर दिया। इस प्रकार विविध स्थानों पर विहार करते हुए एवं बारह वर्ष तपश्चरण के उपरांत ब्यालीस वर्ष की अवस्था में केवलज्ञान प्राप्त किया।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदाय इस बात को प्रमाणित मानते और केवलज्ञान की प्राप्ति का स्थान भी एक ही मानते हैं, भ्रमण के स्थानों में मतभेद है, फिर भी यह तो निश्चय हो ही जाता है कि 'महावीर' ने बारह वर्ष के तपश्चरण के उपरांत ही केवलज्ञान प्राप्त किया।

केवलज्ञान होने के उपरांत आप सर्वज्ञ कह-

1. सूत्रकृतांग श्रु. 1।अ० 6— में महावीर के विषय में कहा गया:—

पुढोवमे धुणइ विगयगेही, न सण्णिहिं कुव्वति आसुपन्ने।
तरिउं समुद्दं व महाभवोघं अभयंकरे वीर अणंतचक्खू ॥25॥

2. धर्मशर्माभ्युदय सर्ग : 9।13।

लाये। तब देवों द्वारा समवशरण (सभागृह) की विशाल रचना की गई। देखिये 'जीवन्धरचम्पू' में वर्णित 'समवशरण' की शोभा का अत्यंत रमणीक वर्णन :—

"यस्याः पार्श्वे रत्नरेणुप्रक्लृप्तो
धूलीसालः शक्रचापानुकारी।
प्रहर्षायं मुक्तिलक्ष्म्या वरीतु
क्षिप्तुं रेजे कङ्कणं वा समीपे ॥[1]

अर्थात् समवशरण सभा के पास ही रत्नों की धूलि से निर्मित, इन्द्र-धनुष का अनुकरण करने वाला धूलिसाल नामका कोट था जो कि ऐसा जान पड़ता था, मानों जिनेन्द्र देव को वरण करने के लिए मुक्ति रूपी लक्ष्मी के द्वारा पास में फेंका कङ्कण ही था।

उस समवशरण सभा में गगनतल को चुंबित करने वाले एवं मंद-मंद वायु से हिलने वाली पताकाओं के अग्रभाग से सुशोभित चार मानस्तम्भ थे, जो कि क्रोधादि चार कषायों को नष्ट करने के लिए सभा की लक्ष्मी के द्वारा उठाई हुई चार तर्जनी नामक अंगुलियों का कार्य भार धारण करते हुए जान पड़ते थे। यथा :--

यस्यां च गगनतलचुम्बिनः स्पंदमानमंदपवमान कन्दलवलमानध्वजाग्रमानस्तम्भाः क्रोधादीनां चतुर्णां निरसनाय प्रसृतसंसल्लक्ष्मी तर्जनीकार्यधुर्वहा व्यराजन्त.........संततपरिस्फुरत्निशाकान्तविनिर्मितैर्भव्य संदोहाध्यासितैर्द्वादशकोष्ठैः प्रतिष्ठिताः विरराज .[2]

तथा :-चन्द्रप्रभचरितम् का एक उदाहरण : -

धूलीसालो वलयसदृशस्तस्य बभ्राम पार्श्वे
मानस्तम्भाश्चतसृषु महाविक्षु तस्यान्तरस्थाः।
चत्वार्यूर्ध्वं विकचकमलान्यांसि तेभ्यः सरांसि
तेभ्यश्चोर्ध्वं विविधकुसुमा खातिकावारिपूर्णाः॥

1. जीवंधरचम्पू ।11। श्लो॰ 41
2. जीवन्धरचम्पू पृ. 229 से 231 तक।

समवशरण गगनचुम्बी चार चैत्यालयों से सुशोभित, तथा अनेक प्रकार के धारागृहों, निकुञ्जों और सुवर्णमय क्रीड़ा पर्वतों से सुशोभित चार वन, मणियों से खचित तोरण, अलंकृत स्वर्णमयी वेदिका, मयूर, हाथी, सिंह आदि मुख्य चिह्नों से चिह्नित, आकाशमार्ग तक फहराने वाली ध्वजाओं से सुशोभित अत्यंत रमणीक प्रतीत हो रहा था। ऐसे सभागृह में पहुंचकर जीवन्धर ने भगवान महावीर की अर्चना, स्तुति आदि करके अपने आपको कृतकृत्य समझा। स्तुति के माध्यम से वर्णित भगवान महावीर की विशेषता देखिये:— सर्व प्रथम अष्ट प्रातिहार्यों का वर्णन ग्यारहवें लम्भ के श्लोक 47 से 51 तक। (गद्य-पद्य में)।

यथाः —भामण्डले जिनपते तव दर्शनार्थं सम्प्राप्ततिग्मरुचिमण्डलशङ्क्यमाने।

स्वातीतजन्मसरणिं मणिदर्पणाये संपश्यति प्रविशदं खलु भव्यसङ्घः॥

अर्थात् हे जिनपते! दर्शन के लिए आये हुए सूर्य मण्डल की शङ्का उत्पन्न करने वाले एवं मणिमय दर्पण के समान आभा रखने वाले आपके भामण्डल में भव्यजीवों का समूह स्पष्ट रूप से अपने अतीत जन्मों की परम्परा को देखता है। इत्यादि वर्णन करने के उपरांत:—

एवंभूतैरष्टाभि प्रातिहार्यैर्जुष्टः श्रीमन्मां भवाब्धौ निमग्नम्।

वीर स्वामिन्नुद्धरेति क्षितीशो भक्त्याधिक्याद्देवदेवं ननाम॥

अर्थात् हे श्रीमन्! वीर जिनेन्द्र! आप अष्ट प्रातिहार्यों से सेवित हैं। अतः आप "संसार रूपी सागर में डूबे हुए हम लोगों का उद्धार कीजिये" यह कहकर जीवन्धर ने भक्ति की अधिकता से

देवाधिदेव भगवान भगवान महावीर को नमस्कार किया ।

स्वामी समन्तभद्राचार्य ने अपने 'रत्नकरण्ड-श्रावकाचार' नामक ग्रन्थ के मंगलाचरण में कहा है कि मैं उन श्रीवर्द्धमान स्वामी को नमस्कार करता हूं जो समस्त कर्मों को नष्टकर तीनों लोकों को दर्पण के प्रतिबिम्ब के समान प्रत्यक्ष रूप में जानते हैं ।

यथा :—नमः श्रीवर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने ।
सालोकानाम् त्रिलोकानां यद्विद्यादर्पणायते ।।

श्री उमास्वामी ने अपने 'तत्वार्थ सूत्र' के मंगलाचरण में कहा है कि आप मोक्ष मार्ग के नेता हैं, कर्मरूपी पर्वतों को नष्ट करने वाले हैं, विश्व के समस्त तत्वों को एक साथ जानने वाले हैं अतः मैं उन्हें नमस्कार करता हूं ।

यथा :—मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेतारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ।।

अतः ऐसे जगत हितकारी संसारोदधि पारक भगवान महावीर स्वामी का पथ ही जीवन आनंद'को प्राप्त करा सकता है ।

भगवान महावीर ने कहा

जो खुद ही जीव-हिंसा करता है, और दूसरों से हिंसा कराता है तथा हिंसकों का समर्थन करता है, वह अपने लिये दुश्मनी को ही बढ़ाता है । अपने स्वार्थ के लिये या दूसरों के लिये क्रोध से अथवा भय से असत्य न वचन तो स्वयं बोलना चाहिये और न दूसरों से बुलवाना चाहिये । जिससे कि औरों को पीड़ा पहुंचे ।

ज्यों-ज्यों लाभ होता है लोभ भी त्यों-त्यों बढ़ता है । लोभ से सारी ही इज्जत नष्ट हो जाती है । लोभ को धर्य से वश में करना चाहिये । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच महाव्रत है । इनको ग्रहण कर धर्म का आचरण करना चाहिये ।

अहिंसा, तप और संयम यही धर्म मंगलकारी है । सुमार्ग पर चलने वाली आत्मा अपना मित्र है । पापी से घृणा न करो, उसके पाप से घृणा करो शायद पूर्ण निष्पाप तो तुम भी नहीं होगे । अपने आपको जीतना ही सर्वोत्तम विजय है ।

—वीरवाणी से
प्रेषक—सुरेन्द्र के० पाँड्या
जयपुर ।

महावीर का बोल

हैं स्वतन्त्र सब द्रव्य जगत के, किस पर किसका रोल है।
निज से निज को निज में भजले, महावीर का बोल है ॥

(1)

शुभ कर्मों से पुण्य कहाता, और अशुभ से पाप जी।
दोनों ही आश्रव में गर्भित, दोनों ही अभिशाप जी।
लोहे की हो या सोने की, बेड़ी ही है बाप जी।
बिना हुए शुद्धोपयोग, निश्चिन्त न होंगे आप जी।
मोक्ष-महल में वे ही पहुंचे, जिन्हें तत्त्व की तोल है ॥
निज से निज को निज में, भजले, महावीर का बोल है ॥

(2)

जैसे दही और शक्कर को मिला हुआ जब खाते हैं।
मोहीजन को एकरूप से ही दिखने में आते हैं।
तदपि विवेकी पृथक्-पृथक् अनुभव करते, बतलाते हैं।
वैसे भेदज्ञान के बल पर समझदार समझाते हैं।
राग भिन्न है, देह भिन्न है, भिन्न अतीन्द्रिय स.ल है ॥
निज से निज को निज में भजले, महावीर का बोल है ॥

(3)

घट, स्थाल, कुसूल, कोश, टुकड़े कपाल बन पाये रे।
भिन्न-भिन्न हैं कार्य सभी के, भिन्न-भिन्न कहलाये रे।
हैं भूतार्थ सभी पर्यायें, भेद सही समझाये रे।
द्रव्य-दृष्टि से मिट्टी ही हैं, अन्यपना ढ़ह जाये रे।
देव, नारकी, नर, पशु, कर्मिक पर्यायों का चोल है ॥
निजसे निज को निज में भजले, महावीर का बोल है ॥

(4)

व्यञ्जनलोभी नहीं लवण के शुद्ध स्वाद को गहते हैं।
दालमोठ नमकीन, सेव नमकीन, भरम में बहते हैं।
ज्ञेयलुब्धजन योंही सही ज्ञान से वञ्चित रहते हैं।
पुद्गल मिश्रित पर्यायों को, जीव द्रव्य ही कहते हैं।
अपना धर्म आपमें ही है, नहीं पराई पोल है ॥
निज से निज को निज में भजले, महावीर का बोल है ॥

श्री प्रसन्नकुमार सेठी

भगवान महावीर की जीवन झांकी

आज प्रायः सभी इतिहासकारों ने एक मत से यह स्वीकार कर लिया है कि भगवान महावीर ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया वह कोई नया धर्म नहीं था बल्कि वह उस समय से प्रचलित था जब से मानव सभ्यता का विकास हुआ। वह करोड़ों वर्ष पूर्व का काल था। अभी भी ऐतिहासिक और वैज्ञानिक उस काल की ठीक-ठीक लम्बाई नापने में सक्षम नहीं हुये हैं। फिर भी ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की ऐतिहासिकता अब सन्देह से परे सिद्ध हो चुकी है। उसी परम्परा का यत्किञ्चित् परिचय देते हुए लेखक ने भगवान महावीर के जीवन की झांकी यहां प्रस्तुत की है।

प्र० सम्पादक

☐ श्री हीरालाल कौशल
नई दिल्ली.

भारत में अनादिकाल से ही प्राणिमात्र को विकास और उत्थान का पथ दिखाने वाले महापुरुष होते रहे हैं। जन्म के समय वे हम और आप जैसे मानव ही थे परन्तु श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र के द्वारा उन्होंने स्वयं कर्मबन्धनों को काटा तथा अन्य प्राणियों को भी वह दिव्य मार्ग बताया। जैन परम्परा में ऐसे महापुरुषों को तीर्थंकर कहा जाता है। तीर्थ का अर्थ है (तीर्थंते संसार सागरो येन तत्तीर्थम्) जिसके निमित्त से यह संसार रूपी सागर तिरा जाय। वे महापुरुष भव-भ्रमण में फंसे हुये प्राणियों को तरने (छूटने) का मार्ग बताते हैं। ऐसे तीर्थङ्कर चौबीस होते हैं। तीर्थंकरों का जीवन वास्तव में अहिंसा के आधार से स्वयं अपना पूर्ण विकास करने तथा दूसरों को उस मार्ग पर लगाने की कहानी है।

श्री ऋषभदेवजी

प्राचीनकाल में प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव हुये जो अयोध्या के राजा नाभिराय के पुत्र थे और जिनका समय अगणित वर्ष पूर्व माना जाता है। उनका वर्णन वेदों तथा श्रीमद्भागवत् पुराण आदि ग्रन्थों में मिलता है। इस विषय में सुप्रसिद्ध दार्शनिक तथा भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ (Indian Philosophy Vol 1. P 287) में लिखा है:—

"इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जैन धर्म वर्द्धमान और पार्श्वनाथ से भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीर्थंकरों के नामों का निर्देश है। भागवत पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैन धर्म के संस्थापक थे।"

कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के कारण ये महापुरुष जिन या जिनेन्द्र कहे जाते हैं। तथा इनके द्वारा बताया मार्ग जैन धर्म कहलाता है। इनमें श्री ऋषभदेव के पश्चात् दूसरे अजितनाथ हुये हैं।

श्री नेमिनाथजी

तीर्थंकरों की इस उज्ज्वल परम्परा में द्वारिकापुरी में श्रीकृष्णजी के चचेरे भाई श्री अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थंकर हुये हैं। उनको श्री नेमिनाथ भी कहा जाता है। आपने अपने विवाह के समय बरात के अतिथि-सत्कार के लिये पकड़े हुये जीवों की चीत्कार को सुनकर विवाह का विचार छोड़ सर्वपरिग्रह त्याग दीक्षा ले ली थी और गिरनार (सौराष्ट्र) से निर्वाण प्राप्त किया था।

श्री पार्श्वनाथजी

तेईसवें तीर्थङ्कर वाराणसी के राजपुत्र श्री पार्श्वनाथ थे। वह तापसियों का युग था। धर्म के नाम पर तापसी बड़े-बड़े लक्कड़ जला.कर पंचाग्नि तप तपा करते थे। अपने दिव्य ज्ञान के द्वारा एक लक्कड़ में जलते हुये सर्प सर्पिणी को मरणोन्मुख देखकर उनको णमोकार मंत्र दिया था तथा इस घटना से विरक्त होकर निर्ग्रंथ साधु बन गये थे। तपस्या करते हुये अहिच्छेत्र (मुरादाबाद के निकट) में अपने पूर्व जन्म के शत्रु देव कमठ द्वारा घोर उपसर्ग सहकर तथा समस्त राग द्वेष मोहादि को विजय कर केवलज्ञान (पूर्ण दिव्य ज्ञान) प्राप्त किया था। आपने लगभग 70 वर्ष तक भारत के विभिन्न स्थानों में दिव्य ज्ञान का उपदेश देकर बिहार प्रान्त के हजारीबाग जिले में स्थित महान जैन तीर्थ श्री सम्मेदशिखरजी से मुक्ति लाभ किया था। तब से यह क्षेत्र भी आपके नाम से पार्श्वनाथ पहाड़ कहा जाता है।

श्री महावीर स्वामी

महावीर स्वामी चौबीसवें तीर्थङ्कर थे। आपका जन्म ईस्वी सन् से 599 वर्ष पूर्व, विक्रम संवत् से 542 वर्ष पूर्व और शक संवत से 677 वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन बिहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर जिले में नगर वैशाली के उपनगर क्षत्रिय कुंडग्राम (कुंडलपुर में) काश्यपगोत्री क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला प्रियकारिणी के उदर से हुआ था। उन दिनों वैशाली में गणतंत्रशासन का तथा बहुत ही समृद्धि की दशा में चल रहा था। सिद्धार्थ ज्ञातृवंशीय क्षत्रियों के राजा थे। रानी त्रिशला के पिता राजा चेटक उस गणतंत्र के अधिपति थे। उनकी अन्य कन्यायें कौशाम्बी नरेश शतानीक, दशार्ण देश नरेश दशरथ, कच्छ देश नरेश उदयन तथा मगध नरेश श्रेणिक को विवाही थीं। चंदना भी इन्हीं की सबसे छोटी पुत्री थी जिसने महावीर स्वामी को आहार देकर आर्यिका-दीक्षा ली थी। इस प्रकार राजा सिद्धार्थ का तत्कालीन नरेशों से निकट का सम्बन्ध था।

विभिन्न नामकरण

पुत्र के गर्भ में आने के पश्चात् ही से राजा सिद्धार्थ के यहां सब प्रकार की श्री वृद्धि हुई थी और आनंद छागया था। अतः पुत्र का नाम 'वर्द्धमान' रखा गया था तथा जन्म के बड़े-बड़े उत्सव मनाये गये थे।

वर्द्धमान जन्म से विशिष्ट पुण्यशाली और दिव्यज्ञानी थे। आपके बचपन में संजय और विजय नामक दो प्रसिद्ध मुनियों को तत्त्वार्थ विषयक कोई भारी सन्देह उत्पन्न हो गया था। जब उन्होंने वर्द्धमान को देखा तो दर्शनमात्र से उनका सब सन्देह दूर हो गया। तब बड़े ही सम्मानपूर्वक उन्होंने आपका नाम 'सन्मति' रखा।

'सन्मति' गंभीर विवेकी और आत्मज्ञानी होने के साथ बाल्यकाल से ही अत्यन्त धीर वीर साहसी और निडर थे। एक बार एक विशाल हाथी मदोन्मत्त होकर नगर में उत्पात करने लगा। सारे नगर में त्राहि-त्राहि मच गई। सब लोग जान बचाकर भागने और छिपने लगे। किसी की हिम्मत उसके सामने पड़ने की नहीं थी। उस समय

राजकुमार वर्द्धमान बड़े धैर्य से आगे बढ़कर उस बलशाली हाथी पर सवार हो गये तथा अपने बल से उसे वश में किया। समस्त जनता में आपकी प्रशंसा हुई और आप 'वीर' नाम से प्रसिद्ध हुये।

एक बार आप बहुत से राजकुमारों की अपनी मित्र मंडली के साथ वन में वृक्ष-क्रीड़ा कर रहे थे। थोड़ी देर में एक विशाल काय महा विकराल भयंकर सर्प आकर उसी वृक्ष से लिपट गया जिस पर वीर वर्द्धमान चढ़े हुये थे। आपके अन्य साथी सर्प से डरकर वृक्षों से कूदकर भाग खड़े हुये पर आप जरा भी नहीं घबराये और उस सर्प के साथ क्रीड़ा करते हुये उसे थकाकर निर्मद और वश में कर लिया। उसी समय से लोगों में आपका नाम 'महावीर' प्रसिद्ध हो गया।

अन्य अनेक साहसिक कार्यों के कारण आप 'अतिवीर' नाम से भी प्रसिद्ध हुये।

सच्ची विजय

ऐसे महा शक्तिशाली और साहसी होते हुये भी आपने न तो कभी अनेक राज्य विजय कर साम्राज्य बनाने के स्वप्न देखे और न हथियारों के द्वारा दूसरों को वश में करने की आकांक्षा की। वे इसे सच्ची जीत नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि और जीवन का लक्ष्य ही भिन्न था। उनका विचार था कि अनादिकाल से आत्मा के साथ लगे हुये कर्म शत्रुओं को जो आत्मा को विभिन्न योनियों में घुमाते और दुःख देते हैं, जीतना ही सच्ची विजय है।

वैराग्य

इस विचारधारा का उनके जीवन पर पूर्ण प्रभाव था। इसी कारण शरीर पर यौवन का पूर्ण आधिपत्य हो जाने पर भी विषय-वासना उन पर अपना अधिकार न जमा सकी। साथ ही उनकी गंभीरता तथा चिन्तनशीलता बढ़ती गई। संसार के मोहमाया पूर्ण वातावरण में उनका मन लगना कठिन था। साथ ही उस काल में धर्म के नाम पर हिंसा का सर्वत्र साम्राज्य था। निरीह पशुओं का यज्ञ में होम किया जाता था। नरमेध यज्ञों के नाम पर असहाय मानवों के बलिदान की प्रथा भी चल पड़ी थी। मानव-मानव में भेद बढ़ता जा रहा था तथा अत्याचार और परपीड़न बढ़ रहा था। ऐसी परिस्थिति में महावीर को अधिक समय तक संसार में फंसे रहना नहीं रुचा। आपने तीस वर्ष की भरी जवानी में समस्त राजपाट और वैभव से मुख मोड़ कर तथा आरम्भ परिग्रह का त्याग कर वन में जाकर निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली।

तपस्या

आप वन में शीत उष्ण वर्षा तथा समस्त अन्य कष्टों को सहते हुये तपस्या में लीन तथा शान्ति-पूर्वक विचारमग्न रहते थे। उनके शान्त स्वभाव, सरलता, त्याग और सर्व-प्राणि-समभाव का पशुओं तक पर गंभीर प्रभाव पड़ता था तथा पशु सिंह-गाय, नकुल-सर्प जैसे परस्पर विरोधी भी अपना बैर विरोध भूल जाते थे। जब कभी इच्छा और आवश्यकता होती नगर में आकर दिन में एक बार शुद्ध निर्दोष आहार लेकर पुनः वन में जाकर आत्मलीन हो जाते थे।

पूर्ण ज्ञान

बारह वर्ष की सतत साधना के पश्चात आत्मा से राग द्वेष मोहादि समस्त विकार दूर हो जाने पर पूर्ण ज्ञान (केवलज्ञान) प्रकट हो गया। अब वे वीतरागी और सर्वज्ञ बनकर संसार के समस्त प्राणियों को आत्म कल्याण का उपदेश देने लगे तथा तीर्थंकर महावीर कहलाये। चार कर्मशत्रुओं को अपनी आत्मा से अलग करने (हनन) के कारण उनको 'अरिहन्त' भी कहते हैं।

उपदेश

उनकी उपदेश सभा को 'समवशरण' कहा जाता था। उसमें छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, गोरे-

काले तथा स्त्री-पुरुष आदि का कोई भेदभाव नहीं था यहां तक कि पशु-पक्षी भी शान्ति से बैठकर धर्म श्रवण कर सकते थे। आपने अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्त, अध्यात्मवाद, कर्म सिद्धान्त और सर्व प्राणी-समभाव जैसे आत्मविकासी तथा मानव को महामानव और परमात्मपद प्राप्त कराने वाले सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर विश्व को नई दृष्टि और प्रेरणा दी। सभी जीव अपनी-अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार उन पर चलकर जीवन में सुख शान्ति तथा अन्त में आत्म कल्याण कर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

निर्वाण

महावीर स्वामी ने उनतीस वर्ष पांच मास और बीस दिन तक काशी कौशल, पंचाल, कलिंग, कुरु जांगल, कम्बोज, वाल्हीक, अंग, सूरसेन आदि देशों में विहार करते हुये लोगों को सुख-शान्ति का उपदेश दिया तथा अन्त में बिहार के पावापुर स्थान से कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व मोक्ष प्राप्त किया। सब कर्मों को दूर कर केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि आत्मिक गुणों का पूर्ण विकास कर वे सिद्ध, निरंजन, निर्विकार, परमात्मा और भगवान बन गये।

संयम की राह

□ श्री कार्तिकेय कुमार जैन
आचार्य-साहित्य एवं जैन दर्शन, जयपुर।

है अगर दया भाव दिल में हमारे,
तो अपनावें उनको, जो हैं बे सहारे।

क्षमाशील बनते हैं सोचें जरा हम,
वृथा क्रोध से देह को क्यों जलाते? ॥१॥

कर्ता स्वयं ही भर्ता स्वयं ही,
स्वयं स्वयं के फल पाने वाले।

नहीं है पर का जब लेना देना,
बातें जगत की वृथा क्यों बनाते? ॥२॥

कथन में क्रिया में बहुत भेद करते,
अपना पराया सदा देखते हैं।

कहां थे? कहां हैं? कहां जा रहे हैं?
पतन को ही उत्थान हम कह रहे हैं ॥३॥

नहीं हमको मालूम कठिन क्या सरल क्या,
करेंगे क्या चिन्तन मनन फिर बताओ।

अनभ्यास से है सरल भी कठिन,
कठिन भी सरल है अभ्यास से तो ॥४॥

सोचा न समझा विचारा न कुछ भी,
स्वेच्छानुकूलाचरण से जिये हम।

बिताया असंयम में जीवन सदा ही,
बताओ तो संयम का पथ कौनसा है ? ॥५॥

सदा इन्द्रियाधीन रहकर के हमने,
सुखाभास में सत् की संतुष्टि धारी।

रमें पर में, भूले स्वयं को, भला
बताओ तो संयम का पथ कौनसा है ? ॥६॥

तिमिर राह में श्रेष्ठ दीपक जलाकर
आलोक से जो मंजिल बनाता।

उसे भूलकर श्रेय हम चाहते हैं,
बताओ तो संयम का पथ कौनसा है ? ॥७॥

रसास्वाद हेतु स्वमर्याद तज-कर,
खाते हैं भक्ष्य और अभक्ष्य को भी।

श्रुतज्ञान आलोक की राह खोकर,
बताओ तो संयम का पथ कौनसा है ? ॥८॥

वैषम्य दृष्टि से परिपूर्ण होकर,
अहं भाव की मान्यता से भरे हैं।

नहीं स्वार्थवश हमने सोचा विचारा,
बताओ तो संयम का पथ कौनसा है ? ॥९॥

मन इन्द्रियां जिनके वश में नहीं हैं,
हीं है जरा यत्न निरोध का भी।

अनातीत आशा से संयम को खोकर
बताओ कहां फिर कल्याण पथ है ? ॥१०॥

नर से नारायण बनने का वह मार्ग बताया महावीर

(श्री अनूपचन्द न्यायतीर्थ, जयपुर)

(१)

हे परम ज्योति ! हे परम पूज्य,
हे मानवता के महा धाम !
हे अगम्बराम्बर पूर्ण विज्ञ,
हे विश्ववंद्य ! शाश्वत प्रणाम ।।

(२)

हे युग संचालक महा पुरुष !
हे दलितोद्धारक महा संत !!
हे शान्ति सुधा के गहन सिंधु !
हे दिव्य अलौकिक ज्ञान वंत !!

(३)

तुमने प्राणी की पीड़ा को,
अन्तर में जाना महावीर ।
सुख प्राप्ति उपाय सोचने को,
हो उठा तुम्हारा मन अधीर ।।

(४)

आखिर तुमने पथ खोज लिया,
घर छोड़ चल दिये वर्धमान ।
माता की ममता पितृ-प्रेम,
ना रोक सका तुमको महान ।।

(५)

कह 'नमः सिद्धेभ्यः, दीक्षा धर,
निर्ग्रन्थ हो गये महा श्रमण ।
बोले "ढूंढूगा आत्म तत्व,
जो कारण यह संसार भ्रमण" ।।

(६)

कर घोर तपस्या प्राप्त किया,
कैवल्य श्रेष्ठ पावन अनूप ।
सुख दर्शन ज्ञान अनन्त वीर्य,
युत हुए परम अर्हंत स्वरूप ।।

(७)

फिर तीस वर्ष धर्मोपदेश,
दे सिखलाया था स्याद्वाद ।
हो सके समस्या हल सारी,
सब सोच सके हो निर्विवाद ।।

(८)

दी अनेकान्त की दिव्य दृष्टि,
औ सत्य अहिंसा सुखद रूप ।
सब धर्म समन्वय बतलाया,
मानव का निखरा शुद्ध रूप ।।

(९)

तुमने दानवता दूर भगा,
संक्लेशित जग का किया त्राण ।
समझाया असली धर्म तत्व,
दया, प्राणी मात्र का सम्मान ।।

(१०)

ना किसी जीव को पीड़ा हो,
हों यत्न पूर्वक सभी काम ।
संयम मय जीवन हो सबका,
इच्छाएं सीमित हो तमाम ।।

(११)

संग्रह की प्रवृत्ति दूर हटे,
हो सब जीवों में साम्य भाव ।
कल्याण जगत का इसमें है,
जो समझ सके निज पर स्वभाव ।।

(१२)

दृढ़ श्रद्धा ज्ञान चरित बल से,
दुख द्वंद दवानल हो पीर ।
नर से नारायण बनने का,
वह मार्ग बताया महावीर ।।

होनहार बिरवान के होत चीकने पात

आगे चलकर बालक अपने जीवन में कैसा निकलेगा इसका बहुत कुछ पूर्वाभास बालक के जन्म लेने पर ही हो जाता है। भगवान महावीर के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ। उनकी माता द्वारा शुभ स्वप्नों का दर्शन, माता-पिता की समृद्धि में वृद्धि, जन्म लेने पर इन्द्र द्वारा अभिषेक आदि घटनायें इसी बात की ओर इंगित करती थी कि महावीर की आत्मा अतीव पुण्यशाली थी। शास्त्रों में तीर्थङ्कर प्रकृति को सबसे ज्यादा पुण्यशाली प्रकृति माना है। वह पुण्य की पराकाष्ठा है। जिसके इस प्रकृति का उदय होता है वह जगत्पूज्य तीर्थङ्कर बन स्वयं अपना उद्धार तो करता ही है साथ ही अन्यों को भी भव-सागर से पार उतरने का सच्चा मार्ग बताता है।

—प्र० सम्पादक

वैद्य प्रकाशचन्द्र पांड्या
आयुर्वेदाचार्य, साहित्यरत्न, भीलवाड़ा।

आषाढ़ सुदी छठ का दिन ! महारानी त्रिशला सुकोमल शय्या पर सो रही थी और प्रगाढ़ निद्रा में हाथी, बैल, सिंह आदि के सोलह स्वप्न देख रही थी। अचानक उसकी निद्रा टूटी और उसने पास में सो रहे अपने पति से इनका फल पूछा। स्वप्नों को सुनकर पति बड़े प्रसन्न हुए और पत्नी से महा तेजस्वी पुत्र की जननी होना बतलाया। उसी दिन त्रिशला के गर्भ में महावीर अवतरित हुये।

गर्भ में बच्चा आते ही राजा सिद्धार्थ तथा उनके परिवार की श्री वृद्धि होने लगी। उनका तथा उनके परिवार वालों का चारों ओर यश फैलने लगा। उनका तेज, पराक्रम और वैभव बढ़ा। रानी त्रिशला की प्रतिभा चमकने लगी। वह सहज में ही अनेक गूढ़ प्रश्नों का उत्तर देने लगी। उनकी प्रजा भी उत्तरोत्तर सुख-शांति का अनुभव करने लगी। नौ माह सात दिन के गर्भकाल में 56 कुमारिका देवियों ने जननी त्रिशला की पूर्ण सेवा की। उनका सब प्रकार के सुख-साधनों से मनोरंजन किया और अपने को धन्य माना।

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन महारानी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया। चारों ओर आनन्दोल्लास छागया। इन्द्र एवं देवताओं से भी नहीं रहा गया। वे अपने परिवार के साथ कुण्डलपुर आकर पूर्ण आनन्द एवं उल्लास के साथ शिशु महावीर को ऐरावत हाथी के सिंहासन में बैठाकर सुमेरू पर्वत पर ले गये और उनका अभिषेक किया। वहीं पर शिशु के दाहिने पैर पर 'सिंह' का चिन्ह देखा गया और उसी के आधार पर उनका चिन्ह 'सिंह' घोषित किया गया। अभिषेक की क्रिया समाप्त होने पर उसी प्रकार ऐरावत हाथी पर बैठाकर वापस कुण्डलपुर के राज-भवन में शिशु महावीर को लाया गया और इन्द्र आदि देव उनकी वंदना कर स्वर्ग को चले गये।

शिशु महावीर का सुखमय जीवन बढ़ने लगा। समस्त परिवार अपने आपको बड़ा भाग्यशाली मानने लगा। शिशु महावीर के जीवन को नित्य वृद्धिगत होते देख माता-पिता ने उनका नाम वर्द्धमान रख दिया।

बालक वर्द्धमान जन्म से ही स्वस्थ, सुन्दर, और आकर्षक व्यक्तित्व वाले बालक थे। वे आत्म-ज्ञानी, विचारवान्, विवेकी और निर्भय बालक थे। डरना तो उन्होंने सीखा ही न था। वे साहस के पुतले थे। एक बार एक हाथी मदोन्मत्त हो गया और गजशाला से निकलकर शहर में उपद्रव मचाने लगा। सम्पूर्ण शहर के लोग घबरा उठे। इधर-उधर भागने लगे। लेकिन, राजकुमार वर्द्धमान नहीं घबराये। उन्होंने अपनी शक्ति तथा युक्ति से तत्काल ही गजराज पर काबू पा लिया। लोग यह देखकर स्तंभित रह गये। उनको तब से 'वीर' कहा जाने लगा।

महावीर शंकाओं के समाधान-कर्त्ता न थे, वरन् वे स्वयं समाधान थे। बहुत-सी शंकाओं का समाधान उनकी सौम्य आकृति ही कर देती थी। बड़े-बड़े ऋषिगणों की शंकाएं उनके दर्शन मात्र से शांत हो जाती थी। संजय और विजय नाम के दो चारण मुनियों को तत्वार्थ विषयक कोई भारी संदेह उत्पन्न हो गया था। इन दोनों को राजकुमार महावीर के दर्शन मात्र से उनका सब संदेह तत्काल दूर हो गया। उन्होंने राजकुमार महावीर का नाम 'सन्मति' रख दिया।

एक दिन पिता ने पुत्र से कहा-पुत्र! अब तुम पूर्ण युवा हो गये हो मैं तुम्हारा विवाह कर तुम्हें राज्य भार सौंप दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूं।' पुत्र ने बड़े ही संयम, धैर्य, और निर्भीकता से उत्तर दिया—'पिताजी! आप जिस संसार से बचना चाहते हैं-उसमें मुझे आप क्यों कर फंसाना चाहते हैं? मुझे तो आप आज्ञा दीजिए कि मैं जंगल में जाकर शांत वायु मण्डल में रहूँ और आत्म-ज्योति प्राप्त करूं तथा संसार का कल्याण करूं।' पिता-पुत्र में थोड़ी देर शंका-समाधान होता रहा। आखिर पिता को पुत्र की बात माननी पड़ी और राजकुमार महावीर दीक्षा के लिए चल दिये।

इस प्रकार जन्म से ही महावीर में बुद्धि और शक्ति का असाधारण विकास था और उनकी इस प्रकार की घटनाएं उनके भावी असाधारण व्यक्तित्व को सूचित करती थी। इसीलिये महावीर पर यह कहावत ठीक उतरती है—

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात।

दिव्य-वाणी

सम्माइट्ठी कालं बोलइ वेरग्गणाण भावेण।
मिच्छाइट्ठी वांछा दुब्भावालस्स कलहेहिं॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि वैराग्य और ज्ञान भावों में तथा मिथ्यादृष्टि आकांक्षा, दुर्भावना और आलस्य में अपना समय व्यतीत करता है।

—आ० कुन्दकुन्द

भगवान महावीर

ढाई हजार वर्ष के बाद भी वर्तमान की उज्ज्वल आशा

यद्यपि भगवान महावीर का जन्म आज से 2573 वर्ष पूर्व हुआ था किन्तु उन्होंने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया वे आज भी उतने ही प्रेरणा दायक हैं जितने कि उस समय थे और भविष्य में भी युगों-युगों तक रहेंगे। वे न कभी पुराने पड़े हैं और न कभी पुराने होंगे। वे तो चिरन्तन नवीन सत्य हैं। निराश दुःख संपन्न आत्माओं को सुख और शान्ति के दाता हैं। यह है वह बात जो वयोवृद्ध साहित्य सेवी श्री जैन अपनी इस रचना में बताना चाहते हैं।

—प्र० सम्पादक

□ श्री प्रतापचन्द्र जैन
आगरा

ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत में मिथ्यातर्कों के जटिल जाल, धर्म के नाम पर पशु बलि तथा रूढ़ियों से ग्रस्त पुजारियों के एकाधिकार ने स्थिति को इतना दूषित कर दिया था कि संसार से ऊबकर आत्म-शान्ति की तलाश में निकलने वालों को मिलने लगे थे आपसी विवाद बढ़ाने वाले तर्क। दर्शन शास्त्र की द्वेषपूर्ण चर्चाओं से आत्मा का दर्शन पाना असम्भव हो चला था और मानव मस्तिष्क उद्विग्न हो उठा था। तभी धार्मिक एवं नैतिक अभ्युत्थान के लिये इस धरा पर चीन में लाओत्से और कन्फ्यूशियस, यूनान में सोक्रेटीज और प्लैटो, मिश्र में पिथागोरस तथा भारत में बुद्ध और महावीर का जन्म हुआ। इतिहासकार एच. जी. वैल्स ने भी लिखा है कि "ईसा पूर्व की छठी शती इतिहास में बड़े महत्व की थी। उन दिनों हर जगह मानव मठाधीशों और बलि हिंसा से ऊब गया था।"

महावीर का जन्म—चैत्र शुक्ला त्रयोदशी–सोमवार ता. 27 मार्च ई. पूर्व 598 में हुआ। उनके पिता थे वैशाली गणराज्य के क्षत्रिय कुण्डग्राम प्रमुख सिद्धार्थ और माता थीं विदेह के लिच्छवि गणराज्य के प्रमुख चेटक की पुत्री प्रियकारिणी त्रिशला। (कुछ पुराणकारों का मत है कि त्रिशला चेटक की बहन थी)। इनका जन्म का नाम था वर्द्धमान।

बालपन-महावीर उस काल के वैभवशाली राजघराने में पले। संसार की सभी सुखसुविधाएं उन्हें प्राप्त थीं। फिर भी वे उनसे विरक्त रहे आते। वे बचपन से ही निडर और पराक्रमी थे। एक बार वे कई राजकुमारों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे। इतने में एक भयंकर सर्प निकल आया। अन्य सब बालक तो भय से भाग खड़े हुये किन्तु वे अविचल रहे। उन्होंने उस सर्प को बगैर किसी भय के उठाकर एक ओर छोड़ दिया। ऐसे ही एक बार एक मस्त हाथी राजधानी की सड़कों पर उपद्रव

करने लगा। लोगों में भगदड़ मच गई। किसी को स हस नहीं हो रहा था उसके पास से निकल जाने का। इतने में महावीर वहां पहुँचे। उछल कर उस पर आ बैठे और एक ही मुष्टि प्रहार से उसका मद चूर कर दिया। वे जन्म से ही मति, श्रुति और अवधि-ज्ञान के धारी थे। एक बार संजयंत और विजयंत नामक दो मुनि कुछ शंकाओं के समाधान के सिलसिले में इधर आ निकले। बालक वर्द्धमान को देखते ही उनकी शंकाओं का समाधान हो गया।

युवावस्था और विवाह का प्रस्ताव–महावीर जब युवा हुए तो उनके विवाह का प्रस्ताव आया कलिंग नरेश जितशत्रु की ओर से उनकी परम सुन्दरी गुणवती कन्या यशोदा के साथ। माता पिता ने भी बड़ा आग्रह किया परन्तु वे तो जन्म से ही संसार से विरक्त थे। उन्होंने विनयपूर्वक विवाह का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया।

दीक्षा, तप, और केवलज्ञान–महावीर को तो जीवन मरण के दुश्चक्र से मुक्त होकर अपनी आत्मा का कल्याण करना था। वे लगभग 30 साल की भरी जवानी में मंगशिर कृ. 10 सोमवार 29 दिस. ई. पू. 569 को दीक्षा ले ज्ञातृखण्ड वन की ओर चल दिये। संसार का वह अपार वैभव उन्हें बांध कर नहीं रख सका। वे शाल वृक्ष के नीचे घोर तप करने लगे। तपस्या-काल में उनके ऊपर बड़े-बड़े कष्ट और घोर उपसर्ग आये। पूर्व में बंधे कर्मों का सब जो होना था। परन्तु वे क्षीण कषाय, अविचल रहे और महावीर कहलाये। लगभग बारह वर्ष के कठिन तप और परीक्षाओं के बाद वैशाख शुक्ला 10–रविवार–26 अप्रेल ई.पू. 557 के दिन उन्हें केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की प्राप्ति हुई और उनका प्रथम उपदेश विपुलाचल पर्वत पर से श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को हुआ।

धर्म देशना, धर्मचक्र और महावीर निर्वाण—इस प्रकार पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर वे तीस वर्ष तक उत्तर दक्षिण, पूर्व और पश्चिम विहार करते हुए संसारी प्राणियों का कल्याणकारी धर्मोपदेश द्वारा उद्धार करते रहे। राजा बिम्बसार (श्रेणिक) उनकी धर्म सभा में आते थे। जहां जहां भी उनकी धर्म सभा होती धर्मचक्र उनके आगे चलता। धर्मोपदेश देते-देते वे पावापुरी पहुँचे। वहां अड़तालीस घंटे योग निरोध कर आठों कर्मों का क्षय होने पर उन्होंने कार्तिक कृष्णा मावस-मंगलवार 15 अक्टूबर ई. पू. 527 को निर्वाण (मोक्षधाम) प्राप्त किया। वे जन्म-मरण के अनन्तकालीन दुश्चक्र से मुक्त हो गये।

महावीर का तत्व दर्शन–महावीर ने संसार में भटकती आत्माओं के उद्धार के लिये मानव को सात तत्वों का दर्शन कराया। वे हैं जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष (मुक्ति)। इन सात तत्वों का बोध कराकर उन्होंने कषायहीनता की जो अद्भुत वैज्ञानिक दृष्टि दी वह घोर विषमताओं से युक्त आज के युग की समस्याओं को भी हल कर सकती है। उन्होंने बताया कि हर प्राणी में जीव तत्व है जो अपने में शुद्ध-बुद्ध और मुक्त है परन्तु अजीव तत्व के परमाणुओं के आश्रय (आते रहने) के कारण कषाय जन्य कर्म-मल से लिप्त है। जीव को अपने शुद्ध रूप में लाने के लिए उस कर्ममल के आश्रव का संवरण करो यानी उसके आने को रोको और फिर जो कर्म परमाणु आकर आत्मा से बंध चुके हैं उनकी निर्जरा करो यानी उन्हें निकाल बाहर करो। यह हो सकेगा संयम साधना, तप और त्याग की ओर प्रवृत होने से। उनसे पूर्व के तीर्थङ्करों ने तप त्याग और साधना की सीढ़ी पर चढ़ने के लिए चातुर्याम-धर्म यानी अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह का साधन बताया था। ब्रह्मचर्य को उन्होंने, अपरिग्रह में ही माना था परन्तु महावीर ने ब्रह्मचर्य का भी स्वतन्त्र विधान किया। तब से चातुर्याम से पांच, अणुव्रतों का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने बताया कि अणुव्रत से आरम्भ कर मानव इन्हें महाव्रत के रूप में अन्तरंग से पालता हुआ त्याग और साधना के पथ पर एकाग्र

होकर बढ़ता जाय तो एक दिन जीव कर्मरूप को जलाता हुआ उन्हीं की भांति शुद्ध रूप को प्राप्त हो सकता है।

महावीर का जीवन दर्शन - महावीर की दृष्टि प्रगतिशील और सार्वभौमिक थी। उन्होंने अन्तरंग शुद्धि के लिए तत्वदर्शन के साथ-साथ मानव को बाह्य शुद्धि के लिए जीवन दर्शन भी दिया-क्योंकि अन्तरंग शुद्धि के लिए बाह्य शुद्धि भी आवश्यक है। उसके जीवन दर्शन में सबसे प्रमुख हैं-

अहिंसा—जो मानवता का प्राण तत्व है। जीवन और मुक्ति का आधार है, प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने इसका उद्बोधन किया था कृषि रूप में ताकि भूख से लोग क्रोधित होकर एक दूसरे को मारकर खाने न लग जायं। भगवान महावीर ने विरोधी हिंसा को भी गृहस्थ के लिए त्याज्य नहीं माना। उन्होंने बताया कि बाहर से किसी के प्राणों का घात हो या न हो, यदि अन्दर की मनोवृत्ति दूषित है तो वह हिंसा है। कितनी व्यावहारिक और व्यापक है महावीर प्रणीत अहिंसा।

महावीर की दृष्टि (बाह्य एवं अन्तरंग) इतनी दिव्य और सूक्ष्म हो गई थी कि आज से हजारों वर्ष पहले ही पृथ्वीकाय, आकाशकाय, वायुकाय, जलकाय, अग्निकाय, और वनस्पतिकाय जैसे सूक्ष्मतम जीवों तक का पता लग चुका था। उन्होंने पशु जगत से ही नहीं उनसे भी ऐसी संवेदनात्मक आत्मीयता पाली कि उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुंचाना उनके साध्य जीवन का मूल आधार बन गया था।

अनेकान्त—तर्क युद्धों की चल रही दुश्मनोवृत्ति का अन्त करने के लिए महावीर ने अनेकान्त दर्शन दिया। उन्होंने कहा कि हमारे लिए पूर्ण शाश्वत सत्य अनिर्वचनीय है। उसके अंश को ही हम एक साथ कह सकते हैं, देख सकते हैं। अतएव अनेकों की अनेक बातों में कुछ न कुछ सत्य, अवश्य होता है। हमें सहिष्णु होकर दूसरों के सत्य को स्वीकार करना चाहिये। अपनी बातें कहते और दूसरों की सुनते हमारी आंखें लाल न हों। इस सर्व समभाव सिद्धान्त को स्याद्वाद के द्वारा जाना-पहचाना जाता है। दिनकर जी के शब्दों में यदि विश्व के राजनीतिज्ञ अनेकान्तवादी हो जायें तो संसार में और देश में शान्ति स्थापित हो सकती है।

अपरिग्रह—शोषण और विषमताओं से मुक्ति पाने के लिए महावीर ने अपरिग्रह का उपदेश दिया। उनका कहना था कि परिश्रम और पुरुषार्थ से उत्पादन और उपार्जन तो खूब करो, इसकी कोई सीमा नहीं, परन्तु उसके उपयोग की सीमा बांधो। अपनी आवश्यकताओं को निश्चित सीमा में रखकर जो बचे उसे अन्य कमजोर एवं जरूरत मन्दों में बांट दो। कैसा सुन्दर आधार बताया था महावीर ने सुखी समाज, सुखी राष्ट्र और सुखी विश्व बनाने का। महावीर का यह उपदेश आज आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

आलोचना—मानव सजग रहे, अपनी करनी और न करनी के प्रति। इसके लिए महावीर ने दैनिक उपासना विधि में आलोचना (सैल्फ क्रिटिसिज्म) द्वारा अपने दोषों को स्वीकार करने का उपदेश जन जन को दिया। भविष्य में सावधान रहने एवं पारस्परिक सद्भावना बनाये रखने के लिए कैसा अमोघ अस्त्र है यह। गांधीजी सबसे ज्यादा बहादुरी और साहस का काम अपनी भूल को स्वीकार करने में ही मानते थे।

महावीर की अद्वितीयता—महावीर अन्य पैगम्बरों की भांति प्रभु रूप नहीं जन्मे और न मानव लीलायें कर वे पुनः प्रभु रूप बने। वे तो सब की भांति ही मनुष्य रूप जन्मे। उन्होंने ईश्वरत्व को और कहीं नहीं, अपने अन्दर ही देखा और पाया। मानव को उसकी आत्मा की शक्ति का बोध कराया वह किसी भी जाति या वर्ण का क्यों न हो। उन्होंने ऋषभदेव काल से चली आ रही धर्म

की लीक से ही नूतन और क्रान्तिकारी ढंग से आगे बढ़ाया। आज भी जैन और जैनेतरों के बीच जो सद्भावना दीख पड़ती है, वह उनकी समन्वयवादी देशना की ही देन है। उन्होंने दलित और अपमानित नारी जाति को भी स्वयं भगवान की जननी का पद देकर गौरवान्वित किया। उसे पुरुषों के समान दीक्षा की अधिकारिणी बनाकर महान क्रान्तिकारी कदम उठाया।

वर्तमान की उज्ज्वल आशा—ढाई हजार वर्ष बीत जाने पर भी महावीर के इन सारे तत्वों का एकत्र दर्शन आज भी उतना ही हितकारी, गतिशील और प्रेरणादायक है। वे कोई भूतकाल की घटना नहीं, वर्तमान की एक तेजोमयी उज्ज्वल आशा हैं। आवश्यकता है केवल उनके बताए मार्ग पर शुद्ध हृदय से चलने की।

नवगीत

देवता शाश्वत काम किया।
सत्य अहिंसा के चक्षु दे
स्याद्वाद का अंजन आंज दिया
देवता शाश्वत काम किया॥
घृणा द्वेष की नागफनी के
उगे चुभे फिर शूल।
हिंसा से मुक्ति मिलती
सदियों दोहराई भूल॥
यज्ञकुण्ड से उठी गन्ध को सुरभि का दान दिया।
देवता शाश्वत काम किया॥
ज्ञान दीप की टिम-टिम कर
थी बुझने को बाती।
मंगल-कलश लिए मुस्काती
आई - प्रभाती॥
ज्ञान-ज्योति का युगों-युगों को शाश्वत दान दिया।
देवता शाश्वत काम किया॥
वर्णभेद की विषकन्या ने
शान्ति डस डाली।
कलियां फूल उदास सभी थे
बेबस था माली॥
लोक मंगल के छन्दों से युग का शृंगार किया।
देवता शाश्वत काम किया॥

□ श्री मिश्रीलाल जैन

एडवोकेट, गुना।

भगवान महावीर के आत्मोत्थान की चरम परिणति मोक्ष अथवा निर्वाण उनके एक जन्म के नहीं कई पूर्व जन्मों के प्रयास का फल था। दि० सम्प्रदायानुसार २७ भवों की साधना का प्रतिफल था किन्तु दोनों ही संप्रदाय इस बात में एक मत हैं कि भगवान महावीर के आत्मा के उत्थान की प्रक्रिया उनके भील जीवन से प्रारंभ हुई थी। इस भील के भव में उनका नाम दि० मान्यतानुसार पुरुरवा एवं श्वे० मान्यतानुसार नयसार था। भगवान महावीर के जीवन सम्बन्धी घटनाओं को लेकर दोनों सम्प्रदायों की मतविभिन्नताओं का दिग्दर्शन कराते हुए जैनेतर मनीषी भगवान महावीर, अहिंसा एवं जैन धर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में क्या कहते हैं यह है इस लेख का वर्ण्य विषय जो हमारे पाठकों के जैन धर्म सम्बन्धी सामान्य ज्ञान की वृद्धि में पर्याप्त सहायक होगा ऐसा हमारा विश्वास है।

—प्र० सम्पादक

भगवान महावीर और उनकी अहिंसा
मनीषियों की दृष्टि में

□ श्री गणेशप्रसाद जैन
वाराणसी

महावीर ने कहा था—"अपने आपको जीतना ही संसार में सब से बड़ी जीत है। अपने को जीतना संसार को जीतना है। 'आत्मा को जीत लेने पर फिर कुछ जीतना बाकी रहता ही नहीं। 'शत्रु' बाहर नहीं, अन्दर ही है। अहंकार में, वासना में वह छिपा हुआ बसा रहता है। जब तक उसका सानिध्य रहेगा, दुःख से छुटकारा सम्भव नहीं है। उसकी समाप्ति आनन्द का सागर है। किन्तु उस शत्रु का हनन, उसकी समाप्ति एक जन्म में नहीं, अनेकों जन्मों का प्रयास होगा। महावीर की भी यह विजय एक जन्म के प्रयास की नहीं थी, अनेकों जन्मों के संघर्ष पश्चात् ही प्राप्त हो पायी थी।

जैन-शास्त्रों में वर्णित है—अनेकों भवों (जन्मों) पूर्व श्री महावीर का जीव एक भील था। नाम था 'पुरुरवा'। पत्नि-पति शिकार के लिए निकले। उन्हें एक झाड़ी में दो चमकती आँखें दिखीं। पुरुरवा ने शर सन्धान कर लक्ष्य साधा। बाण छूटने वाला ही था कि रानी भीलनी ने उसे पकड़ रक्खा।

भीलनी बोली—"पशु नहीं—"वन देवता"। दोनों निकट गये। झाड़ी के मध्य एक 'मुनि' समाधि में बैठे थे। मुनि ध्यान से उठे। उन्होंने भील दम्पति को सम्बोधित करते हुए कहा—"तुम मोह में पड़े क्यों भटक रहे हो? तुम अपना प्रयास पूर्ण करो! विश्व तुम्हारा आराधक बनेगा।" भील की आँखें विस्फारित हो उठीं, वह बोला—"सो कैसे भगवन्"?

मुनिराज ने कहा—"बात कोई बड़ी नहीं, बहुत ही छोटी है। अपने को तुम जीत लो, सब कुछ स्वयं ही हो जायेगा। इस शरीर को अपना मानना ही भ्रम है, मूढ़ है। यह नष्ट होकर इसी मिट्टी में मिल जाने वाला है। भीतर वाला हंस उड़कर

दूसरी डाल (दूसरे-शरीर) पर बैठेगा ही, जो हंस उड़ेगा वही तुम हो। केवल शरीर नाशवान है। आत्मा नहीं, वह तो अजर-अमर है। आत्मा ही हंस है, क्षीर-नीर का विवेकी है। शरीर का मोह छोड़ो दूसरों की दासता में अनेक जीवन बिताये हैं, अब चेतो और इसकी "दासता" से मुक्त होने का प्रयास करो।"

भील आश्चर्य से चकित था। वह भील-पल्ली का सरदार था। राजा था। वह बोला—भगवन्! मैं 'दास' नहीं, भीलों का राजा हूं। महामुनि बोले—भीलराज तुम भ्रम में हो। भटक रहे हो। दो अंगुल की जीभ की 'दासता' के लिये ही न जंगल-जंगल भटक रहे हो? यह तुम्हारे बस में नहीं है। तुम्हें 'दास' बना तुम्हारे द्वारा जीवों का नित्य घात करा रही है। उसके स्वाद के तृप्ति के लिये ही तो तुम रात दिन प्रयास रत हो? जीभ का आदेश क्या तुम टाल पाते हो? नहीं! फिर तुम दास नहीं तो और क्या हो?

'पुरुरवा' भील का मानस सितार के तारों की झन्कार समान झंकृत हो उठा। उसे अपनी चर्या का, अपने जीवन का, यथार्थ दर्शन होने लगा। उसके मन को मुनि के उपदेश रूपी किरण ने आलोकित कर दिया था। उसकी चेतना चिन्तित हो उठी थी। नये नये संकल्प-विकल्प ज्वार-भाटा की तरह उफनने लगे थे। उसने कहा—केवल जीभ से ही नहीं बारम्बार के जीवन-मरण से भी स्वतन्त्र होना है स्वयं अपना ईश्वर बनना है। प्रतिज्ञा ली। "ईश्वर, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर बनने के प्रयास में सदा लगा रहूंगा।" और 'पुरुरवा' इस लम्बे प्रयत्नों के पश्चात् अनेक जन्म-जन्मान्तरों में भटकता कठिन संघर्षों को सहता सचमुच ही तीर्थङ्कर महावीर बन कर मुक्त हो गया।

जैन-धर्म के प्रमुख दोनों सम्प्रदायों (दिगम्बर और श्वेताम्बर) के प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश आदि के ग्रन्थों में तीर्थङ्कर श्री महावीर के पूर्व-भवों का विवरण विस्तार पूर्वक वर्णित है। दोनों में ही प्रथम भव भीलराज का है। दिगम्बर सम्प्रदाय में 33 और श्वेताम्बर में 27 भवों का वर्णन है—प्रारम्भ से 22 तक और अन्तिम 5 भवों में केवल मात्र साधारण सा नाम परिवर्तनादि ही है और सब एक सरीखा ही है। किन्तु श्वेताम्बर ग्रन्थों में दिगम्बर ग्रन्थों में वर्णित 23 में से 28 भवों तक का कथन नहीं है यह एक विचारणीय बात है। यह सत्य है कि अन्तिम भव श्री महावीर के जीवन वृतान्त में दोनों सम्प्रदायों के मत में अनेक भिन्नतायें अवश्य हैं—भगवान महावीर के पूर्व भवों का वर्णन शास्त्रों में निम्नलिखित है—

दिगम्बर आम्नाय में

1. पुरुरवा भील
2. सौधर्म देव
3. भरत चक्रि का पुत्र मरीचि
4. ब्रह्मस्वर्ग का देव
5. जटिल ब्राह्मण
6. सौधर्म स्वर्ग का देव
7. पुष्यमित्र ब्राह्मण
8. सौधर्म स्वर्ग का देव
9. अग्निसह ब्राह्मण

श्वेताम्बर-आम्नाय में

1. नयसार भिल्लराज
2. सौधर्म का देव
3. भरत चीक का पुत्र मरीचि
4. ब्रह्म स्वर्ग का देव
5. कौशिक ब्राह्मण
6. ईशान स्वर्ग का देव
7. पुष्य मित्र ब्राह्मण
8. सौधर्म स्वर्ग का देव
9. अग्न्युद्योत ब्राह्मण

10. सनत्कुमार स्वर्ग का देव	10. ईशान स्वर्ग का देव
11. अग्नि मित्र ब्राह्मण	11. अग्निभूत ब्राह्मण
12. महेन्द्र स्वर्ग का देव	12. सनत्कुमार स्वर्ग का देव
13. भारद्वाज ब्राह्मण	13. भारद्वाज ब्राह्मण
14. महेन्द्र स्वर्ग का देव (त्रसस्थावर योनि के असंख्य भव)	14. महेन्द्र स्वर्ग का देव। अन्य अनेक भव
15. स्थावर ब्राह्मण	15. स्थावर ब्राह्मण
16. महेन्द्र स्वर्ग का देव	16. ब्रह्म स्वर्ग का देव
17. विश्व नन्दी (मुनिपद में निदान)	17. विश्व भूति (मुनिपद में निदान)
18. महाशुक्र स्वर्ग का देव	18. महाशुक्र स्वर्ग का देव
19. त्रिपृष्ठ नारायण	19. त्रिपृष्ठ नारायण
20. सातवें नरक का नारकी	20. सातवें नरक का नारकी
21. सिंह	21. सिंह
22. प्रथम नरक का नारकी	22. प्रथम नरक का नारकी
23. सिंह (मृग-भक्षण के समय चारण मुनि द्वारा सम्बोधन)	×
24. प्रथम स्वर्ग का देव	×
25. कनकोज्ज्वल राजा	×
26. लान्तव स्वर्ग का देव	×
27. हरिषेण राजा	×
28. महाशुक्र स्वर्ग का देव	×
29. प्रियदर्शी चक्रवर्ती	23. पोटिल्ल या प्रियमित्र चक्रवर्ती
30. सहस्रार स्वर्ग का देव	24. महाशुक्र स्वर्ग का देव
31. नन्द राजा (तीर्थंकर-प्रकृति का बन्ध)	25. नन्दन राजा (तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध)
32. अच्युत स्वर्ग का इन्द्र	26. प्राणत स्वर्ग का इन्द्र
33. ती. श्री महावीर (भगवान श्री महावीर)	28. भगवान श्री महावीर

दोनों सम्प्रदाय दिगम्बर व श्वेताम्बर के आचार्यों ने 22 पूर्व भवों का वर्णन लगभग एक सरीखा ही किया है। किन्तु अन्तिम भव भगवान महावीर के वर्तमान भव में अनेक बातों (तथ्यों) में भिन्नता अवश्य मिलती है। जैसे—

1. दिगम्बर परम्परा में भगवान की माता को 16 स्वप्न आते हैं किन्तु श्वेताम्बर-परम्परा में 14 का ही कथन है।

2. श्वेताम्बर परम्परानुसार भगवान महावीर पहले देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में अवतरित हुए, पीछे नैगमदेव के द्वारा गर्भापहरण कराकर त्रिशला देवी के गर्भ में उन्हें स्थित किया गया। दिगम्बर परम्परा में गर्भ परिवर्तन की कथा नहीं है। ती० श्री महावीर सीधे त्रिशला देवी के गर्भ से उत्पन्न हुए।

3. दि० परम्परा में तीर्थंकर जन्म से ही तीन ज्ञान के धारी होते हैं। वह किसी गुरुकुल आदि में विद्या अध्ययन नहीं करते, किन्तु श्वे० परम्परा में महावीर के विद्यालय में विद्याअध्ययन का कथन है।

4. दि० परम्परा में महावीर बाल ब्रह्मचारी हैं किन्तु श्वे० परम्परा में उनका विवाह हुआ है और एक पुत्री भी थी।

5. दि० परम्परा में श्री महावीर ने दीक्षा लेते समय ही वस्त्र का त्याग कर दिया था किन्तु श्वे० परम्परा में एक वर्ष तक देव दूष्य वह रक्खे थे।

उपरोक्त भिन्नताओं के अतिरिक्त भ० श्री महावीर के ऊपर होने वाले उपसर्गों का वर्णन दि० परम्परा की अपेक्षा श्वे० परम्परा में अधिक है। इसी प्रकार दि० ग्रन्थों में श्री महावीर द्वारा आचरित नाना प्रकार की तपस्याओं का वर्णन विगतवार नहीं है, जबकि श्वे० परम्परा में उनकी तपस्याओं का उल्लेख निम्न लिखित है—

1. छह मासी अनशन तप	1
2. पांच दिन कम छह मासी तप	1
3. चतुर्मासिक	9
4. त्रैमासिक	2
5. अढ़ाई मासिक	2
6. द्विमासिक	6
7. डेढ़मासी	2
8. एकमासी	12
9. पक्षोपवास	72
10. भद्र प्रतिमा (2 दिन का)	1
11. महाभद्र प्रतिमा (4 दिन का)	1
12. सर्वतोभद्र प्रतिमा (10 दिन)	1
13. षष्टोपवास (बेला तप)	229
14. अष्टम भक्त (तेला तप)	12
15. पारणा दिन	349
16. दीक्षा दिन	1

उपरोक्त विवरण से सिद्ध है कि भ० महावीर ने अपने छद्मस्थ तपस्या काल में 12 वर्ष 6 माह और 15 दिन में केवल 349 दिन ही भोजन लिया था। अन्य शेष दिन उनके निर्जल उपवास के दिन थे। इसी प्रकार $12\frac{1}{2}$ वर्षों में उन्होंने केवल एक बार (कदाचित 48 मिनट) कुछ क्षणों की निद्रा ली थी अन्यथा शेष काल में सदा अनिद्र रहकर जाग्रत दशा में ही आत्म-साधना में लीन रहते थे।

भगवान के 11 गणधरों का भी उल्लेख दोनों परम्परा में एकसरीखा ही है किन्तु श्वे० परम्परा में इसका विशेष वर्णन है कि भ० से दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व किस-किस को किस-किस विषय की शंका थी और भ० द्वारा समाधान पाकर ही वह उनसे प्रव्रजित हो उनका शिष्यत्व उनसे स्वीकार किया था।

जैन-धर्म के 23 वें ती० श्री पार्श्वनाथ की परम्परा में, उनके निर्वाण के लगभग दो सौ (200) वर्षों बाद (?) अन्तिम 24 वें ती. श्री महावीर का जन्म 2573 वर्ष पूर्व मगध के प्रसिद्ध वृजिगण के क्षत्रिय कुल में हुआ था। इनके पिता सिद्धार्थ कौण्डिपुर (कुण्डलपुर या कुण्डग्राम) के राजा थे। माता त्रिशला देवी वैशाली के परम प्रतापी लिच्छवी-कुल की कन्या थीं। नाना वृज्जिगण तन्त्र के महाअधिनायक महाराज 'चेटक' थे।

ती० श्री महावीर के समय वज्जियों का एक शक्तिशाली गणतन्त्र था। उसकी राजधानी वैशाली होने से उसे वैशाली गणतन्त्र भी कहा जाता था। उस समय छोटे-बड़े अनेक गणतन्त्र राज्य थे (हिन्दू सभ्यता पृ० 193)। वे संघराज्य अथवा संघ के विरुद से विश्रुत होते थे। जातक अट्ठकथा के अनुसार वैशाली-गणतंत्र के 7707 सदस्य थे। उन सभी को राजा कहा जाता था। ती० श्री महावीर के पिता सिद्धार्थ भी उन्हीं में से एक राजा थे।

आचार्य पाणिनि की मान्यतानुसार इन सभी राजाओं का अभिषेक होता था। जितना उनका क्षेत्र होता था उसके वे अधिपति होते थे। अभिषेक पश्चात् वे 'राजन्य' कहलाते थे। 'ललित विस्तर' में स्पष्ट लिखा है कि लिच्छवी परस्पर एक दूसरे को छोटा या बड़ा नहीं समझते थे किन्तु सभी अपने को 'राजा' ही कहते थे। प्रत्येक राजा के अपने-अपने उपराज्य, सेनापति, भाण्डारिक आदि होते थे। सभी राजकर्मियों के पृथक-पृथक निवास-स्थल वैशाली में थे। 7707 राजाओं की शासन-सभा संघ-सभा कहलाती थी। इसको गणतंत्र, वज्जीसंघ, या लिच्छवी संघ कहा जाता था।

प्रस्तुत गणतंत्र में नौ नौ लिच्छवियों की दो उपसमितियाँ थीं। एक का कार्य न्याय विभाग को सम्हालना था, दूसरी का परराष्ट्र-कार्य था। दूसरी समिति ने ही मल्ल-लिच्छिवी, काशी-कौशल आदि राजाओं का संगठन बनाया था। सभी संगठनों के अध्यक्ष महाराजा 'चेटक' थे।

महाराजा 'चेटक' जैन-धर्म के परम उपासक थे। आवश्यक चूर्णि (उत्तरार्ध पत्र 164), त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र (10-6-188), उपदेश माला, उत्तर पुराण आदि ग्रन्थों में उनके श्रमणोपासक होने का स्पष्ट उल्लेख है। हरिषेणाचार्य रचित वृहत्कथा कोष में राजा 'चेटक' के पिता का नाम केक और माता का नाम यशोमती दिया है। त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र (10-6-186) में महाराजा 'चेटक' की पत्नी का नाम 'पृथा' है, किन्तु बृहत् कथा कोष और सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट में 'सुभद्रा' नाम लिखा है।

श्री महावीर के नाना का कुल अति गौरवशाली था। उनकी सभी मौसियाँ उच्च राजघरानों में विवाही थीं। 'प्रभावती' वीतभय के राजा 'उदायन' को। 'पद्मावती' अंग देश के राजा 'दधिवाहन' को। मृगावती वत्स देश के राज्य शतानीक को। 'शिवा' उज्जैनी के राजा 'चण्डप्रद्योत' को। 'ज्येष्ठा' महावीर के बड़े भ्राता 'नंदिवर्धन' को। सबसे बड़ी थीं महावीर की माता त्रिशला राजा 'सिद्धार्थ' को विवाही थीं।

महाराजा 'चेटक' हैहय वंशीय क्षत्रिय थे। वंश का गोत्र 'वशिष्ठ' था। स्वयं लिच्छवि नहीं थे, किन्तु लिच्छिवि गण-तंत्र के अधिनायक थे। यह उनके कुशल नेतृत्व का स्पष्ट उदाहरण है। जैन-साहित्य में महाराजा 'चेटक' का गौरवपूर्ण वर्णन है।

मनीषियों की दृष्टि में श्री महावीर की अहिंसा और जैन-धर्म की प्राचीनता :— (संकलित)

मैं आप लोगों से विश्वासपूर्वक यह बात कहूंगा कि-'महावीर स्वामी' का नाम इस समय यदि किसी भी सिद्धान्त के लिए पूजा जाता है, तो वह "अहिंसा" है। मैंने अपनी शक्ति के अनुसार संसार के जुदे-जुदे धर्मों का अध्ययन किया है, और जो-जो सिद्धान्त मुझे योग्य लगे, उनका आचरण भी करता हूं। प्रत्येक धर्म की उच्चता इसी बात में है कि उस धर्म में "अहिंसा" का तत्व कितने परिमाण में है और इस तत्व को यदि किसी ने भी अधिक से अधिक विकसित किया हो तो वे श्री महावीर स्वामी थे। (महात्मा गांधी)

ग्रन्थों तथा सामाजिक व्याख्यानों से जाना जाता है कि "जैन-धर्म" अनादि है। यह विषय अब निर्विवाद तथा मतभेद रहित है और इस विषय के इतिहास में दृढ़ प्रमाण हैं। (बालगंगाधर तिलक)

महावीर ने डींडीम नाद से हिन्द में ऐसा संदेश फैलाया कि—"धर्म" यह मात्र सामाजिक रूढ़ि नहीं है, परन्तु "सत्य" धर्म स्वरूप में आश्रय लेने से मिलता है और धर्म और मनुष्य में कोई स्थाई भेद नहीं रह सकता। कहते आश्चर्य पैदा होता है कि इस शिक्षा ने समाज के हृदय में जड़ करके बैठी हुई भावनारूपी विघ्नों को त्वरा से भेद दिया और देश को वशीभूत कर लिया। इसके पश्चात् बहुत समय तक इन क्षत्रिय उपदेशकों के

प्रभाव बल से ब्राह्मणों की सत्ता अभिभूत हो गयी थी। (रवीन्द्रनाथ टैगोर)

"प्राचीन ढर्रे के हिन्दू धर्मावलम्बी बड़े-बड़े शास्त्री तक अब भी नहीं जानते कि जैनियों का 'स्याद्वाद' किस चिड़िया का नाम है। धन्यवाद है जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैंड के कुछ विद्यानुरागी विदेशियों को जिनकी कृपा से इस धर्म के अनुयाइयों के कीर्ति-कलाप और भारतवर्ष के साक्षर जैनों का ध्यान आकृष्ट हुआ। यदि ये विदेशी विद्वान जैनों के धर्म ग्रन्थों आदि की सही आलोचना न करते, यदि ये उनके कुछ ग्रन्थों का प्रकाशन न करते, और यदि ये जैनों के प्राचीन लेखों की महत्ता प्रगट न करते, तो हम लोग शायद पूर्ववत् ही अज्ञान के अंधकार में ही डूबे रहते। बीकानेर, जैसलमेर और पाटण आदि स्थानों में हस्त लिखित ग्रन्थों के गाड़ियों बस्ते अब भी सुरक्षित पाये जाते हैं।" (पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी)

सज्जनो! "रज्जब! सांचे सूर को बैरी करे बखान" यह किसी महाकवि ने बहुत ही ठीक प्रस्तुत किया है। आप जानते हैं कि "मैं उस वैष्णव सम्प्रदाय का आचार्य हूं, यही नहीं मैं उस सम्प्रदाय का सर्वतोभावेन रक्षक हूं, तो भी भरी मजलिस में मुझे यह कहना सत्य के कारण आवश्यक हुआ है कि जैनों का ग्रन्थ समुदाय सारस्वत महासागर है, उसकी ग्रन्थ संख्या इतनी अधिक है कि उन ग्रन्थों का सूचीपत्र भी एक निबन्ध हो जायेगा। मुझे तो इसमें किसी प्रकार का उज्र नहीं है कि 'जैन दर्शन" वेदान्तादि दर्शनों से पूर्व का है। तब तो सज्जनो! आप अवश्य जान गए होंगे कि जैन मत तब से प्रचलित हुआ है, जब से संसार-सृष्टि का आरम्भ हुआ है। भगवान् 'वेदव्यास' महर्षि "ब्रह्मसूत्रों" में कहते हैं-"नैकस्मिन् संभवात्।" सज्जनो! जब वेदव्यास के ब्रह्मसूत्र प्रणयन के समय पर जैनमत था, तब तो उसके खण्डनार्थ उद्योग किया गया, यदि वह पूर्व में नहीं होता तो वह खण्डन कैसा और किसका? जैनों का स्याद्वाद वह अभेद्य किला है जिसके अन्दर वादी प्रतिवादियों के माया मय गोले नहीं प्रवेश कर सकते। एक दिन था कि जैन सम्प्रदाय के आचार्यों की हुंकार से दसों दिशायें गूंज उठती थीं। जैसे काल चक्र ने जैन मत के महत्व को ढांक दिया है वैसे ही उसके महत्व को जानने वाले लोग भी अब नहीं रहे।

(संस्कृत कालेज बनारस के भूतपूर्व प्रो० श्रीयुत महामहोपाध्याय स्वामी राममिश्रजी शास्त्री)

"वे भगवान् सर्वज्ञ, समदर्शी, अनन्त केवलज्ञान के धारी। चलते, बैठते, सोते, जागते, सब समयों में सर्वज्ञ थे। वे जानते थे कि किसने किस प्रकार का पाप किया है, किसने पाप नहीं किया है। जनता उनको बहुत ही पूज्य दृष्टि से देखती थी।"

—डा० विमलचरण ला० M. A.

श्री लक्ष्मण रघुनाथ भिड़े कहते हैं कि- "अन्य धर्मावलम्बियों के दुराग्रह और अज्ञान जन्य टीकाओं द्वारा भारतवर्ष में जैन धर्म के बारे में अज्ञानता फैल रही है। सर्व साधारण का मत हो रहा है कि जैन-धर्म अव्यवहार्य सिद्धान्तहीन और नास्तिक होने के कारण वेद वर्जित है। परन्तु जैन-धर्म पूर्णरूपेण व्यावहारिक और आस्तिक तथा स्वतंत्र धर्म है।" इसके ऊपर भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र भी कहते हैं:—

"जैन को नास्तिक भाखै कौन? परम धरम जो दया अहिंसा, सोइ आचरत जौन, सत्कर्मन को फल नित मानत, अति विवेकी मौन। तिनके मतहिं विरुद्ध कहत जो, महामूढ़ हैं तौन॥"

"श्री महावीर ने 12 वर्ष के तप और त्याग के बाद अहिंसा का संदेश दिया। उस समय देश में खूब हिंसा होती थी, हर घर में यज्ञ होता था। अगर उन्होंने अहिंसा का संदेश न दिया होता, तो

आज हिन्दुस्तान में 'अहिंसा' का नाम भी न लिया जाता।" —धर्मानन्द कौशाम्बी

"ब्राह्मण-धर्म पर जो जैन धर्म ने अक्षुण्ण छाप मारी है उसका यश जैन-धर्म के ही योग्य है। "अहिंसा" का सिद्धान्त जैन-धर्म में प्रारम्भ से है और इस तत्व को समझने की त्रुटि के कारण बौद्ध धर्म अपने अनुयाई चीनियों के रूप में सर्वभक्षी हो गया है। ""ब्राह्मण और हिन्दू धर्म में मांस भक्षण और मदिरापान बन्द हो गया, यह भी जैन-धर्म का ही प्रताप है। ""ब्राह्मण धर्म और जैन धर्म दोनों में झगड़े की जड़ हिंसा थी। जो अब नष्ट हो गयी। और इस रीति से ब्राह्मण धर्म को जैन धर्म ही ने अहिंसा का पाठ सिखाया। श्रीमान् महाराज गायकवाड़ ने पहिले दिन कान्फरेन्स में जिस प्रकार कहा था, उसी प्रकार "अहिंसा परमो-धर्मः" इस उदार सिद्धान्त ने ब्राह्मण धर्म पर चिरस्मरणीय छाप मारी है। पूर्व काल में यज्ञ के लिये असंख्य पशु-हिंसा होती थी, इसके प्रमाण मेघदूत काव्य आदि अनेक ग्रन्थों से मिलते हैं। ....परन्तु इस घोर हिंसा का ब्राह्मण धर्म से विदाई दिला देने का श्रेय जैन-धर्म के ही हिस्से में है। ....महावीर स्वामी का उपदेश किया हुआ धर्म तत्व सर्वमान्य हो गया। ब्राह्मण धर्म जैन-धर्म से मिलता हुआ है, इस कारण टिक रहा है। बौद्ध धर्म का जैन-धर्म से विशेष अमित्व (अमेल) होने के कारण हिन्दुस्तान से नामशेष हो गया है। जैन-धर्म तथा ब्राह्मण धर्म का पीछे से कितना निकट सम्बन्ध हुआ है सो ज्योतिष शास्त्री भास्कराचार्य के ग्रन्थ से विशेष उपलब्ध होता है। उक्त आचार्य ने ज्ञान दर्शन और चारित्र को धर्म तत्व बतलाये हैं।

—पं. बालगंगाधर तिलक (केसरी से)

"इस समय सम्पूर्ण भारतवर्ष जैन बन चुका है। जैन-धर्म का प्रचार हाल में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सब सम्प्रदायों में हो रहा है। जैन-धर्म में सत्य और अहिंसा से ऊँचा आदर्श नहीं है। सब धर्मों से उत्तम जैन धर्म के सिद्धान्त हैं, इसकी किसी से समता नहीं हो सकती।

—पं. गोविन्द बल्लभ पन्त

भारत में पहले 40 करोड़ जैन थे। उसी मत से निकलकर बहुत से लोग दूसरे धर्म में जाने से इनकी संख्या घट गयी। यह धर्म बहुत प्राचीन है, इसके नियम बहुत उत्तम हैं।

—कृष्णनाथ बनर्जी

"संसार-सागर में डूबते हुए मानव प्राणियों ने अपने उद्धार के लिये पुकारा, इसका जवाब श्री महावीर स्वामी ने खरे रूप से उद्धार का मार्ग बतला कर दिया। दुनियाँ में ऐक्य और शान्ति चाहने वालों का लक्ष्य श्री महावीर की उदात्त शिक्षामण तरफ गये बिना नहीं रह सकता।"

संस्कृत प्रो. डा. वाल्टर शूब्रिङ्ग, हेम्बर्ग

"जिस समय भ० महावीर उत्पन्न हुये थे, उस समय उनकी आवश्यकता थी। क्योंकि उस समय हिंसा बहुत थी, जो कि कृषि प्रधान भारत के लिये हानिकारक थी, तथा राजाओं में परस्पर युद्ध भी बहुत होते थे। वर्धमान स्वामी ने इनको दूर करने का प्रयत्न किया।

—प्रो. जौहरी एम. ए क्रिश्चियन कालेज, इन्दौर

श्री 'वीर' महान तपस्वी थे। उन्होंने कीर्ति और लौकिक लाभ को छोड़ कर मोक्ष प्राप्ति के लिए महान तपस्या की थी। उस तपस्या में वे सफल हुए और उसके आधार पर उन्होंने अपने धर्म की पुनः रचना की। वे तपस्वियों में आदर्श, विचारकों में महान्, आत्मविकास में दर्शनकार और उस समय की प्रचलित सभी विधाओं में पारंगत थे।

—अर्नेस्ट लायमेन, जर्मनी

"मनुष्य के पास आत्मा ही धन है। महावीर स्वामी मनुष्य को अपना कर्तव्य बतलाते हैं कि वह आत्मा को अपवित्रताओं से मुक्त करे, ताकि वह सृष्टि में अपने ही प्रकाश से प्रकाशित हो जाय। बाह्य जड़ जगत से विच्छेद कर लेने पर महावीर का अनुयायी उनके आदेशानुसार चलकर अपने आत्मा को भी शरीर से, जो कि परमसुख की प्राप्ति में अन्तिम बाह्य रूप रह जाता है—मुक्त होना सीखा है, उस पर विजय प्राप्त करता है।"

—डा० एलबर्ट पैंगी-अनोबा (इटली)

'वीर' अपने समय के सबसे महान दयाशील एवं कोमल हृदय जैन थे। उन्होंने अपने चारों ओर सांसारिक जीवों को दुःखी एवं पीड़ित देखा। उनकी दृष्टि वर्तमान से परे पहुंची और यह जानकर कि मर्त्य (जीव) प्रत्येक आयु व स्थान पर कितने दुःख का भागी है—बड़ी वेदना हुई। उन्होंने अपनी मुक्ति के सतत प्रयत्न के साथ इन अभागे जीवों के उद्धार के लिए भी मार्ग निकाला, परिणामतः उन्होंने प्राणियों को आदेश किया कि: मनुष्य का कर्तव्य शुद्ध अहिंसा का पालन करना है।

(श्री हरि सत्य भट्टाचार्य M.A.B.T.)

"महावीर का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने अपने आदर्श उपदेशों द्वारा 'अनात्मवाद' का सबसे अधिक और पूर्णरूपेण खण्डन किया। उन्होंने अपने जीवन द्वारा सिद्ध कर दिया कि जड़ शक्ति से भी शक्तिमान एक शक्ति है, वह है 'अध्यात्म शक्ति। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि ज्ञान, बल से अधिक शक्तिमान है—मनुष्य प्रकृति की बेड़ियों को तोड़ सकता है, उस पर शासन कर सकता है। इसीलिए वे निर्ग्रन्थ अर्थात् मोह रहित व जीवन मुक्त कहलाते हैं। उनकी आत्मा प्रकृति पर विजयी हो चुकी थी और इसी प्रकार से वे परम शान्ति को प्राप्त हुए। अपने ज्ञान द्वारा उन्होंने जैन-धर्म के मुख्य सिद्धान्त "अहिंसा" स्वयं जीवित रहो और दूसरों को जीवित रहने दो' का उपदेश दिया। इस सिद्धान्त के लिए सारा भारतवर्ष महावीर का ऋणी है। वह सिद्धान्त ईसाई संसार के (Thou shalt not kill) "तू हिंसा न कर" से कहीं ऊंचा है। जर्मन के प्रसिद्ध विचारक Nerder के कथनानुसार 'महावीर' सर्व श्रेष्ठ हैं—उनका कथन है—"वह वीर है, जो रणक्षेत्र में विजय प्राप्त करता है, वह वीर है जो सिंहों के शिकार कर चुका है, परन्तु वह वीरशिरोमणि है—जो अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करता है।"

प्रो० जोसेफ मेरी (जर्मनी)

"गये दोनों जहान नजर से गुजर तेरे हुस्न का कोई बशर न मिला।" ये जैनियों के आचार्य थे। पाकदिल, पाक ख्यालात, मुजस्सिम पाकी व पाकीजगी थे। हम इनके नाम पर, इनके काम पर और इनकी बेनज़ीर नफसकुशी व रियाजत की मिसाल पर जिस कदर नाज करें, बजा है। ये दुनियां के जबर्दस्त रिफार्मर (सुधारक) जबर्दस्त उपकारी और बड़े ऊंचे दर्जे के उपदेशक और उपचारक होकर गुजरे हैं। यह हमारी कौमी तवारीखों के कीमती रत्न हैं। वह लासानी शख्सीयतें हो गुजरी हैं जिनको जिस्मानी कमजोरियों व ऐबों के छिपाने के लिए किसी जाहिरी पोशाक की जरूरत लाहक नहीं हुई। क्योंकि उन्होंने तप करके, जप करके, योग का साधन करके, अपने आपको मुकम्मिल और पूर्ण बना लिया था। इनका खिताब "जिन" है, जिन्होंने मोह-माया को और मन और काया को जीत लिया था। यह तीर्थंकर हैं, इनमें बनावट नहीं थी, दिखावट नहीं थी, जो बात थी, साफ-साफ थी। इनका दिल विशाल था। वह एक बेपाय किनार समन्दर था, जिसमें मनुष्य प्रेम की लहरें जोर-शोर से उठती रहती थीं और सिर्फ मनुष्य ही क्यों उन्होंने संसार के प्राणिमात्र की भलाई के लिए सब कुछ त्याग किया, जानवरों का खून बहाना रोकने के लिए अपनी जिन्दगी का खून कर दिया।"

"अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये जैन मुनि के परम व्रत हैं और यही धर्म का मूल है। चोर को सभी देशों में सजा मिलती है। इन मोटे नियमों के बिना इस संसार में कोई धर्म नहीं है। देवताओं के पास बकरे मार कर बलि देने वाले इतना भी नहीं समझते कि माता अपने बच्चों का ही भोग कैसे मांगती है। माता मद्य मांस नहीं मांगती, परन्तु ऐसे कार्यों में मनुष्य का लोभ और स्वार्थ ही समाया हुआ होता है। त्याग ही एक पवित्र नियम है। यही कल्याणकारी है। स्वार्थ में कल्याण नहीं। 'क्राइस्ट' कहते हैं कि सुई की नोक में से ऊंट निकलना सम्भव हो सकता है, परन्तु परिग्रह वाला नहीं निकल सकता। परिग्रह चिन्ता का मूल है, तो फिर उसमें आत्म कल्याण होना सम्भव हो सकता है क्या? स्त्री बच्चे अथवा शत्रु पर प्रेम, मोह नहीं। प्रेम में मन पर अधिकार रखना ही वास्तविक तत्व है। इस प्रकार विचार करने पर ज्ञात होगा कि सारी सृष्टि साम्राज्य का सम्राट जैन-धर्म है। किसी परमात्मा को पृथ्वी के पालन करने की चिन्ता है, तो किसी को उसके संसार की। परन्तु जिन प्रभु (महावीर) तो वीतराग हैं और वे ही सम्राट हैं। उनकी किसी से मित्रता अथवा शत्रुता नहीं है। वे तो केवलज्ञान और सत्यानन्द में ही लीन हैं। जैन-धर्म के तत्वों की परीक्षा करने पर उसमें विश्व धर्म की विशेषतायें भरी पड़ी मिलेंगी। पांच नियम प्रत्येक धर्म में माने गये हैं, परन्तु जैन धर्म में उनकी योजना अति न्यायपूर्वक की गई है। अपने देश में जब मैं थी, तब इस धर्म के तत्वों पर विचार करती थी कि क्या इन सभी नियमों का हिन्दुस्तान के जैनों द्वारा नियम पूर्वक पालन किया जाता होगा? परन्तु हिन्दुस्तान में आने पर मैंने उनका पालन भली प्रकार होते देखा। पूर्व समय में इस देश में जैनों की संख्या अधिक थी, परन्तु इस समय उनकी संख्या घट गई है, फिर भी जैन धर्म उसी प्रकार जीवित है। यदि जैन-धर्म को विश्व धर्म होने का अवसर मिले तो हिंसा, मद्य, मांस सेवन विश्व से विलीन हो सकते हैं।

मिस मिए शार्लोट क्राउजे P. H. O. जर्मनी।

श्री विजय राघवाचार्य ने लिखा है कि—"प्राचीन भारत के निर्माता पुरुषों में श्री महावीर स्वामी एक थे। श्री महावीर स्वामी बड़े भारी विचारक तीर्थंकरों में आखरी थे।"

ती. श्री महावीर के 2500 सौवें निर्वाणदिवस पर मेरी आन्तरिक-भावना है कि प्रत्येक जन-प्रत्येक प्राणी पुरुरवा भील की तरह जीवन में अहिंसा-धर्म की साधना में लग जाय और वह अपने अनुबन्धित कर्मों से मुक्त हो तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर तीर्थंकर पदवी धारण कर सबका कल्याण मार्ग प्रशस्त करें। ती. श्री महावीर की जय! जैन धर्म की" अहिंसा धर्म की जय!!

'स्वच्छन्द उड़ान'

डॉ० कुसुम पटोरिया

नीरव निशा का प्रबल आकर्षण
मेरी चेतना को थपकियां दे रहा है।
मेरे तन्द्रिल मदिर नयन
श्यामा को देख निर्निमेष हो चुके हैं।

उससे दृष्टि हटा
अन्यत्र देखने का मुझे अवकाश कहां ?
उसके बाहुपाश का बन्धन
सुख का लहराता सागर है।
मेरे जीवन का सार वही है,
उसको पाने की अदम्य लालसा में
मैं स्वयं अपना अस्तित्व भुला चुका हूं,
पाकर भी अतृप्त सा
मृगतृष्णा में भटक रहा हूं।
तभी उषा की एक सुनहरी किरण
मेरे गात को परस जाती है,
मेरी चेतना अभिभूत हो जाती है,
विवेक जग जाता है,
उस स्वर्गिक स्वर्णिम सौन्दर्य की
एक परोक्ष झलक पा
अपनी मूढ़ता पर कभी हंस लेता हूं
और कभी रो लेता हूं
अपनी ही उस दयनीय परवशता पर दया उमड़ आती है,
(जिसमें कि मैं कभी सुखानुभूति करता था)
छलनामयी निशा मुझे सूर्पणखां सी जान पड़ती है,
मन उसके प्रति घृणा और विरक्ति से भर जाता है।
पर हा धिक् !
जन्मजन्मान्तर के संस्कार प्रबल हैं
यह संवेदना कुछ पल ही टिक पाती है
उषा की सहज सुन्दरता कुछ क्षण ही अभिभूत कर पाती है
फिर वही तमोमयी (मोहमयी) निशा
अपने बन्धन दृढ़ कर लेती है,
अपने इन्द्रजाल से तम के आवरण में
मुझे दिग्भ्रान्त कर देती है,
मोहनिशा के बन्धन में बंध
पिंजरे के पंछी सा
स्वच्छन्द उड़ान भूल जाता हूं। ★

करुणासागर—महावीर स्वामी

श्वेताम्बर आगमों में चण्ड-कौशिक सर्प द्वारा भगवान महावीर पर उपसर्ग एवं महावीर द्वारा उसके उद्धार की कथा बहुत अधिक प्रसिद्ध है। कौशिक जैसा भयानक सर्प भी अपनी स्वाभाविक हिंसा परिणति को छोड़ किस प्रकार भगवान महावीर की अहिंसक साधना के आगे नतमस्तक हो अहिंसक बन गया था। यह था भगवान महावीर की तप और तपस्या का प्रभाव। गांधीजी ने भी अहिंसा द्वारा विरोधी के मानस परिवर्तन का प्रयास कई बार अपने जीवन में किया था और उसमें वे सफल भी हुये थे। काश! आज हम जैन उस अहिंसा को अपने जीवन में उतार राष्ट्र के हिंसाव्याप्त चरित्र में कुछ सुधार ला पाते।

प्र० सम्पादक

□ श्री भूरचन्द जैन बाड़मेर

राजसी वैभव, विलासतापूर्ण जीवन, पारिवारिक वात्सल्य, प्रजा का आदर सम्मान, मां की ममता, पिता के प्यार, भाई के स्नेह को छोड़कर वैशाली राज्य के क्षत्रियकुण्ड में ई० सन् 599 वर्ष पूर्व जन्म लेने वाले महावीर राजकुमार आत्मकल्याण एवं जगतउद्धार के लिये 20 वर्ष की आयु में संसार के मोह, माया, ममता को त्याग कर संन्यासी बन गये, साधु बन गये, वैरागी बन गये। जिन्होंने सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह अचौर्य का व्यापक प्रचार कर जनकल्याण कार्य का मार्ग बताया। आत्मशुद्धि के साथ-साथ वसुधरा पर कोई हिंसा एवं पापवृत्ति न बढ़े इसके लिये उन्होंने कठोर तपस्या कर, जगह-जगह पैदल भ्रमण कर धर्म की महिमा, सत्य की महत्ता, अहिंसा की वाणी, ब्रह्मचर्य का प्रभाव अचौर्य एवं अपरिग्रह की गौरव गरिमा का व्यापक प्रचार कर जनजीवन में सुख एवं शान्ति उत्पन्न करने की महत्व-पूर्ण भूमिका निभाई। आपने शारीरिक मोह का परित्याग कर कठिन से कठिन तपस्या की। विकराल जंगली जहरीले जन्तुओं के बीच, कठोर उपसर्गों के आने पर भी आपने अपना धर्म पथ, शान्ति का मार्ग, सत्य अहिंसा मय वाणी को नहीं छोड़ा। महावीर ने घोर तपस्या के बीच कई आत्माओं का उद्धार किया, उन्हें सत्य मार्ग पर लाने का उपदेश दिया। चंडकौशिक नाग, जिसकी विनाशकारी लीलाओं से जनमानस त्राहि-त्राहि करता था जिसकी निगाहों में आने वाला पशु पक्षी भी काल की गोद में सो जाता था, उसके भीषण प्रकोपों तथा जहरीले आक्रमण से कोई बच नहीं सकता था। भगवान महावीर ने इसका भी उद्धार किया। हिंसक चंडकौशिक भी आपके सम्पर्क मे आने से शान्ति प्रिय बन गया।

महावीर बिहार करते हुए श्वेतांबी नगरी की ओर बढ़े। श्वेतांबी नगरी की ओर दो रास्ते जाते थे एक रास्ता अत्यन्त ही सीधा, सपाट, सुन्दर था जो लम्बा

प्रचलम था जिस पर से गुजरने पर किसी भी प्रकार का भय बाधा नहीं थी । और दूसरा रास्ता ऊबड़ खाबड़ भयानक, वीरान जंगल एवं जहरीले चंड-कौशिक नाग के प्रकोप से पीड़ित एवं दुर्गम होते हुए भी छोटा था, जहां कनखल नामक तपस्वियों का आश्रम था । महावीर ने अवधिज्ञान से चंड-कौशिक सर्प को पहचाना और उसके उद्धार के लिये दुर्गम, भयानक कनखल आश्रम से श्वेतांबी की ओर जाने वाले मार्ग को पकड़ा । महावीर को इस वीरान, विकराल एवं विनाशकारी मार्ग से न गुजरने के लिये गोपालक ग्वालों, कृषकों एवं राह-गीरों ने बहुत समझाया और कहा–संत महात्मा जी, इस मार्ग में अत्यन्त ही डरावना दृष्टिविष चंडकौशिक नामक सर्प रहता है जिसके मात्र देखने से मनुष्य सदैव के लिये काल की गोद में सो जाता है । इस मार्ग पर उड़ता हुआ कोई पशु पक्षी जिन्दा अपने गन्तव्य स्थान पर लौटा हो हमने नहीं देखा है । कोई भूल से इस मार्ग से गुजरा पशु वापिस लौटकर आया आज दिन तक हमने नहीं देखा है । सर्प की विष दृष्टि से ही न केवल जीव जन्तु यमलोक पहुंच जाते हैं अपितु सुहावने वन के सभी पेड़ पौधे फल-फूल भी सूख कर ठंठ बन गये है । किसी की आहट तक इस मार्ग पर सुनाई नहीं देती है । सम्पूर्ण मार्ग निर्जन है । अतः मुनि-वर जी, आप इस मार्ग से कतई नहीं पधारें ।

मोह, माया और ममता त्यागने वाले महावीर ने गोपालकों कृषकों एवं राहगीरों की वास्तविक वस्तु स्थिति को गम्भीरता से सुना । मृत्यु से जिनको भय नहीं, देह से कोई महत्व नहीं ऐसे महावीर ने जनमानस की डरावनी भयभीत करने वाली बातों को सुनी अनसुनी कर इस कनखल आश्रम के मार्ग की ओर प्रयाण कर दिया । सारा वन सुनसान था, किसी के पैरों तक के निशान नहीं थे, सारे पेड़ पौधे सूख कर ठंठ मात्र रह गये थे, पेड़ पौधों की पत्तियों से धरती की गोद भरी हुई थी । राहगीरों की पगडंडी दिखाई देनी दुर्लभ हो रही थी, मात्र केवल नदी नालों, झरनों के शीतल जल की मन्द-मन्द ध्वनि के अतिरिक्त कुछ भी सुनाई नहीं देती थी । प्राणि मात्र की आहट का कोई आभास नहीं होरहा था ऐसे निर्जन वन के कनखल आश्रम के पास महावीर कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यान मग्न तपस्या में लीन हो गये । मानव गंध पाने पर चंडकौशिक सर्प हुंकार करता हुआ फुंकार करता हुआ विराट वृक्ष के विशाल खाबड़ से निकला और ध्यान मग्न कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े महावीर को ऊपर से नीचे तक देखा । जिसके चहरे पर कोई घबराहट एवं भय का आभास नहीं था । देखकर आश्चर्यचकित हुआ ।

चंडकौशिक सर्प ने अपनी बिजली के समान तेजवाली विषदृष्टि महावीर पर डाली लेकिन उसका प्रभाव निरर्थक रहा । सर्प ने अपना आक्र-मण निरर्थक देखा तो उसे घोर आघात पहुंचा, वहां दूसरी ओर वह आगबबुला हो उठा और महावीर को दंश करने के लिये उनकी ओर तेजगति के साथ बढ़ा लेकिन शान्तिमूर्ति, ध्यानमग्न, गम्भीरता की प्रतिमूर्ति महावीर ने किसी भी प्रकार का प्रतिकार नहीं किया, वे तो कायोत्सर्ग मुद्रा में तपस्या में लीन थे । सर्प ने महावीर के पैर को काटा और यह सोचकर कि कहीं यह मानव देह विष प्रभाव से कहीं मेरे पर न गिर जाय वह दूर हट गया । लेकिन देखता है कि महावीर के पैर में जहां इसने काटा था उस स्थान पर सफेद बूंदे निकली । ये बूंदे रक्त की नहीं श्वेत दुग्ध की तरह दृष्टिगोचर होरही थीं ।

महावीर अटल चट्टान की भांति तपस्या में वैसे ही अडिग खड़े थे जैसे वे पूर्व में थे । चंड-कौशिक अपनी इस पराजय पर अधिक क्रूर हो गया और अपने पूरे बल के साथ पुनः महावीर पर झपटा और जोर से पैरों में काटा । सर्प ने अपने शरीर में जितना जहर था उसे एक साथ

प्रहार किया और इस आशय से दूर हटा कि अब देखता हूं कि यह मानव काया कैसे जीवित रह सकती है। सर्प के देखते ही देखते महावीर के पैरों में काटे स्थान से ओर से रक्त के स्थान पर श्वेत दुग्ध समान धारा बह निकली और दूसरी धारा सर्प के जहरीले नीले रंग की बहती नजर आई।

क्रूर चंडकौशिक सर्प इस दृश्य को देखकर आश्चर्यचकित हो गया। वह बेबस था। उसका कोई आक्रमण सफल नहीं हुआ। उसने महावीर के शान्त एवं गम्भीर स्वभाव को पहचाना, उनकी आंखों से करुणायुक्त शान्त रस धारा बह रही थी, खिलता मुख मंडल पर सौम्यता थी, देह अन्य मानव देह से अद्भुत लगी, प्रभु का आशीर्वाद स्वरूप उठे हाथ ने चंडकौशिक को अपनी ओर आकर्षित किया। चंडकौशिक जो महावीर के प्राणों का प्यासा था अब महावीर के शान्त, गम्भीर स्नेह एवं उद्धार भरे स्वभाव को देखकर अपने फैलाये फन को समेट कर महावीर प्रभु के चरणों में गिर पड़ा। महावीर बोले "हे चंडकौशिक ! अब समझ और अपनी करनी को सुधार।"

महावीर प्रभु की तेजस्वी, कल्याणकारी अमृत एवं पीयूषवाणी को सुनकर चंडकौशिक सर्प को जातिस्मरण ज्ञान होगया। उसने अपने पूर्व भवों को देखा कि—जब मैं मुनि था तब मेरे पैरों से अनजान में एक मेंढक की मृत्यु होगई। मेरे छोटे शिष्य ने मुझे प्रायश्चित के लिये स्मरण कराया लेकिन मैंने उसे सुना अनसुना कर दिया। शिष्य ने पुनः मुझे सायंकालीन प्रतिक्रमण समाप्ति के पश्चात् स्मरण दिलाया तब मैंने इसे अपना अपमान समझा और मैं क्रोध भावना से उसे मारने दौड़ा, अंधेरी रात्रि में मकान के खम्भे से टकरा कर गिर पड़ा और मृत्यु को प्राप्त हो गया। साधुता की विराधना एवं तपस्या के कारण ज्योतिष्क देव बना। वहां से मेरा भव बदला और मैंने कनखल में निवास करने वाले पांच सौ तपस्वियों के कुलपति के घर में जन्म लिया। यहां के सभी तापस कौशिक गोत्र के थे और मेरा नामकरण भी कौशिक रखा। मैं अत्यधिक क्रोधी स्वभाव का होने के कारण मेरा नाम चंडकौशिक रखा गया। मेरे पिता के स्वर्गवास पर मैं कनखल आश्रम के तपस्वियों का कुलपति बना। मेरे क्रोध के कारण एक-एक करके सभी तपस्वी वहां से चले गये। मैं वहां से अपने कनखल आश्रम के विशाल फल फूलों वाले बगीचे की रक्षा करता। मेरे क्रोध स्वरूप को देखकर कोई यहां से फल फूल ले जाने की हिम्मत नहीं करता। एक बार श्वेतांबी नगरी के राजकुमार फल फूल तोड़ने आश्रम में आये। मैंने उन्हें कुल्हाड़ी से मारने हेतु पीछा किया मेरा पैर फिसल गया और एक खड्डे में गिर पड़ा, मेरी ही कुल्हाड़ी मेरे सिर पर पड़ी और मेरा वहीं अंत होगया। मैंने मरकर अपनी मोह, ममता व क्रोध की भावनाओं के कारण पुनः इसी वन में सर्प के रूप में जन्म लिया।

चंडकौशिक सर्प जाति स्मरण ज्ञान से पूर्व भव की जानकारी करने पर उसे अपनी क्रोध भावना एवं विनाशकारी प्रवृतियों को त्याग कर शान्त भाव से अपने पापों का प्रायश्चित करने के लिये विराट पेड़ के खाबड़ में मुंह डालकर रहने लग गया। चंडकौशिक सर्प का पिछला भाग पेड़ की खाबड़ से बाहर था। महावीर कनखल आश्रम से विहार कर आगे बढ़े। लोग जहां साधु महात्मा को कनखल आश्रम के विनाशकारी चंडकौशिक सर्प के प्रभाव से जीवित बचकर आते देख आश्चर्य में पड़ गये, वहां मानव के जीवित आने पर आनन्दित होने लगे। जनमानस के हर्षोल्लास का पार नहीं रहा। धीरे-धीरे कनखल आश्रम मार्ग पर

पक्षी उड़ते नजर आने लगे, उनकी चहचहाहट सुनाई देने लगी, जंगल के पेड़ों पर फल फूल पनपने लगे, पशुओं को जीवित आते जाते देखकर मनुष्य ने भय रहित होकर कनखल आश्रम के श्वेतांबी का पुनः मार्ग बनाया। चंडकौशिक को पेड़ की खाबड़ में मुंह छिपाये देख पहले लोग भय के मारे पास जाने में घबराने लगे, बच्चे बूढ़े डर से उस पर पत्थर मारने लगे लेकिन चंडकौशिक ने किसी भी प्रकार की प्रतिशोध की भावना नहीं दिखाई। लोगों ने उसकी पूजा स्वरूप दूध के कटोरे भर कर उसके पास रखे लेकिन चंडकौशिक ने उसका भी परित्याग किया। लोगो ने घृत से पूजा की। घृत के कारण कई चीटियां चंडकौशिक के शरीर को काटने लगी, लेकिन दृष्टि विष सर्प इस भीषण कष्ट को भी बिना किसी प्रकार का प्रतिशोध लिये सह रहा था। उसने चीटियों के काटने पर भी अपने शरीर को इस भावना से नहीं हिलाया कि मेरे शरीर के हिलने डुलने से कोई चींटी न मर जाय। पन्दरह दिन से चंडकौशिक सर्प ध्यान मग्न, एकाग्रचित्त, शान्त, विनाशकारी प्रवृतियों एवं भावनाओं से दूर रह कर तपस्या एवं साधना में लीन होगया। और अंतिम अपनी आयु पूरी कर सहस्रार देवलोक में देव हुआ।

श्वेतांबी नगरी आने के लिये कनखल का आश्रम मार्ग खुल गया। चंडकौशिक नाम का वह स्थल पूजनीय बन गया। महावीर प्रभु की जन-कल्याणकारी नीति से एक नहीं अनेकों अधर्मी, हिंसक, पापवृतियों से लिप्त स्वार्थ लोलुपता से ग्रस्त, अहम् मद में मदहोश, अत्याचार एवं अनाचार में मस्त मूर्खों का उद्धार किया। वन्सुधरा पर सत्य और अहिंसा के ज्योतिर्मय दीपक से उजाला फैलाया। महावीर की पीयूस वाणी ने कल्याणकारी अमृत की वर्षा की और कई लोगों ने उसका पानकर अपना वर्तमान और भविष्य जीवन उज्ज्वल बनाया। ऐसे कर्मयोगी, जगत उद्धारक शांत एवं करुणामूर्ति की वाणी युगों युगों तक विश्व शान्ति का पथ प्रदर्शन करती रहेगी।

आचारांग-सूत्र की सूक्तियां (संकलित)

1. किसी भी प्राणी को तुम से भय न हो ऐसे अभयरूप संयम का पालन करें।
2. जो प्रमादी है विषयार्थी है वह निश्चय ही दण्ड देने वाला, जीवों को मारने वाला है।
3. सांसारिक विषयों में आसक्ति ही मूर्च्छा है और यह मूर्च्छा ही संसार कहा गया है।
4. जो ऋजुस्वभाव वाला है, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूप मोक्षमार्ग जिसे प्राप्त है, जो माया नहीं करता वही मुनि है।
5. हिंसा से उपरति ही विरती है। ऐसा विरत आत्मा ही सच्चा अणगार है।
6. शंका को दूर रख, जिस श्रद्धा से गृहत्याग कर प्रव्रज्या ली है उसी श्रद्धा से संयम का पालन कर।
7. वीर पुरुष अहिंसा के महापथ पर चल चुके हैं।
8. मनुष्य भव को सुयोग समझ, मुहूर्त भर भी प्रमाद मत कर।
9. आयु और यौवन बीता जा रहा है।
10. काल के लिए कोई समय असमय नहीं है, काल से कोई भी मुक्त नहीं है।

प्रेषक—श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

अहिंसा एवं विश्व शान्ति के प्रदाता तीर्थंकर श्रमण महावीर

विष की औषध विष है अथवा अमृत यह भी एक ऐसा प्रश्न है जिसने चिरकाल से मानव मस्तिष्क को झकझोर रखा है। हिंसा का प्रतिकार हिंसा है या अहिंसा यह भी एक ऐसा ही प्रश्न है। विश्व शांति भयंकर शस्त्रास्त्रों के निर्माण द्वारा दूसरों के हृदय में भय उत्पन्न कर कायम रखी जा सकती है ऐसा आज भी कुछ राष्ट्रों के सर्वेसर्वा सोचते हैं। उनकी दृष्टि में प्रीति के लिए भय की आवश्यकता है। दूसरी ओर विष की औषध अमृत मानने वाले महापुरुषों की सुदीर्घ परम्परा है। हिंसा विष और अहिंसा अमृत है। भगवान् आदिनाथ से लेकर भगवान् महावीर ने इस चिकित्सा प्रणाली पर बल दिया था जिसका सफलतम प्रयोग इतिहास में कई बार हो चुका है और इसकी अव्यर्थता प्रमाणित हो चुकी है। आज भी जीवन में इसे अपनाने की बहुत अधिक आवश्यकता है।

प्र० सम्पादक

□ पं० बाबूलाल फणीश शास्त्री
प्राचार्य-श्री महावीर दि० जैन गुरुकुल, ऊन

अहिंसा की ज्योति सदा जलती रहती है, कभी क्षीण नहीं होती। यह ज्योति कण कण में व्याप्त है। अज्ञान अन्धकार का नाश इसी ज्योति द्वारा संभव है। अहिंसा ज्योति अमिट और सुख शांति की अभिव्यक्ति है। "जिस आत्मा में अहिंसा ज्योति का आलोक ज्योतिमान रहता है, वही आत्मा सत्य की खोज में चरम लक्ष्य को पाती हुई ईश्वर की अभिव्यक्ति को पा लेती है।"

—महात्मा गांधी

जिस आत्मा में अहिंसा का सम्पूर्ण आलोक आलोकित होता रहता है उसकी आत्मा "अहिंसा भूतानां विदितं जगति ब्रह्म परमम्" के स्वरूप में प्रतिबिम्बित होती रहती है।

—स्वामी समन्तभद्र

यदि प्रत्येक मानव आत्मा में यह अहिंसा दीपक आलोकित हो जाये तो समस्त विश्व में सुख शान्ति का साम्राज्य अनायास ही छा जाय। आज पूर्ण विश्व चतुर्कषायों क्रोध, मान माया और लोभ एवं हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, परिग्रह पांच पाप की काली घटाओं में घिरा है, तथा एटमबम्ब परमाणुबम्ब आदि भयंकर विस्फोटक अस्त्र शस्त्रों के निर्माण में लगा है। वह सुख व शान्ति के अमोघ अस्त्र अहिंसा धर्म को भूलता जा रहा है। क्रूरता, उच्छृंखलता अशिष्टता को फैलाने वाली तथा अनुशासन को भंग करने वाली हिंसक प्रवृत्ति दिन प्रति दिन बढ़ रही है। मानव समता सुचिता को छोड़कर हिंसामय क्रूरता में अग्रसर हो रहा है। इन सब पापों की जड़ हिंसा प्रवृत्ति ही है। सुख शांति अहिंसा की सुवृत्ति है क्योंकि अहिंसा में कायरता का नामों निशान नहीं है। "वह वीर पुरुषों का बाना है"। अहिंसक वीर

पुरुष होता है, वह निर्भयी, निरभिमानी राष्ट्र और समाज का हित चिन्तक होता है और उसकी उपादेयता समस्त विश्व में ग्राह्य होती है, वह कोटि-कोटि जनता का सेवक होता है। अहिंसक पुरुष विश्व शान्ति का उपासक होता है।

24 वें तीर्थङ्कर भगवान श्रमण महावीर ने आज से 2572 वर्ष पूर्व इस पावन वसुधा पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन बिहार प्रान्त के कुण्डलपुर नगर में क्षत्रिय वंश में महान विभूति के नायक, नृप सिद्धार्थ के गृह प्रियकारिणी "त्रिशला" रानी की कूख से जन्म लिया जो वज्जियों में गणनायक राजा चेटक की पुत्री थी।

आल्हाद--तीर्थङ्कर महावीर के जन्मते ही प्रकृति ने करवट बदली, दशों दिशाओं में सुख शांति का साम्राज्य छा गया, आत्म साधना के लिये विकास का सरल मार्ग प्रगट होने लगा। महावीर किशोर अवस्था को पारकर यौवनावस्था को प्राप्त हुए।

माता पिता ने शादी का प्रस्ताव रक्खा, किन्तु इस देह को संसार में जन्म-मरण विषय वासना रागद्वेष के निमित्त के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जान इस गृह दावाग्नि में न पड़ने तथा मोह को नष्ट करने गृह जंजाल से मुक्त हो वे वैरागी हुए। महावीर सोचते हैं—

अवश्यं यदि नश्यन्ति स्थित्वापि विषयाश्चिरम्।
स्वयं त्याज्यास्तथा हि स्यान्मुक्ति संसृतिरन्यथा ॥

आत्मसाधन--मोह! ये पञ्चेन्द्रियों के विषय दीर्घकाल तक रहकर भी अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं। तब उनका स्वयमेव ही त्याग कर देना चाहिए। इसी प्रकार मुक्ति उपलब्ध होगी अन्यथा संसार कारण ही बढ़ेगा।

"श्रमयति आत्मानं तपसि असौ श्रमणः" जो आत्मन् स्व आत्मा को तप में लगावे वही सच्चा श्रमण है। महावीर निरन्तर तप द्वारा मोह को नष्ट करने में लग गये जो संसार का कारण है। मोह के विषय में जैनाचार्यों ने लिखा है—

दुःखं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हयं जस्स न होइ तण्हा,
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥

"जिसे मोह नहीं उसका दुःख दूर हो गया, जिसके तृष्णा नहीं उसका मोह चला गया, जिसके लोभ नहीं उसकी तृष्णा चली गई, तथा जिसके पास अर्थ संग्रह नहीं उसका लोभ दूर हो गया।"

सत्य--सत्य के विषय में महावीर ने कहा 'निजानुभूति आत्म परक पदार्थ जैसा स्वयं सत् है वैसा जानना कहना ही सत्य है। समता युक्त वाक्य, संयम सम्यक् विश्वास वाणी का बोलना तथा लक्ष्य में आया हुआ स्वभाव ही उत्तम सत्य है।'

अहिंसा-अहिंसा सर्व धर्मों की जननी है सभी ने मुक्त कण्ठ से अहिंसा को अपनाया, यह कण-कण में व्याप्त है एक अहिंसा धर्म में ही सर्व धर्म सिद्धान्त मौजूद हैं-महावीर ने कहा—

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ॥

अपरिग्रह--महावीर ने अपरिग्रह के विषय में अत्यधिक जोर दिया—'ऐ संसार के मानवो, जितनी वस्तु की तुम्हें दैनिक जीवन में आवश्यकता है उतना ही उपयोग में लो, कल की मत सोचो, वह स्वयं ही उपलब्ध होगी। अति परिग्रह ही जीवन का अधः पतन है" जो इस पिशाच से रिक्त है वही मुक्ति का अधिकारी है।

अनेकान्त--अनन्त धर्म वाले पदार्थों का स्याद्वाद ढंग से वस्तु का प्रतिपादन करना ही अनेकान्त है। महात्मा गांधी जी ने अनेकान्त के विषय में कहा है-"यह सत्य का सन्मार्ग है। मुझे यह अनेकान्त बड़ा प्रिय है"।

आज देश में अराजकता अनाचार भ्रष्टाचार चरम सीमा पर है यदि भगवान महावीर की शिक्षाएं जीवन में उतारें तो विश्व सुख में शान्ति हो सकती है।

जय महावीर!

श्वेताम्बर परम्परा में भगवान महावीर की जीवन सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन जितने विस्तार से उपलब्ध है उसका शतांश भी दिगम्बर परम्परा में नहीं है। कारण इसका शायद यह कि दिगम्बरों ने महावीर के सांसारिक रूप को कोई महत्व न दे उनके अलौकिक गुणों को अधिक महत्व दिया। इसीलिए केवल वे ही घटनाएं उनके यहां शेष रहीं जो उनके इस अलौकिक स्वरूप का दर्शन कराने हेतु आवश्यक अथवा सहायक थीं। वैसे भारतीय परम्परा में भी ऐतिहासिक घटनाओं का बहुत कम महत्व समझा जाता रहा है। आज भी भारत का अतीत अन्धकार में है उसका सबसे बड़ा कारण भी यह ही है। दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में मतभेदों की खाई बहुत कुछ इसी दृष्टिभेद को लेकर चौड़ी हुई है जिसे पाटना प्रायः असंभव ही है।

—प्र० सम्पादक

महावीर का जीवन एवं उपदेश

□ श्री सूरजप्रकाश शर्मा
जयपुर

"सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरीजिउं" इस दिव्यघोष के साथ न केवल मानव समाज को बल्कि पशुओं तक को अहिंसा, दया, और प्रेम का पाठ पढ़ाने वाले महावीर एक धर्म-संस्थापक न होकर महान लोकनायक, धर्मनायक, क्रान्तिकारी सुधारक, विश्वबन्धुत्व के प्रतीक, विश्व के कर्णधार व प्राणिमात्र के परमप्रिय हित चिन्तक थे। महावीर ने विश्व को सच्चे साम्यवाद, समाजवाद, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का प्रशस्त मार्ग दिखाकर सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की रत्नत्रयी का अक्षय पाथेय दे मुक्तिपथ पर अग्रसर किया।

साधना काल के 12 वर्षों में महावीर ने देवकृत एवं मानवकृत अनेक कठोर उपसर्ग सहन किए मगर कोई भी विपत्ति उन्हें साधनापथ से विचलित न कर सकी। एक बार आप मेढ़िया ग्राम से कौशाम्बी पधारे और पौष कृष्णा प्रतिपदा के दिन उन्होंने निम्न अभिग्रह धारण किया।

"द्रव्य से उड़द के बाकले सूप के कोने में हों, क्षेत्र से देहली के बीच खड़ी हो, काल में भिक्षा समय बीत चुका हो, भाव से राजकुमारी दासी बनी हो, हाथ में हथकड़ी और पैरों में बेड़ी हो, मुंडित हो, आंखों में आंसू और तेले की तपस्या किए हुए हो, इस प्रकार के व्यक्ति के हाथ से यदि भिक्षा मिले तो लेना, अन्यथा नहीं।

इस कठोर अभिग्रह में पांच महीने पचीस दिन हो गए। संयोगवश एक दिन भिक्षा के लिए प्रभु "धना" श्रेष्ठी में घर गये जहां राजकुमारी चन्दना तीन दिन की भूखी प्यासी, सूप में उड़द के बाकले लिए हुए धर्म पिता के आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी। सेठानी मूला ने उसको सिर मुंडित कर, हथकड़ी पहनाए तलघट में बन्द कर रखा था। प्रभु को आया देखकर वह प्रसन्न हो उठी। उसका हृदय-कमल खिल

गया किन्तु प्रभु अभिग्रह की पूर्णता में कुछ न्यूनता देखकर वहां से लौटने लगे तो चन्दना के नयनों में नीर बह चला। प्रभु ने अपना अभिग्रह पूरा हुआ जान राजकुमारी चन्दना के हाथ से भिक्षा ग्रहण की। चन्दना की हथकड़ियां और बेड़ियां टूटकर बहुमूल्य आभूषणों में बदल गई। आकाश में देव-दुन्दुभि बजी, पंच दिव्य प्रकट हुए। चन्दना का चिन्तातुर चित्त और अपमान-प्रपीड़ित-मलिन मुख सहसा चमक उठा।

प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न होने पर यही चन्दना प्रभु की प्रथम शिष्या और साध्वी संघ की प्रथम सदस्या बनी।

चम्पा नगरी में स्वातिदत्त ब्राह्मण के पूछने पर प्रभु ने कहा "मैं शब्द का जो वाच्यार्थ है, वही आत्मा है।" आत्मा इन अंग उपांगों से भिन्न अत्यन्त सूक्ष्म और रूप, रस गंध, स्पर्श आदि से रहित है। उपयोग-चेतना ही उसका लक्षण है। अरूप होने से इन्द्रियां उसे ग्रहण नहीं कर पातीं। अतः शब्द, रूप, प्रकाश और किरण से भी आत्मा सूक्ष्मतम है। ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है और आत्मा ज्ञान का आधार है। गुणी होने से आत्मा को ज्ञानी कहते हैं।

प्रभु की विशिष्टता शास्त्र में निम्न उपमाओं से बताई गई है वह कांस्यपात्र की भांति निर्लेप, शंख की तरह निरंजन राग रहित, जीव की भांति अप्रतिहत गति, गगन की तरह अवलम्बन रहित, वायु की भांति अप्रतिबद्ध, शरद ऋतु के स्वच्छ जल की भांति निर्मल, कमलपत्र के समान निर्लेप, कच्छप के समान जितेन्द्रिय, गेंडे की भांति राग-द्वेष रहित एकाकी, पक्षी की भांति अनियत विहारी, भारण्ड की भांति अप्रमत्त, उच्च जातीय गजेन्द्र के समान शूर, वृषभ के समान पराक्रमी, सिंह की भांति दुर्द्धर्ष, सुमेरु की भांति परिषहों के बीच अचल, सागर की भांति गम्भीर, चन्द्रवत् सौम्य सूर्यवत् तेजस्वी, स्वर्ण की तरह कान्तिमान, पृथ्वी के समान सहिष्णु और अग्नि की तरह जाज्वल्यमान तेजस्वी थे।

वैशाख शुक्ला दशमी के दिन जृम्भिकाग्राम के बाहर ऋजुबालुका नदी के किनारे, जीर्ण उद्यान के समीप श्यामाक नामक गाथापति के क्षेत्र में कमल वृक्ष के नीचे गोदोहिका आसन से प्रभु जब आतापना ले रहे थे, छट्ठ भक्त की निर्जल तपस्या से क्षपक श्रेणी का आरोहण कर शुक्लध्यान के द्वितीय चरण में मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन चार घाती कर्मों का क्षय किया और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के योग में केवलज्ञान एवं केवलदर्शन की उपलब्धि की। अब प्रभु अर्हन्त कहलाये। देव, मनुष्य, असुर, नारक, तिर्यञ्च, चराचर सहित सम्पूर्ण लोक की पर्याय जानने और देखने वाले सब जीवों के गुप्त अथवा प्रकट सभी तरह से मनोगत भावों को जानने वाले सर्वज्ञ सर्व-दर्शी बन गये।

केवलज्ञान प्राप्ति के पश्चात् तीसरे वर्ष में भगवान् महावीर कौशाम्बी पधारे। यहां उदयन नामक राजा राज्य करता था वहां उदयन की बुआ एवं शतानीक की बहिन जयंती प्रभु की वंदना को आई और जयंती श्राविका ने अनेक प्रकार से अपनी जिज्ञासा शान्त की।

प्रभु ने उसकी शंका का निराकरण कर कहा कि जीव हिंसा, मृषा-वाद-झूठ अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद निन्दा, रति-अरति, माया-मृषा कपटपूर्वक झूठ और मिथ्यादर्शन शल्य के सेवन से जीव भारी होता है और चतुर्गतिक संसार में भ्रमण करता है और इन्हीं 18 पापों की विरति-निवृत्ति में जीव संसार को घटाता है। प्रभु ने आगे कहा कि मोक्ष पाने की योग्यता स्वभाव से होती है किसी परिणाम से नहीं और भव-सिद्धिक जीवों में से निरन्तर मुक्त होते रहें तब भी

संसार में भव्य जीव समाप्त नहीं होंगे क्योंकि वे अनन्त हैं। सोने और जगने के बारे में प्रभु ने कहा कि अधर्म प्रेमी, अधर्म प्रचारक और अधर्माचरण में रंगे व्यक्ति निद्रा में ही ठीक हैं और धर्मानुसारी धर्मयुक्त विचार, प्रचार एवं आचार में रत व्यक्तियों का जगना अच्छा है। इसी प्रकार शक्ति, सम्पत्ति और साधनों का अच्छापन एवं बुरापन उनके सदुपयोग एवं दुरुपयोग पर निर्भर है।

प्रभु ने यह भी बताया कि लोक चार प्रकार का है। द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक और भाव लोक। द्रव्य से लोक एक और सांत है। क्षेत्र से लोक असंख्यक कोटाकोटि योजन का है, वह भी सान्त है। काल से लोक की कभी आदि नहीं और अंत भी नहीं। भाव से लोक वर्णादि अनन्त-अनन्त पर्यायों का भंडार है इसलिए वह अनन्त है। इस प्रकार लोक सान्त भी है और वर्णादि पर्यायों का अंत नहीं होने से अनन्त भी है।

इसी प्रकार मरण के विषय में बताया कि मरण दो प्रकार का है बाल मरण और पण्डित मरण— बाल मरण से संसार बढ़ता है और पण्डित के ज्ञानपूर्वक समाधि मरण से संसार घटता है। बाल मरण के बारह प्रकार होते हैं और क्रोध, लोभ या मोहादि भाव में अज्ञानपूर्वक असमाधि से मरना बाल मरण है।

प्रभु ने रूप, श्रमण माहण की पर्युपासना के फल बताते हुए कहा "श्रमणों की पर्युपासना का प्रथम फल अपूर्वज्ञान श्रवण, श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान, विज्ञान से पच्चखाण-त्याग पच्चखाण से संयम, संयम से कर्मास्रव का निरोध, अनास्रव से तप, तप से कर्मनाश, कर्मनाश से अक्रिया और अक्रिया से सिद्धिफल प्राप्त होता है।"

धर्म तत्व का निर्णय बुद्धि से होता है। प्रत्येक को सरलता से व्रतों का बोध हो और सभी अच्छी तरह उनको पाल सकें, यही चातुर्याम और पंच शिक्षा रूप धर्म भेद है।

नहीं जीता हुआ अपना आत्मा (मन) शत्रुरूप है एवं चार कषाय तथा 5 इन्द्रियां भी शत्रुरूप हैं। एक आत्मा के जीतने से ये सभी वश में आ जाते हैं। रागद्वेष रूप स्नेहपाश को मैंने उपायपूर्वक काट दिया है अतः मैं मुक्तपाश और लघुभूत होकर विचरता हूं। मैंने यह भी समझ लिया है कि कुप्रवचन के व्रती सब उन्मार्गगामी हैं केवल वीत-राग जिनेन्द्र प्रणीत मार्ग ही उत्तम मार्ग है।

लोक के अग्रभाग पर एक निश्चल स्थान है जहां जन्म, जरा, मृत्यु, क्रोध और पीड़ा नहीं होती परन्तु वह स्थान सबको सुलभ नहीं है उस स्थान को निर्वाण, सिद्धि, क्षेम एवं शिव स्थान आदि नाम से कहते हैं और उस शाश्वत स्थान को प्राप्त करने वाले मुनि चिन्ता से मुक्त हो जाते हैं।

जिस प्रकार अक्षम के शरीर पर दूषित पकवान का बुरा असर होता है उसी प्रकार जीव हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष आदि पापों का सेवन करता है तब तत्काल ये कर्म सरल व मनोहर प्रतीत होते हैं परन्तु इसमें विपाक परिणाम अनिष्टकारक होते हैं जो करने वालों को भोगने पड़ते हैं और अहिंसा, सत्य, शील, क्षमा और अलोभ आदि शुभ कर्मों की प्रवृत्तियां मन को मनोहर नहीं लगती, प्रारम्भ में वे कठिन लगती हैं, परन्तु इनका परिणाम सुखदायी होता है।

पुद्गलों के विषय में प्रभु ने कहा कि अचित्त पुद्गल भी प्रकाश करते हैं। पुद्गलों के अचित्त होते हुए भी प्रयोक्ता हिंसा करने वाला और प्रयोग हिंसाजनक होता है। पुद्गल तो मात्र रत्नादि की तरह अचित्त होते हैं।

प्रभु ने क्रियाओं के सम्बन्ध में कहा कि एक समय में जीव एक ही क्रिया करता है—ईर्यापथिकी अथवा सांपरायिकी। जिस समय ईर्यापथिकी क्रिया करता है उस समय सांपरायिकी

क्रिया नहीं और सांपरायिकी क्रिया के समय ईर्यापथिकी नहीं करता। देखना, बोलना जैसी दो क्रियायें एक साथ हो सकती हैं इसमें कोई आपत्ति नहीं है आपत्ति एक समय में दो उपयोग होने में है।

परिनिर्वाण—कार्तिक कृष्णा अमावस्या को प्रभु काल-धर्म को प्राप्त हुए; जन्म, जरा-मरण, के सब बन्धनों को नष्ट कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए। उस समय चन्द्र नाम का सम्वत्सर, प्रीतिवर्धन नाम का मास, नन्दिवर्धन नाम का पक्ष था। दिन का नाम अग्निवेशम था उपशम था देवानन्दा रात्रि और अर्च नाम का लव था। मुहूर्त नाम का प्राण और सिद्ध नाम का स्तोक था। नामकरण और सर्वार्थसिद्ध मुहूर्त में स्वाति नक्षत्र के योग में प्रभु षष्ठभक्त में तप में पर्यंकासन से विराजमान थे।

प्रत्येक प्राणी को जीवन, सुख और मधुर व्यवहार प्रिय है। मृत्यु, दुःख और अभद्र व्यवहार सबको अप्रिय है अतः प्राणिमात्र का परम कर्तव्य है कि जिस व्यवहार को वह अपने लिए प्रतिकूल समझता है वैसा अप्रीतिकर व्यवहार किसी दूसरे के प्रति नहीं करे। दूसरों से जिस प्रकार के सुन्दर एवं सुखद व्यवहार की वह अपेक्षा करता है वैसा ही व्यवहार वह प्राणिमात्र के साथ करे।

मुक्ति मानव-देह से ही होती है और किसी देह से नहीं। मानव-देह में मानवता, जो माध्यमिक जीवन भूमि है, प्रबल प्रयास से ही प्राप्त हो सकती है अर्थात् मनुष्यत्व से मुक्ति है। मनुष्य देह पूर्व कर्म के फल से मिलता है और मनुष्यत्व कर्म फल को निष्फल करने से मिलता है। मनुष्य देह प्राप्त करने के बाद भी मनुष्यत्व प्राप्त करना परम दुर्लभ है।

संसारी जीव अपने और अन्य बंधु-बांधवों के लिए साधारण कर्म करता है किन्तु उस कर्म के फलोदय के समय कोई भी बन्धु बन्धुता नहीं दिखाता अर्थात् हिस्सेदार नहीं होता है और जो व्यक्ति संस्कारहीन है तुच्छ है और प्रमादी है, जो प्रेम, राग और द्वेष में फंसे हुए हैं वासनाओं के दास हैं, वे धर्म रहित हैं क्योंकि कोई भी तत्काल विवेक को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः अभी इन कामनाओं का परित्याग कर। सन्मार्ग में उपस्थित होकर, समत्व दृष्टि से लोभ को अच्छी तरह जानकर आत्मरक्षक महर्षि अप्रमत्त होकर विचरण करे।

जो जीवों की हिंसा नहीं करता वह साधक 'समिति'—सम्यक् प्रवृत्ति वाला कहा जाता है। उसमें उसके जीवन में से पाप कर्म वैसे ही निकल जाता है जैसे ऊँचे स्थान से जल।

जो दुर्जय संग्राम में दस लाख योद्धाओं को जीतता है उसकी अपेक्षा जो एक अपने को जीतता है उसकी विजय ही परम विजय है। बाहर के युद्धों से क्या? स्वयं अपने से ही युद्ध करो। अपने से अपने को जीतकर ही सच्चा सुख प्राप्त होता है। और जो मनुष्य प्रतिमास दस लाख गायों का दान करता है उसको भी संयम ही श्रेय है, कल्याणकारक है, फिर भले ही वह किसी को कुछ भी दान न करे।

जो विद्याहीन है और जो विद्यावान् होकर भी अहंकारी है जो अजितेन्द्रिय है, अविनीत है, जो बार-बार असंबद्ध बोलता है, बकवास करता है वह अबहुश्रुत है। अभिमान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य से शिक्षा प्राप्त नहीं होती है। जो हंसी-मजाक नहीं करता, सदा शान्त रहता है, मर्म प्रकाशित नहीं करता; अशील सर्वथा आचार नहीं है, विशील दोषों से कलंकित नहीं है, रसलोलुप-चटोरा नहीं है क्रोधी नहीं है, सत्य में अनुरक्त है वह शिक्षाशील होता है।

भगवान महावीर
चिन्तन और मनन

द्वितीय खण्ड

मंगलाचरणानि

एस सुरासुरमणुसिदवंदिदं घोदघाइकम्ममलं ।
पणमामि वड्ढमाणं तिरथं धम्मस्स कत्तारं ।।

वीरो जरमरणरिवू वीरोत्रिण्णाणणाणसंपण्णो ।
लोगस्सुज्जोयपरो जिणवरचन्दो दिसदु वोधिम् ।।

नमः श्रीवर्धमानाय निर्धूत कलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ।।

सिद्धधाम महारिमोहहननं कीर्तेः परं मन्दिरम्,
मिथ्यात्वप्रतिपक्षमक्षयसुखं संशीतिविध्वंसनम् ।
सर्वप्राणिहितं प्रभवेन्दुभवनं सिद्धं प्रमालक्षणम्,
सन्तश्चेतसि चिन्तयन्तु सुधियः श्रीवर्धमानं जिनम् ॥

भवार्णवे जन्तुसमूहमेनमाकर्षयामास हि धर्मपोतात् ।
मज्जन्तमुद्वीक्ष्य य एनसापि श्रीवर्धमानं प्रणमाम्यहं तम् ॥

वर्धमानो जिनः श्रीमान्नामान्वर्थं समुद्वहन् ।
देयान्मे वृद्धिमुद्घात घातिकर्म विनिर्मिताम् ॥

वन्दारून् वर्धमानोऽस्तु वर्धमान शिवप्रदः ।
दितकर्मानेकविधैः परीषद्गणैर्यकः ॥

श्रीवर्धमानमनिशं जिनवर्धमानं,
त्वां तं नये स्तुतिपथ पथि संप्रधौते ।

योऽन्त्योऽपि तीर्थंकरमग्रिममप्यजैषीत्
काले कलौ च पृथुलीकृतधर्मतीर्थः ॥

यस्यानताः पदनखैन्दवबिम्बचुम्बि
चूडामणि प्रकटसन्मुकुटाः सुरेन्द्राः ।

न्यक्कुर्वते स्म हरमर्धशशाङ्कमौलि-
लीलोद्धतं स जयताज्जिनवर्धमानः ॥

भगवान महावीर प्रतिपादित धर्म

भगवान महावीर ने धर्म की अनेक तरह से व्याख्या की है उनमें दो मुख्य हैं। एक के अनुसार वस्तु का जो स्वभाव है वही धर्म है यह धर्म प्रत्येक पदार्थ में होता है जीव में भी। अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान आदि स्वाभाविक धर्म हैं किन्तु अनादि काल से आत्मा का यह स्वभाव रूप धर्म विकृत हो रहा है। इस विकृति को दूर करने के लिए जो रास्ता अथवा प्रयत्न भगवान महावीर ने बताया वह भी धर्म कहलाता है। अहिंसा, संयम, तप धर्म, तीन रत्न ये सब निश्चय धर्म को प्राप्त करने के साधन हैं। साधक को साधना से पूर्व इस तथ्य को भली प्रकार समझ लेना चाहिए।

—प्र० सम्पादक

□ श्री शोभनाथ पाठक
मेघनगर।

भगवान् महावीर ने सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य के सम्बल से समाज को संवारने का श्लाघनीय प्रयास किया। उन्होंने इन पांच व्रतों को अंतस में उतारने का आह्वान किया, जो धर्म की मूल है। महावीर प्रतिपादित धर्म की वरीयता में इनका विशिष्टतम स्थान है। तत्कालीन परिस्थिति को परख महावीर ने हिंसा का धार्मिक कृत्यों में घोर विरोध किया। उनका कहना यही था कि वास्तविक धर्म तो यही है कि किसी को पीड़ा न पहुंचाई जाय।

इसी प्रसंग में थोड़ा 'धर्म' की गहनता पर भी हम विचार करलें। तथ्यतः 'धर्म' का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ है "धारणात् धर्मः" अर्थात् जो धारण किया जाय वह धर्म है। 'धृ' धातु से धारण करने के अर्थ में 'धर्म' का प्रयोग होता है, जबकि आत्मा में अहिंसा, संयम, तप आदि गुणों को भी धर्म की गरिमा से मंडित किया गया है। यथा—

"धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो"

समष्टि रूप से धर्म के विषय में यह भी कहा जा सकता है कि 'धर्म' आत्मा की राग-द्वेष हीन परिणति है यथा—

वत्थुसहावो धम्मो, धम्मो जो सो समेत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो धम्मो॥

धर्म की अथाह गरिमा को बहाने का मनीषियों ने श्लाघनीय प्रयास किया है। 'धर्म' से ही तो मानवीय परिष्कार होता है और धर्म ही आत्मशुद्धि का साधन है यथा—

'आत्मशुद्धिसाधन धर्मः" (जैनसिद्धान्तदीपिका 813) चारीत्रिक निखार के लिए तो 'धर्म' अति आवश्यक है तभी तो आचाराङ्ग सूत्र में कहा गया है कि "धर्मञ्चारित्रलक्षणम्"

—(आचा० सू० 413/320) अभयदेव

यही नहीं वरन् 'धर्म' की गरिमा का निखार तो इसमें है यथा—"चारित्तं खलु धम्मो"[1]

आज समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, अनैतिकता, उथल-पुथल का कारण यही है कि लोग 'धर्म' की यथार्थता को नहीं समझते। दूसरों को चारित्र, की शिक्षा देकर स्वयं उसका पालन न करने से भला समाज कैसे संभल सकता है ? आज सामाजिक व्यवस्था में इसी की कमी है।

भगवान् महावीर ने दूसरों को उपदेश देने के पूर्व ही सभी आदर्शों को अपने जीवन में उतारा था। महावीर प्रतिपादित धर्म व दर्शन की यही तो महत्ता है कि इतने साल व्यतीत हो जाने पर भी उनके पांच महाव्रत आलोक स्तम्भ के समान युग के मार्गदर्शक हैं। महावीर ने धर्माचरण का आह्वान कर निज चरित्र के निखार से दूसरों को संवारने का आदर्श प्रस्तुत किया।[2] उन्होंने 'धर्म' को मानव कल्याण की थाती रूप से उपदेश दिया कि—

जरामरणवेगेणं बुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठाय गई सरणमुत्तमं॥[3]

अर्थात् जरा और मरण के प्रवाह में बहते हुए प्राणी के लिए, धर्म ही एक मात्र द्वीप-प्रतिष्ठा गति और उत्तम शरण है, किन्तु मनुष्य भौतिकता में भटक इस यथार्थता को समझ नहीं पाता तभी तो महावीर ने आगाह होने का आह्वान किया है यथा—

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ॥
जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ॥[4]

कहने का तात्पर्य कि जो रातें करवटें बदलते व्यतीत हो जाती हैं किंतु मनुष्य धर्माचरण नहीं कर पाता, अंततः उसे पछताना ही पड़ता है। अतः मनुष्य को धर्म की यथार्थता परखनी चाहिए क्योंकि धर्म ही तो इस विश्व में कल्याणकारी है यथा—

धर्मो वसेन्मनसि यावदलं स तावद्।
हन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेऽथ तस्मिन्॥
दृष्टा परस्परहतिर्जनकात्मजानाम्।
रक्षा ततोऽस्य जगत खलु धर्म एव॥[5]

तभी तो महावीर ने स्पष्ट कहा था कि "धर्म प्रचार के पवित्रतम अनुष्ठान में यथाशक्ति योग देकर आत्मोद्धार एवं परोद्धार करो।" 'धर्म' पालन से ही मन शुद्धि होती है —

मनो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।
त सम्मं तु निगिण्हामि, धम्म सिक्खाइ कन्थगं॥[6]

अर्थात् मन बहुत ही साहसिक, रौद्र और दुष्ट अश्व के समान इधर-उधर दौड़कर चला जा सकता है जो केवल 'धर्म' रूपी लगाम से ही संयमित किया जा सकता है। प्रत्येक क्षेत्र में 'धर्म' की उपयोगिता अक्षुण्ण है—

धम्मज्जियं च ववहारे, बुद्धेहायरियं सया।
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभिगच्छई॥

अर्थात् धर्महीन नीति भी जगत के लिए अभिशाप है। अतः महावीर प्रतिपादित धर्मोपदेशों को स्वयं के अंतस में उतार कर अपना व जग का कल्याण करें।

1. प्रवचनसार—117
2. दशवैकालिक 1/1
3. उत्तराध्ययन 23/68
4. उत्तराध्ययन 14/24–25
5. अर्हत् प्रवचन पृ. 15
6. उत्तराध्ययन अ. 23, गा. 58

अर्हतों का मोक्षमार्ग

संसार के किसी भी प्राणी से यदि यह पूछा जाय कि वह क्या चाहता है और यदि वह बोल सकता हो तो उसका केवल एक ही उत्तर होगा, 'सुख'। यह अद्भुत साम्य है। इसलिए विश्व के प्रत्येक धर्माचार्य ने सुख को जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार किया है और अपने-अपने ढंग से उसकी प्राप्ति का उपाय बताया है। किसी ने केवल भक्ति पर जोर दिया है तो कोई ज्ञान को और कोई आचरण मात्र को और कुछ इनमें से युगलों को सुख प्राप्ति का मार्ग स्वीकार करते हैं किन्तु भगवान आदिनाथ से लेकर भगवान महावीर तक सारे तीर्थंकरों ने सुख प्राप्ति का मार्ग तीनों को समाहार रूप से बताया है। इसीलिए आचार्य उमास्वाति के मोक्षशास्त्र का आद्य सूत्र है, 'सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्गः'।

—प्र० सम्पादक

☐ प्रो० श्रीरंजनसूरिदेव
एम०ए०, जैनदर्शनाचार्य, पटना

मोक्ष, प्रत्येक दर्शन का उपादेय है। प्रत्येक दार्शनिक मोक्ष प्राप्ति को केन्द्र बनाकर अपनी विचार-भंगी की परिधि को विस्तार देता है। सभी दर्शन शास्त्रियों ने मोक्ष को स्वीकार किया है और उसकी रूप-कल्पना के संदर्भ में विभिन्नता के साथ अपनी-अपनी परिभाषाओं का विन्यास किया है। मोक्ष चिन्तक दर्शनों में जैन दर्शन को भी पांक्तेयता प्राप्त है। जैन दर्शन ने भी मोक्ष की बड़ी विशद व्याकृति उपन्यस्त की है। आचार्य उमास्वाति के अनुसार जैनदर्शन के मोक्षचक्र का धुरी-सूत्र है : 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' (तत्वार्थसूत्र, 1 1) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों 'रत्नत्रय' कहलाते हैं और यही रत्नत्रय मोक्षमार्ग का निर्देशक तत्व है, साथ ही धर्म का पर्याय भी। रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में स्वामी समन्तभद्र ने कहा है : 'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।'

भगवान् महावीर या अन्यान्य तीर्थङ्कर भौतिक रत्नों का परित्याग कर उक्त दिव्य रत्नत्रय को उपलब्ध करने के निमित्त ही प्रव्रजित हुए थे। चूँकि सभी-के-सभी तीर्थङ्कर भव्य पुरुष थे, इसलिए राजपरिवार में जन्म लेकर भी उन्होंने राज-सुख को तिलांजलि दे दी थी। उन्हें राजरत्नों की तादात्विक झिलमिलाहट मोह न सकी; क्योंकि उनका अन्तर्मन धर्मरत्न के आत्यन्तिक प्रकाश से परिपूर्ण था। यह धर्मरत्न और कुछ नहीं, उक्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही था। यहां संक्षेप में हम इन तीनों पर विचार करें।

सम्यग्दर्शन—'नियमसार' में बताया गया है कि ज्ञानदर्शन-सम्पन्न एक अविनाशी आत्मा ही मनुष्य की अपनी होती है, शेष शुभाशुभ कर्मों के संयोग से उत्पन्न सारे पदार्थ बाह्य हैं, यानि मनुष्य से भिन्न हैं, उसके अपने नहीं हैं।[1]

1. एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥—नियमसार, श्लो० 102।

शुभाशुभ कर्मों के संयोग से उत्पन्न बाह्य पदार्थों के प्रति जब तक मनुष्य का ममत्व बना रहता है; तब तक वह मोक्ष या बन्धनमुक्ति के लिए प्रयास नहीं कर पाता। आत्मा यदि सोना है, तो शुभाशुभ कर्म के संसर्ग से उत्पन्न पदार्थ सोने का मैल है। सांसारिकता से भ्रान्त मनुष्य सोने के मैल को भी असली सोना समझ बैठता है, फलतः वह बाह्य भौतिक पदार्थों या कर्म-पुद्गलों के प्रति निर्मम नहीं हो पाता। आत्मशोधक मनुष्य को अपनी आत्मा और उसकी विकृतियों से परिचय तो रहना ही चाहिए, विकृतियों से छुटकारा पाने के उपायों का भी पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए। इसके साथ ही उस ज्ञान की सत्यता पर दृढ़ आस्था भी बनी रहनी चाहिए। यह आस्था ही सम्यग्दर्शन है। जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन से सम्पन्न होता है, वह शरीर को ही आत्मा मान लेने के मिथ्याभाव में आसक्त नहीं होता। इस मिथ्याभाव से अलग रहकर जो आत्मतत्व को अच्छी तरह पहचानकर उससे विचलित नहीं होता, वही मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होता है।[1]

सम्यग्ज्ञान -जीवाजीवात्मक सात तत्वों के ज्ञान पर दृढ़ आस्था या श्रद्धा न रखना यदि सम्यग्दर्शन है, तो उन तत्वों का सही-सही ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है। जिस जीव को दृढ़ श्रद्धान और ज्ञान हो जाता है, वह 'सम्यग्दृष्टि' हो जाता है, अर्थात् उसकी दृष्टि सही मानी जाती है। सम्यग्दृष्टि से युक्त मनुष्य मोक्षमार्ग पर चलते समय कभी प्रमाद में नहीं पड़ता और न कभी लक्ष्यभ्रष्ट ही होता है। सम्यग्दर्शन से उत्पन्न सम्यग्ज्ञान के बिना निष्काम होना सम्भव नहीं है और सकामता की स्थिति में लक्ष्यभ्रष्ट होने का खतरा बराबर बना रहता है। कामवश्य व्यक्ति आगे नहीं बढ़ सकता। इस सम्बन्ध में 'जैनधर्म' के यशोधन लेखक पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने बड़ा सटीक उदाहरण प्रस्तुत किया है कि जैसे कोई आदमी देश की स्वतंत्रता का मार्ग अपनाता है, किन्तु अपने मन में यह कामना रखता है कि इस मार्ग को अपनाने से मेरी ख्याति होगी, प्रतिष्ठा बढ़ेगी, साथ ही कौंसिल की मेम्बरी भी मिलेगी। वह सब प्राप्त हो जाने पर वह उन्हीं चीजों में रम जाता है और देश की स्वतंत्रता की बात उसकी स्मृति से उतर जाती है। वैसे ही सांसारिक सुख की कामना रखकर मोक्षमार्ग पर चलने वाला व्यक्ति लक्ष्यभ्रष्ट या पथच्युत हो जाता है। अतः, सम्यग्ज्ञान के बिना निराकांक्ष हो पाना सम्भव नहीं। सम्यग्ज्ञान से उत्पन्न निराकांक्षता ही मनुष्य के मुक्तिमार्ग में सबल सम्बल का काम देती है।

सम्यक्चारित्र—चारित्र का अर्थ आचार या आचरण है। मनुष्य जो कुछ सोचता, बोलता या करता है, वह सब उसका आचरण कहलाता है। मन, वचन और काय का दुष्प्रयोग यदि दुराचरण है, तो सत्प्रयोग शुभाचरण। सत्प्रयोग से मनुष्य सुखी होता है, तो दुष्प्रयोग से दुःखी। आचरण का सही-सही ज्ञान, यानी मन, वचन और शरीर का सत्प्रयोग ही सम्यक्चारित्र है।

चारित्र या आचरण यथार्थतः दो प्रकार का होता है—प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक। प्रवृत्तिमूलक चारित्र बन्धन का कारण होता है, तो निवृत्तिमूलक चारित्र मोक्ष का। प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है और निवृत्ति अभ्यास-साध्य। प्रवृत्ति मार्ग से उत्पन्न सुख सहजलभ्य और सहजभोग्य है, किन्तु निवृत्ति मार्ग से उत्पन्न सुख बहुत ढूँढ़ने पर मिलता है और बिना संयमी हुए उसे भोगा नहीं जा सकता। सांसारिक मनुष्य अपनी प्रवृत्ति को निवृत्तिमूलक बनाये रहेगा, तो उसे भी कालक्रम से निवृत्ति-सुख का आस्वाद मिलेगा ही।

कहना यह कि प्रवृत्ति में निवृत्ति का तुलसीदल अवश्य डालते रहना चाहिए। गोस्वामी तुलसीदास

1. द्रष्टव्य 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' श्लो० 15।

ने भी कहा है : 'कर तें कर्म करहुं विधि नाना, मन राखहु जहाँ कृपानिधाना।' निष्कर्ष यह कि नितान्त प्रवृत्ति-मूलकता केवल भोगवाद को ही विस्तार दे सकती है और भोगबद्ध मनुष्य के लिए एकमात्र निवृत्ति ही शीतल उपचार बन सकती है। मोक्ष-मार्ग निवृत्ति का मार्ग है और निवृत्तिमार्ग सम्यक्चारित्र के द्वारा ही उपलभ्य है। इसलिए, हिताहितचिन्तक तीर्थंकरों ने या धर्मोपदेष्टाओं ने प्रवृत्तिमूलक कार्यों की अपेक्षा सम्यक्चारित्र द्वारा प्राप्य निवृत्तिमूलक कार्य की ही प्रचुर प्रशंसा की है। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि सम्यक् चारित्र की प्रेरणा सद्विचारों से प्राप्त होती है और चारित्र ही अहिंसा का मूलस्रोत है, जिसके परिपोषक तत्व हैं सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

जैसा कि पहले कहा गया, उक्त रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग या साधन है। वैदिक संस्कृति में विचार या तत्वज्ञान को मोक्ष का साधन माना गया है; किन्तु श्रमण-संस्कृति आचार या चारित्र को मोक्ष का मार्ग स्वीकार करती है। वैदिक संस्कृति के अनुसार वैराग्य और संन्यास से तत्वज्ञान पुष्ट होता है। और फिर, उससे मुक्ति मिलती है। परन्तु, जैन तीर्थंकरों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से मोक्षमार्ग की प्राप्ति बतलाई है।

बन्धनमुक्ति को मोक्ष कहते हैं। बन्ध के कारणों का अभाव होने पर तथा संचित कर्मों की निर्जरा होने से समस्त कर्मों का समूल उच्छेद होना ही मोक्ष है। मोक्ष की दशा में, अनादिकाल से मिथ्यादर्शन आदि अशुद्धियों और कालुष्यों की पुंजीभूत आत्मा निर्मल, निश्चल और अनन्त चैतन्यमय हो जाता है और उसका परिणमन शुद्ध बन जाता है। कहना यह है कि समस्त कर्मों के विनाश के बाद आत्मा के निर्मल और निश्चल चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति ही मोक्ष है। आत्मा का बन्धन की परतन्त्रता से स्वतन्त्र हो जाना ही मुक्ति है। मोक्ष का ही पर्याय 'सिद्धि' है। सिद्धि प्राप्त व्यक्ति ही सिद्ध या अर्हत् या तीर्थंकर की संज्ञा प्राप्त करते हैं।

आत्मा एक स्वतंत्र द्रव्य है, जो ज्ञाता भी है और द्रष्टा भी। किन्तु, अनादिकाल से कर्मबन्धन में बंधा हुआ होने के कारण वह अपने किये हुए कर्मों का फल भोगता रहता है। रत्नत्रय की प्राप्ति से जब वह आत्मद्रव्य कर्मबन्धन का क्षय कर देता है, तब 'मुक्त' हो जाता है। मुक्तावस्था में आत्मा के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि स्वाभाविक गुण विकसित हो जाते हैं। जिस प्रकार सोने का मैल निकल जाने पर सोने का स्वाभाविक पीलापन गुण अधिकाधिक उद्भासित हो उठता है, उसी प्रकार कर्ममल के नष्ट हो जाने पर आत्मा के स्वाभाविक गुण अधिकाधिक निखर उठते हैं। जिस प्रकार आग की ज्वाला स्वभावतया ऊर्ध्वगति होती है, उसी प्रकार शुद्धात्मा की गति ऊर्ध्वगा होती है।

रत्नत्रय में प्रथम 'सम्यग्दर्शन' मोक्षमार्ग की पहली सीढ़ी है। जैसा पहले बताया गया, तत्वों के प्रति दृढ़ श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। भय, आशा, स्नेह और लोभ से जो श्रद्धा चंचल और मलिन हो जाती है, वह श्रद्धा न रहकर अंधविश्वास बन जाती है। जीवन्त श्रद्धा तत्व के प्रति अविचल निष्ठा ही है। श्रद्धा की ज्योति जगने पर ही साधक अपने लक्ष्य का स्पष्ट दर्शन करने लगता है और तभी उसे सम्यग्ज्ञान होता है कि धर्म आत्म-स्वरूप की प्राप्ति में है, न कि शुष्क बाह्य क्रिया-काण्ड में। सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति को आत्म-कल्याण, समाज हित, देश-निर्माण और मानवता के उद्धार का मार्ग स्पष्ट दीखने लगता है। सच पूछिए, तो स्वाधिकार की मर्यादा और स्वरूप का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। अपने अधिकार और स्वरूप की सीमा में रहकर दूसरे के अधिकार और स्वरूप

की सुरक्षा के अनुकूल अपनी जीवनचर्या निर्धारित करना ही सम्यक्-चारित्र है। कहना यह कि व्यक्ति स्वातंत्र्य की स्वावलम्बनधर्मिता ही सम्यक्चारित्र का पर्याय है।

श्रमणाचार्यों ने उपर्युक्त रत्नत्रय, जिसमें अहिंसा की मौलिक समताभावना सन्निहित है, पर ही जीवन-साधना प्रतिष्ठित की है और इस प्रकार उन्होंने प्राणिमात्र के समयभाव से जीवित रहने की प्रक्रिया पर गम्भीरता से सूक्ष्म विचार किया है। इससे स्पष्ट है कि सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान से परिपुष्ट सम्यक् चारित्र ही साक्षात् मोक्ष-मार्ग है।

अनमोल-वचन

(1)

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराः विदुः।
यदीये प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः॥

अर्थ—आचार्यों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को धर्म कहा है। इनके उलटे अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसार की परम्परा को बढ़ाने वाले होते हैं।

—आ. समन्तभद्र

(2)

धर्मः सुखस्य हेतुर्हेतुर्न विराधकः स्वकार्यस्य।
तस्मात्सुखभङ्गभिया माभूर्धर्मस्य विमुखस्त्वम्॥

अर्थ—धर्म सुख का कारण है। कारण कभी भी अपने कार्य का विरोधी नहीं होता इसलिए यह समझ कर कि धर्म के आचरण करने से सुख नष्ट हो जावेगा तू धर्म से विमुख मत हो।

—आ. गुणभद्र

(3)

न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्॥

अर्थ—तीन काल और तीन जगत् में सम्यग्दर्शन से अधिक अन्य कोई कल्याणकारी एवं मिथ्यादर्शन से अधिक अकल्याणकारी पदार्थ जीवों के लिए नहीं है।

—आ. समन्तभद्र।

भगवान् महावीर ने श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र तीनों को एक साथ सम्मिलित रूप से मुक्ति का मार्ग घोषित किया है। जिस औषधि विशेष का हमें ज्ञान है और हम उसका सेवन कर रहे हैं किन्तु यदि हमें यह श्रद्धा नहीं हो कि यह औषधि हमें अवश्य रोगमुक्त करेगी तो वह ज्ञान और औषधि सेवन कोई लाभ पहुँचाने वाला नहीं है। जीवन में पद पद पर हम इस सत्य का अनुभव करते हैं। इसीलिए मनीषियों का कथन है कि "विश्वासो फलदायकः"।

भगवान् महावीर ने इसीलिए त्रिरत्नों में सर्वप्रथम श्रद्धा को स्थान दिया है।

—प्र. सम्पादक

☐ श्री श्रीचन्द्र जैन
प्राचार्य—सान्दीपनि महाविद्यालय, उज्जैन

ॐ सद्धा परम दुल्लहा ॐ

धर्म तत्त्व में श्रद्धा होना अत्यन्त दुर्लभ है।

—भगवान् महावीर।

मानव-जीवन की यही सफलता है कि उसमें आराध्य के प्रति श्रद्धा हो और पूर्ण विनय के साथ वह स्वयं को जाने। वह भक्त ही नहीं जिसमें श्रद्धा का अभाव है। विश्व के समस्त धर्मों में श्रद्धा को प्रथम स्थान दिया गया है। सत्य तो यह है कि श्रद्धा ही धर्म की जननी है और इसी के माध्यम से जीवन को विराट् शक्ति प्राप्त होती है। तथा इसी श्रद्धा से इन्सान पाप-से दूर रहता है।[1] ज्ञान की प्राप्ति श्रद्धा से ही संभव है अन्यथा अश्रद्धालु सदा मूढ़ ही रहता है।

धर्म की आन्तरिक विभूति श्रद्धा ही है तथा जो धर्म इसे समुत्पन्न नहीं कर सकता, उसका अस्तित्व निरन्तर क्षीण-होता जाता है एवं कुछ ही समय में वह अभाव के गह्वर में लीन हो जाता है। श्लाघा की उपलब्धि श्रद्धा से होती है और श्रेय का परिज्ञान यही श्रद्धा कराती है। श्रद्धा एक ओर भक्ति-सम्पन्नता को साकार बनाती है तो दूसरी ओर भक्त की चिन्तन-शीलता में गहनता लाती है। 'श्रद्धा' शब्द के अर्थ हैं-(1) ईश्वर धर्म या बड़े लोगों के प्रति आदरपूर्ण और पूज्यभाव। आस्था (2) कर्दम मुनि की कन्या जो अत्रि ऋषि को ब्याही थी-(3) वैवस्वत मुनि की पत्नी। (देखिए प्रामाणिक हिन्दी कोश पृष्ठ 1062)

इसी प्रकार श्री वामन शिवराम आप्टे ने संस्कृत हिन्दी, कोश में श्रद्धा को निम्नस्थ अर्थों में अभिहित किया है-

(१) आस्था, निष्ठा, विश्वास, भरोसा (२) दैवी-सन्देशों में विश्वास, धार्मिक निष्ठा—श्रद्धावित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम्-श॰ 7।29 रघु. २।16, भग. 6।37, 17।3।

---

[1] श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।-गीता

(३) शान्तिःमन की स्वस्थता (४) घनिष्ठता, परिचय, (५) आदर सम्मान (६) प्रबल, या उत्कट इच्छा (७) दोहद, गर्भवती स्त्री की इच्छा। (देखिए पृ. 1034)

मानसिक शान्ति के लिए, मानवता को फलीभूत बनाने के लिए, आत्मिक स्वस्थता को जीवित रखने हेतु एवं आस्था को साकार बनाने के लिए श्रद्धा की अनिवार्यता निश्चित है। इस धरती पर आज जो हमें विषमता दिखाई देरही है, उसका प्रमुख कारण यही है कि श्रद्धा का सतत अभाव हो रहा है। मानव के पास सब कुछ है लेकिन इस सब कुछ से वह अपरिचित अश्रद्धालु होकर ही है। एक बार यदि हमारे मन में श्रद्धा का दीपक प्रज्वलित हो जाय तो फिर हम अपनी शक्ति का पूर्ण ज्ञान करलें और अनंत शक्ति के केन्द्र से आवश्यक परिचय भी प्राप्त कर सकें।

नर से नारायण बनने का सुगम उपाय यही है कि मनुष्य श्रद्धा के माध्यम से उस असाधारण व्यक्तित्व की खोज करले जिसके लिए परम साधक निरन्तर साधना कर रहे हैं। यह स्मरणीय है कि श्रद्धा में विनय आवृत है।

श्रद्धा और भक्ति

ये दो शब्द बाहर से तो पृथक् प्रतीत होते हैं, लेकिन गंभीरता से यदि विचार किया जाय तो ये दोनों एक दूसरे के पूरक ही हैं। श्रद्धा में भक्ति का समन्वय है और पूर्ण भक्ति तभी कहलाती है जब उसमें श्रद्धा का एकीकरण होजाता है। भक्ति के बिना श्रद्धा अपूर्ण है और भक्ति बिना श्रद्धा के पंगु है। इन दोनों की पूर्णता एक दूसरे पर आधारित है ऐसा मानना उचित ही है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि श्रद्धा की व्यापकता भक्ति पर अवलंबित है और भक्ति की विशालता श्रद्धा पर आधारित है। इस प्रकार श्रद्धावान् भक्त बनता है और सच्चा भक्त (आराधक श्रद्धालु बनकर ही स्वयं को सुखी बना पाता है। कतिपय मनीषियों की धारणा है कि श्रद्धा और प्रेम के समन्वित रूप को भक्ति कहा जाना चाहिए।

श्रद्धा और विश्वास

इन दोनों का भी विशेष महत्त्व है। श्रद्धा में विश्वास की स्थिति सुनिश्चित है लेकिन जब विश्वास सघन बन जाता है अथवा विश्वास में गहनता जब प्रकट होने लगती है, तभी वह किसी न किसी रूप में श्रद्धा के रूप में चित्रित हो उठता है।

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस के बालकाण्ड में लिखा है कि –

भवानीशंकरौ वन्दे, श्रद्धा-विश्वास रूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति, सिद्धा स्वान्तस्थमीश्वरम् ॥

तथ्य तो यह है कि श्रद्धा एवं विश्वास इन दोनों की अन्विति ही साधक को स्वलक्ष्य-प्राप्ति में सफलता प्रदान करती है। गीता में कहा गया है कि–

मनुष्य श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा है, वैसा ही वह है।

स्वामी विवेकानंद ने यह स्पष्ट कहा है कि– श्रद्धा के मानी अंध-विश्वास नहीं है। किसी ग्रन्थ में कुछ लिखा हुआ या किसी आदमी का कुछ कहा हुआ अपने अनुभव बिना सच मानना श्रद्धा नहीं है।

श्रद्धा का अर्थ है आत्म विश्वास, और आत्म विश्वास का अर्थ है ईश्वर पर विश्वास। (गांधी)

श्रद्धा से मनुष्य क्या नहीं कर सकता ?
सब कुछ कर सकता है। (—गांधी)

महाकवि टैगोर के मतानुसार श्रद्धा वह चिड़िया है जो प्रकाश का अनुभव कर लेती है और अंधेरे प्रभात में गाने लगती है।

(शाम मंगा)

नवधा-भक्ति-निरूपण में श्रद्धा उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार दुग्ध में नवनीत समाहित है।

भगवान् महावीर की वाणी में श्रद्धा विविध रूपों में अभिव्यक्त हुई है–

(1)

श्रद्धा की प्राप्ति बड़ी कठिन है।

(2)

नहीं देखने वाले ! तुम देखने वालों की बात पर विश्वास करते हुए चलो।

(3)

साधना में वही व्यक्ति संशय करता है जो कि मार्ग में ही रुक जाना चाहता है।

(4)

धर्म-श्रद्धा हमें रागासक्ति से मुक्त कर सकती है।

(5)

शंकाशील व्यक्ति को कभी समाधि-शान्ति नहीं मिलती।

(6)

जिस श्रद्धा से दीक्षा धारण की है उसी श्रद्धा के साथ शंकादि घातक दुर्गुणों को छोड़कर साधु-जीवन की सम्यक् परिपालना करनी चाहिये।

(7)

श्रुति और श्रद्धा प्राप्त होने पर भी संयम मार्ग में वीर्य–पुरुषार्थ होना अत्यंत कठिन है। बहुत से जीव श्रद्धा-सम्पन्न होते हुए भी संयम मार्ग में प्रवृत्त नहीं होते।

(8)

धर्म श्रद्धा से वैषयिक सुखों की आसक्ति छोड़कर यह जीव वैराग्य को प्राप्त कर लेता है।

(9)

उत्तम धर्म को सुन लेने के बाद भी उस पर श्रद्धा होना और भी दुर्लभ है।

—भगवान् महावीर के हजार
उपदेश–(स० गणेश मुनि
शास्त्री) से साभार।

सच्चा एवं पुनीत श्रमण वही है जो श्रद्धा के सहारे अपने अस्तित्व को समुज्वल बनाता है और सांसारिक वैभव की आसक्ति से दूर रहकर मानव-जीवन को धार्मिकता से परिपुष्ट करता रहता है। लेकिन अंधविश्वासों कलंकित श्रद्धा परित्याज्य है। अतः जागरूकता श्रद्धा में परमावश्यक है। विरति,-विवेक, तो श्रद्धा की ओर उसी प्रकार आकर्षित हो जाते हैं जिस प्रकार भ्रमर विकसित पुष्प की तरफ स्वयमेव आकृष्ट होता है।

आज के संतप्त जीवन को सुखी बनाने का सुगम उपाय यही है कि हम श्रद्धा को अपना संबल बनायें। तभी अभावों की पूर्ति होगी। एवं मनुज मनोज बन सकेगा।

समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए

आचारांग सूत्र १।८।३

आर्य महापुरुसां समभाव नै धरम कह्यो है ।

× × ×

अत्थेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू,
अत्थेगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू ॥

—भगवती सूत्र १।२।२।

अधार्मिक आतमावां रो सूतो रैवणो आच्छो अर धरमनिष्ठ आतमावां रो जागतो रैवणो आच्छो ।

× × ×

चत्तारि धम्मदारा खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे ।

—स्थानांग सूत्र ४।८

धरम रा चार दरवाजा है—क्षमा, सन्तोस, सरलता अर नम्रता ।

भारतीय दर्शनों में भक्ति का बहुत बड़ा महत्व है। कई दर्शन तो केवल भगवान की भक्ति से ही मुक्ति की प्राप्ति मानते हैं क्योंकि उनके ईश्वर रागी, भक्त पर प्रसन्न होकर वर देने वाले हैं किन्तु जैन धर्म में ऐसा नहीं है। जैनी जिसकी भक्ति या उपासना करते हैं वह तो शुद्ध-बुद्ध चैतन्य स्वरूप है। वह न किसी पर प्रसन्न होता है और न किसी पर द्वेष करता है। फिर भी जैन भक्ति में किसी से पीछे नहीं है। जैन भक्त कवियों के हजारों की तादाद में ऐसे पद आपको मिलेंगे जिसमें तीर्थंकरों से सांसारिक सुखों एवं पारलौकिक सुखों की याचना की गयी है। प्रकट रूप से यह बहुत बड़ा विरोधाभास प्रतीत होता है। किन्तु यदि हम जैन भक्ति के रहस्य को समझ लें तो सारी शंकाएं दूर हो सकती हैं। भक्ति से तीर्थंकर कुछ नहीं देते लेकिन भक्ति करने के कारण आत्म परिणामों में जो निर्मलता आती है उससे जो पुण्य का आस्रव होता है वह पुण्य शुभ फल का देने वाला है। अगर भक्ति के समय हमारे परिणामों में निर्मलता नहीं है तो वह भक्ति-भक्ति नहीं भक्ति का ढोंग है और उससे किसी भी अच्छे फल की प्राप्ति नहीं हो सकती।

—प्र. सम्पादक

□ श्री प्रकाश हितैषी शास्त्री
दिल्ली

सभी धर्मों में भक्ति की विशेष महत्ता प्रदर्शित की गई है। यहां तक कि कुछ धर्मों में तो भक्ति से ही परमात्मा और निःश्रेयस की प्राप्ति का उल्लेख पाया जाता है। जैनधर्म में भी भक्ति का विशेष महत्व है। पूज्य एवं आदर्श आत्माओं के प्रति सम्मान प्रगट करना भक्ति है। किन्तु जैनधर्म ने परमात्मा की भक्ति को मुक्ति का साधन नहीं माना है। क्योंकि मुक्ति वीतरागभाव से प्राप्त होती है जबकि परमात्मा भक्ति मंदराग रूप शुभ भाव है।

अन्य धर्म परमात्मा को जगत का कर्ता हर्ता मानते हैं अतः उनकी भक्ति का उद्देश्य परमात्मा को प्रसन्न करना है। जबकि जैन धर्म में परमात्मा परम वीतरागी है। वह जगत का कर्ता हर्ता नहीं है और न वह स्तुति निंदा से प्रसन्न या रुष्ट होता है। कहा भी है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्न पुनातु चित्तं दुरितान् जनेभ्यः॥

हे वीतरागी जिनेन्द्र! आपकी पूजा करने से आप न प्रसन्न होते हो और न निंदा करने से रुष्ट होते हो फिर भी आपके पवित्र गुणों का स्मरण करने से हृदय को पापों से छुटकारा मिलकर पवित्रता प्राप्त होती है। इसलिये जैन धर्म में परमात्मा को प्रसन्न करने का प्रश्न ही नहीं उठता। जैन धर्म ने माना है कि प्रत्येक द्रव्य अपना कर्ता हर्ता है। कोई किसी को सुख दुख जीवन मरण आदि नहीं दे सकता है। कहा भी है—

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय
कर्मोदयात् मरण जीवित दुःख सौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य,
कुर्यात् पुमान् मरणजीवित दुःखसौख्यम्

—समयसार कलश

सम्पूर्ण जीव निश्चय से हमेशा अपने किये कर्मों का फल सुख-दुख जीवन-मरण भोगते हैं। कोई किसी को जीवन-मरण या सुख-दुख देता है यह जीवों की मिथ्या मान्यता है।

जीवों को अनुकूलताएं प्रतिकूलताएं या गुणों की हीनाधिकता कर्मों के निमित्त से प्राप्त होती है किन्तु अपने परिणामों की परिणति जीव के अपने आधीन है। जब प्रत्येक पदार्थ स्वाधीन है तो परमात्मा किसी का अच्छा बुरा कर सके, यह असम्भव है। यद्यपि अरिहंत और सिद्ध भगवान अनन्तबल के धनी हैं किन्तु उस बल का उपयोग अपने गुणों के संरक्षण में ही होता है। पर के हानि लाभ में नहीं हो सकता। क्योंकि एक तो वे वीतरागी हैं इसलिये उनको किसी को हानि लाभ पहुंचाने का भाव नहीं उठता है। दूसरे वे किसी का कुछ भी नहीं कर सकते क्योंकि आत्मा में कोई ऐसी शक्ति या गुण नहीं है, जो दूसरे का कुछ कर सके। हां एक अकार्य-कारणत्व शक्ति है, जिसका कार्य है यह आत्मा किसी का कार्य या किसी का कारण नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपना कारण और अपना कार्य है।

यहां यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि परमात्मा की भक्ति करने से जीव को फिर क्या लाभ है? यदि लाभ नहीं होता है तो फिर भक्ति करना व्यर्थ है। इसका उत्तर देते हुए आचार्य कुन्द-कुन्द ने कहा है—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त गुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।।

—प्रवचनसार

जो पुरुष पूज्य वीतराग अरिहंत परमात्मा को द्रव्य गुण पर्याय से जानता है वह अपने स्वरूप को जानता है और निश्चय कर उस जीव का मोह नष्ट हो जाता है।

क्योंकि उनका आत्मा परम पवित्र है, अब उस आत्मा से हम अपनी आत्मा का मिलान करते हैं तो हमें यह पता चल जाता है कि हमसे कहां भूल हो रही है? जिससे हम परमात्मा नहीं बन पा रहे हैं। कहा भी है—

तुम गुण चिंतत निज पर विवेक,
प्रगटै विघटै आपद अनेक।

—पं० दौलतराम जी

जिनेन्द्र परमात्मा की भक्ति भेद विज्ञान प्रगट करने के लिये है किन्तु जो भाई-बहिनें सांसारिक कामना की पूर्ति के लिये जिनेन्द्र भक्ति करते हैं, वह राग की भक्ति है। जिनेन्द्र की भक्ति नहीं हो सकती है। वह तो शुभभाव भी नहीं है। क्योंकि संसार की विभूति की कामना याने परिग्रह की चाह। परिग्रह तो पांचवा पाप है। पाप की कामना से पुण्य बंध कैसे हो सकता है?

जिनेन्द्र भगवान का भक्त आत्मशुद्धि की पवित्र भावना रखकर ही भक्ति करता है। उसका एक मात्र लक्ष्य है—

तुम निरखत मुझको मिली मेरी संपति आज।
कहां चक्रवर्ती संपदा कहां स्वर्ग साम्राज्य?

प्रभु आपकी भक्ति से वह आत्मवैभव प्राप्त हो जाता है जिसके आगे चक्रवर्ती और स्वर्ग का वैभव भी कुछ कीमत नहीं रखता है।

जिनेन्द्र भक्त को सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि यदि वह उनके स्वरूप का विचार करे तो परतन्त्रता से छुटकारा पाने का उसे अमोघ अस्त्र मिल जाता है। जिससे उसे आत्मा से परमात्मा बनने की युक्ति का ज्ञान हो जाता है।

कुछ लोग भगवान को अधम उधारक, तरनतारन करुणा सागर आदि मानकर भक्ति करते हैं, यह भी उनकी महान भूल है। क्योंकि यह पहले ही स्पष्ट किया था कि जिनेन्द्र परमात्मा परम वीतरागी हैं और जो वीतरागी होगा वह दूसरे का अच्छा बुरे करने का राग द्वेष नहीं कर सकता है। श्री पं. टोडरमल जी नें कहा है—

तथा उन अरहंतों को स्वर्गमोक्षदाता, दीनदयाल, अधम उधारक, पतितपावन मानता है। सो जैसे अन्यमती कर्त्तव्य बुद्धि से ईश्वर को मानता है, उसी प्रकार यह अरहंत को मानता है। ऐसा नहीं जानता कि फल तो अपने परिणामों का लगता है, अरहंत – उनको निमित्त मात्र हैं। इसलिये उपचार द्वारा वे विशेषण संभव होते हैं। अपने परिणाम शुद्ध हुए बिना अरहंत ही स्वर्ग मोक्ष के दाता नहीं हैं। तथा अरहंतादिक के नामादि से श्वानादिक ने स्वर्ग प्राप्त किया, वहां नामादिक का ही अतिशय मानता है, परन्तु बिना परिणाम के नाम लेने वाले को भी स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती, तब सुनने वाले को कैसे होगी ? श्वानादिक को नाम सुनने के निमित्त से कोई मंद कषाय रूप भाव हुए हैं, उनका फल स्वर्ग हुआ है, उपचार से नाम ही की मुख्यता की है।'

-मोक्ष मार्ग प्रकाशक पृष्ठ 221

इस कर्त्तव्य बुद्धि के कारण हमने तीर्थंकरों में भी भेद डाल दिया है। शांतिनाथ शांति के प्रदाता हैं, पार्श्वनाथ संकटहर्ता हैं। इसका मतलब है यह भक्ति इन तीर्थंकरों में हैं, अन्य तीर्थंकरों में नहीं है। इससे आगे बढ़कर एक-एक तीर्थंकर में भी हमने भेद डाल दिया है। जैसे मक्सी के पारसनाथ, अन्तरीक्ष के पार्श्वनाथ आदि। यहां के पार्श्वनाथ में यह शक्ति नहीं है, वहां के पार्श्वनाथ में ही संकट दूर करने की शक्ति है। यह सब हमारी अज्ञानता का परिणाम है। तत्वज्ञान होने पर ही यह भ्रम दूर हो सकता है।

जीव करे क्या ? हमारे चारों ओर कर्तावाद का वातावरण है, उसी वातावरण में हम पलते और बढ़ते हैं। अतः वैसे ही संस्कार बन जाते हैं। हम भी देखा देखी भगवान को कर्ता मानने लग जाते हैं। आज अधिकांश भक्ति सांसारिक स्वार्थवश होती है।

विनोबा भावे ने लिखा है कि भक्ति का प्रयोजन भक्त के सामने यह होता है—

भगवान ! आप मेरे भविष्य काल हो, मैं आपका भूतकाल हूं। अब आपका वर्तमान मेरा वर्तमान बन जाये यही मेरी भक्ति का प्रयोजन है।

एक कवि ने इसे स्पष्ट किया है—

दासोहं रटता प्रभु आया तेरे पास,
दरसत ही मिट गया सोहं रहा प्रकाश।

सोहं सोहं ध्यावता नहीं रह सका सकार,
दीप अहं मय रह गया अविनाशी अविकार॥

भाव यह है कि दासोहं (मैं आपका सेवक हूं) से प्रारम्भ करके जिनेन्द्र भक्त अपने ज्ञानानन्द स्वभाव पर आकर परमात्मा बनना चाहता है यही उसका एक मात्र लक्ष्य होता है।

आज के दिन आये थे वीर

□ श्री लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज'
जावरा

आज के दिन आये थे वीर ।
कहते कुशल और हैं धीर ॥

त्रिशला के घर दिनकर ही बन, निशा-तिमिर को तीर ।
सिद्धारथ के लाल लाड़ले, सत्य स्वर्ण जञ्जीर ॥

कुण्डग्राम के कुंवर नेक ही, रूप राशि में भीर ।
खेल खेल में आम्र वृक्ष पर, हुई परीक्षा वीर ॥

जब भागे सब कहा देव ने, सब कायर तुम वीर ।
गलियों में जब मतवाला गज, भागा बनकर तीर ॥

मुक्के मार किया वश में तब, बनकर बल से मीर ।
व्यक्ति दुखी क्यों सोचा करते, बनकर तुम गम्भीर ॥

यौवन में बालक से रहते, सत्य जितेन्द्रिय वीर ।
सत्य एक से दो होने की, बात न मानी वीर ॥

सुलभ राज तज हुये न राजा, बात बड़ी वर वीर ।
ग्राम महल तज दिया एक दिन, समझे सब की पीर ॥

सर्दी गर्मी वर्षा आंधी झेली नग्न शरीर ।
युगल साधु की शंका तुमने, क्षण में कर दी तीर ॥

हुये तुम्हारे सुखद राज में, सभी सुखी अतिवीर ।
उज्ज्वल उपदेशों हित आतुर, सुर नर खग पशु वीर ॥

श्रेणिक इन्द्रभूति भी बदले, धर्म सभा में कीर ।
इनके कारण उपदेशों की, हुई लोक प्रिय खीर ॥

भगवान महावीर और उनकी उपासना

जैनी व्यक्ति की नहीं गुण की पूजा करते हैं। उनके लिए इसमें कोई भेद नहीं पड़ता कि वे चान्दनपुर के महावीर हैं, पावापुर के हैं, जयपुर में गोपालजी के रास्ते के अथवा अन्य किसी प्रसिद्ध मन्दिर के। जैन उपासक के लिए सब स्थानों के महावीर एक हैं। जो जैन उपासना के इस रहस्य को नहीं समझता वह मिथ्यात्वी है, वास्तव में उपासक है ही नहीं। खेद है कि इस प्रकार की मूढ़ता कम होने बजाय जैनों में दिनों दिन बढ़ती जा रही है। डा. भारिल्ल ने जैन उपासना पद्धति के इस रहस्य को अपनी विशिष्ट शैली में प्रतिपादित किया है।

—प्र० सम्पादक

☐ डा० हुकमचन्द 'भारिल्ल'
जयपुर

जो पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ पद को प्राप्त करता है, वह भगवान (परमात्मा) कहलाता है। अरिहंत और सिद्ध ही ऐसे पद हैं, अतः उक्त पदों को प्राप्त पुरुष ही परमात्मा (भगवान) शब्द से अभिहित किया जाता है। अरिहंतों में तीर्थंकर अरिहंत और सामान्य अरिहन्त ऐसे दो प्रकार होते हैं। वर्तमान काल में धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक चौबीस तीर्थंकरों में अंतिम तीर्थंकर अरिहंत भगवान् महावीर थे।

भगवान् महावीर के अनुसार परमात्मा पर का कर्ता-धर्ता न होकर मात्र ज्ञाता-दृष्टा होता है तथा परमात्मा के उपासक (भक्त) की दृष्टि (मान्यता) में पर में कर्तृत्व बुद्धि नहीं होती। जब तक पर में फेरफार करने की बुद्धि (रुचि) रहेगी तब तक उसकी दृष्टि को सम्यक् दृष्टि नहीं कहा जा सकता है। वीतरागी परमात्मा का उपासक (भक्त) भी वीतरागता का उपासक होता है। लौकिक सुख (भोग) की आकांक्षा से परमात्मा की उपासना करने वाला व्यक्ति वीतरागी भगवान महावीर का उपासक नहीं हो सकता। वह तो मात्र पंथ-व्यामोह से ही महावीर की उपासना करता है, वस्तुतः वह भगवान का उपासक न होकर भोगों का उपासक है।

भगवान का सच्चा स्वरूप न समझ पाने के कारण आज की उपासना में अनेक विकृतियां आ गई हैं। अब हम मूर्तियों में वीतरागता न देखकर चमत्कार देखने लगे हैं, और चमत्कार को नमस्कार की लोकोक्ति के अनुसार जिस मूर्ति और जिस मन्दिर के साथ चमत्कारिक कथाएं जुड़ी पाते हैं, उन मूर्तियों के समक्ष और उन मन्दिरों में भक्तों की भीड़ अधिकाधिक दिखाई देती है। जिनके साथ लौकिक समृद्धि, संतानादि की प्राप्ति की कल्पनाएँ प्रचारित हैं वहां तो खड़े होने तक को स्थान नहीं मिलता और बाकी मन्दिर खण्डहर होते रहे। बाकी की मूर्तियों की धूल भी साफ करने वाला दिखाई नहीं देता।

एक भगवान महावीर की हजारों मूर्तियां मिलती है और उन सब (मूर्तियों) के माध्यम से उनकी पूजा की जाती है। पर यह स्मरणीय है कि पृथक-पृथक मन्दिरों में पृथक-पृथक मूर्तियों के माध्यम से पूजे जानेवाले महावीर पृथक-पृथक नहीं हैं वरन् एक हैं। भगवान् महावीर अपनी वीतरागता एवं सर्वज्ञता के कारण पूज्य हैं, कोई लौकिक चमत्कारों और संतान-धनादि देने के कारण नहीं। जो महान् आत्मा स्वयं धनादि और घरबार छोड़ कर आत्मसाधना रत हुई हो, उससे ही धनादिक की चाह करना कितना हास्यास्पद है। उसे भोगादि का देनेवाला कहना, उसकी वीतरागता की मूर्ति को खण्डित करना है।

एक तो महावीर प्रसन्न होकर किसी को कुछ देते नहीं है और न अप्रसन्न होकर किसी का बिगाड़ ही करते हैं, दूसरे यदि भोले जीवों की कल्पनानुसार उन्हें सुख-दु:ख देनेवाला-लेनेवाला मान भी लिया जाय तो भी यह समझ में नहीं आता कि वे अपनी अमुक मूर्ति की पूजा के माध्यम से ही कुछ देते हों अन्य मूर्तियों के माध्यम से नहीं। यदि यह कहा जाये कि वे तो कुछ नहीं देते पर उनके उपासक को सहज ही पुण्यबंध होता है तो क्या अमुक मूर्ति के सामने से पूजा करने से या अमुक मन्दिर में घृतादिक के दीपक रखने से ही पुण्य बंधेगा, अन्य मन्दिरों में या अन्य मूर्तियों के सामने नहीं।

उक्त प्रवृत्ति के कारण हमारी दृष्टि, मूर्ति के माध्यम से जिसकी पूजा की जाती है, उस महावीर से हटकर मूर्तिमात्र पर केन्द्रित हो गई है और हम यह भूलते जा रहे हैं कि वस्तुत: हम मूर्ति के नहीं मूर्ति के माध्यम से मूर्तिमान (वीतरागी सर्वज्ञ भगवान) के पुजारी हैं। यह सब क्यों और कैसे हुआ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। जब ज्ञान की अपेक्षा क्रियाकाण्ड को मुख्यता दी जाने लगती है, तब इस प्रकार की प्रक्रिया उत्पन्न होने लगती है। यही कारण है कि भगवान महावीर ने चारित्र को सम्यक् ज्ञानपूर्वक ही कहा है। अज्ञानपूर्वक की गई कोई भी क्रिया धर्म नहीं कहला सकती है। कहा भी है :-

> बहुविध क्रिया क्लेश सों,
> शिव पद लहैं न कोय।
> ज्ञान कला परकाशतें,
> सहज मोक्ष पद होय।।
> घने सुन्न जो दीजिये,
> एक अंक नहीं होय।
> त्यों किरिया बिन ज्ञान के,
> थोथी जानों सोय।।

भगवान को सही रूप में पहिचाने बिना उनकी उपासना सही अर्थों में नहीं की जा सकती। अत: सबसे पहले उपासक को परमात्मा (भगवान) का स्वरूप अच्छी प्रकार समझना चाहिए। परमात्मा वीतरागी एवं पूर्ण ज्ञानी होता है। अत: उसका उपासक भी पूर्ण ज्ञान एवं वीतरागता का उपासक होना चाहिए। विषय-कषाय का अभिलाषी वीतरागी का उपासक हो ही नहीं सकता। एक ओर तो हम बोलते है:-

> इन्द्रादिक पद नाहिं चाहूं,
> विषयों में नाहिं लुभाऊं।
> रागादिक दोष हरी जै,
> परमातम निज पद दीजै।।

और दूसरी ओर विषयादिक कामना पूर्ति हेतु महावीर की उपासना करें, यह कहां तक तर्कसंगत है? "गुणेषु अनुराग: भक्ति" गुणों में अनुराग को भक्ति कहते हैं। जब तक हम परमात्मा के गुणों को पहिचानेंगे नहीं उनके अभिलाषी कैसे होंगे, उनके प्रति हमारा अनुराग कैसे होगा? परमात्मा का सच्चा भक्त केवल परमात्मा पद चाहता है, अन्यत्र उसकी रुचि नहीं होती अत: हमें भगवान के उपासक कहलाने के पूर्व एक बार अपनी उपा-

सभा प्रवृत्ति की स्थिति पर विचार करना होगा और कारणवश आई हुई इन कुप्रवृत्तियों को अपनी उपासना पद्धति से अलग करना होगा। यदि हम सामाजिक स्तर पर इन वीतरागता विरोधी प्रवृत्तियों को नहीं हटा सकते तो इनसे अपने आपको तो बचा ही सकते हैं। यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि भगवान की भक्ति से क्या लौकिक सुख नहीं मिलता है ? पर बात यह है कि वीतरागता के उपासक ज्ञानी भक्त की लौकिक सुख में रुचि ही नहीं होती, पर शुभभाव होने से पुण्यबन्ध अवश्य होता है और तदनुकूल सुख (भोग) सामग्री की प्राप्ति होती है। पर भगवान महावीर के उपासक की दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं तथा विषयाभिलाषा से की गई भगवान की भक्ति राग की तीव्रता और भोगों की अभिलाषा से युक्त होने से पुण्यबन्ध का कारण भी नहीं होती क्योंकि भोगाभिलाषा एवं राग-भाव तो पाप भाव है।

उक्त सम्पूर्ण बात कहने से मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि आप भगवान महावीर की उपासना करना ही छोड़ दें, बल्कि मैं चाहता हूं कि आप भगवान महावीर के सच्चे अर्थों में उपासक बनें उनके स्वरूप को समझें व उनकी उपासना के हेतु को समझ कर सही रूप दें। वीतरागता और आत्मज्ञान की पूर्णता ही हमारा प्राप्तव्य बने तभी हम वीतरागी, सर्वज्ञ भगवान महावीर के सच्चे उपासक कहलाने के अधिकारी होंगे।

वीर–वचन

परिग्गहनिविट्ठाणं वेरं तेसिं पवड्ढई।

जो परिग्रह में फंसे हुए हैं, वे वैर को ही बढ़ाते हैं।

कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।

कामनाओं को दूर करना ही वास्तव में दुःखों को दूर करना है।

अण्णाणं परम दुक्खं।

अज्ञान परम दुःख है।

तच्चाण परम-तच्चं जीवं जाणेह णिच्छयदो।

सभी तत्वों में परम तत्व 'आत्म तत्व' को 'निश्चय' दृष्टि से जानो।

जो अप्पाणं जाणदि, सो सत्थं जाणदे सव्वं।

जो आत्मा को जानता है, वह सब शास्त्रों का ज्ञाता है।

विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं।

विषयों से विरक्त चित्तवाला योगी आत्मा को जान लेता है।

णाणी णाणुवदेसे अवट्टमाणो उ अण्णाणी।

जो ज्ञान प्राप्त कर तदनुसार आचरण नहीं करता, वह ज्ञानी भी वास्तव में अज्ञानी है।

।। कीर्तन-भगवान महावीर ।।

❑ डॉ० बड़कुल, डी. एल. जैन, 'धवल'
बरेली (भोपाल) म.प्र.

आयो थारे चरणन आज, वीरे कर सबका कल्याण ।। टेक ।।

कुण्डलपुर है जन्म तिहारा ।
जननी नाम है त्रिसला प्यारा ।।

हृदय दया की खान वीरे कर सबका कल्याण । आयो० ।।

जनियाता सिद्धार्थ नृपति-वर ।
सरल स्वभावी थे क्षत्रिय-वर ।।

करे आत्म कल्याण, वीरे कर सबका कल्याण । आयो० ।।

गृह छोड़ा पितु-मात भी छोड़े ।
संसारी सब बन्धन – तोड़े ।।

पाया मोक्ष महान, वीरे कर सबका कल्याण । आयो० ।।

अधमाधम तुमने बहु तारे ।
बाला-चन्दन तस्कर – तारे ।।

आया हूँ प्रभु तेरे द्वारे, वीरे कर सबका कल्याण । आयो० ।।

जो कोई शरण तिहारी आया ।
आशा पूर्ण भई हरषाया ।।

आया 'धवल' तुम्हारे द्वारे, वीरे कर सबका कल्याण । आयो० ।।

जैन मंत्र आराधना का भी अपना एक विशिष्ट ही ढंग है। एक ओर तो वह अपने उत्थान पतन का कारण स्वयं को ही मानता है तो दूसरी ओर णमोकार मन्त्र जैसे मन्त्रों की आराधना का उपदेश इसलिए देता है कि वह सर्वप्रकारेण मंगलमय है। इसका एक रहस्य है जिसे प्रत्येक आराधक को हृदयगम कर लेना चाहिये। नमस्कार मन्त्र अथवा अन्य कोई भी मन्त्र स्तोत्र, स्तुति, जप आदि हमें केवल हमारे उपास्य के गुणों की याद दिला उनके समान बनने के लिए उनके बताए मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं। इससे अधिक और कोई महत्व उनका नहीं है। लोहे और पारस जैसे उदाहरणों में भी हमें यह बात समझनी चाहिये कि पारस उसही लोहे को सोना बना सकता है जिसमें सोना बनने का उपादान हो।

प्र० सम्पादक

णमोकार मन्त्र की महिमा

□ श्री एस० एम० जैन
बी० ए० प्रभाकर

महापुरुषों ने विषय कषाय जन्य अशान्ति व बेचैनी को दूर करने के लिए अनेक प्रकार के विधानों का, मंगलमय वाक्यों का शांतिदायक मन्त्र और श्लोकों का प्रतिपादन किया है जो विकारों पर विजय प्राप्त करने में मानव के दृढ़ अवलम्बन बन जाते हैं। विश्व के सभी धर्मावलम्बी विकारों को जीतने के लिए अपनी अपनी मान्यतानुसार कुछ मंगलमय वाक्य, अथवा मन्त्र प्रणयन करते हैं, जिनके प्रतिपादन करने से जीवन में प्रकाश व आनन्द की लहरें उत्पन्न हो जाती हैं। आत्म-कल्याण का मूल साधन मुख्यतः इन्हीं सूत्रों तथा मन्त्रों पर आधारित रहता है। कोई भी विकार ग्रस्त प्राणी विकार रहित आदर्श को सामने पाकर अपने हृदय में उत्साह दृढ़ संकल्प तथा स्फूर्ति उत्पन्न कर सकता है। चिदानन्द, शान्तमुद्रा का चित्र अपने हृदय में स्थापित करने से विकारों का शमन होता है और मिथ्याबुद्धि दूर हो जाती है। रागद्वेष की भावनाएं निकल जाती हैं और आध्यात्मिक विकास होने लगता है। साधारण व्यक्ति का इधर-उधर वासनाओं में भटकने वाला मन इन मन्त्रों के द्वारा स्थिर एवं शान्त हो जाता है। जैन धर्म में णमोकार मन्त्र ऐसा ही मंगलमय है, जिसका नित्य प्रति शुद्ध भावना व विश्वास के साथ मनन, स्तवन, व चिन्तवन करने से साधक को पञ्चपरमेष्ठी के आदर्श, चित्त की स्थिरता तथा मन को अपूर्व शान्ति की उपलब्धियां प्राप्त हो जाती हैं। णमोकार मन्त्र में प्रतिपादित आत्माओं की शरण में आने से उन्हीं के समान शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। इसका ध्यान व चिन्तवन करने से मानव का विकारी हृदय उसी प्रकार स्वच्छ व निर्मल हो जाता है, जिस प्रकार पारसमणि का संयोग पाकर लोहा स्वर्ण बन जाता है। लोहे को स्वर्ण बनाने के लिए कुछ विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता, किन्तु

पारसमणि के सान्निध्य प्राप्त कर लेने मात्र से ही उसके लोह परमाणु स्वर्ण परमाणुओं में परिवर्तित हो जाते हैं अथवा जिस प्रकार जलते हुए दीपक की लौ लगाने मात्र से नहीं जलने वाला दीपक स्वयम् प्रज्वलित हो उठता है।

मानव की अन्तर आत्मा णमोकार मन्त्र जैसे मंगलवाक्यों की आराधना करने से उसकी दूषित व कलुषित प्रवृत्तियां शुद्ध होती हैं। इसके द्वारा जब अन्तरंग में आत्म गुणों का प्रादुर्भाव होता है तब उसका चित्त शुद्धोपयोग की ओर अग्रसर होता है। यद्यपि कर्मों के उदय के कारण विकार उत्पन्न होते हैं, किन्तु उसका प्रभाव अन्तरात्मा पर नहीं पड़ता। जिस प्रकार सड़क पर लगे हुए मीलों के पत्थर एक पथिक को मार्ग का परिज्ञान कराते हैं और उसे मार्ग तय करने का विश्वास दिलाते हैं, उसी प्रकार यह मन्त्र अन्तरात्मा को साधु, उपाध्याय, आचार्य, अरिहन्त और सिद्ध स्थान पर पहुंचाने के लिए मार्ग-परिज्ञान का कार्य करता है, अर्थात् इस मन्त्र के द्वारा पञ्च परमेष्ठी पद को प्राप्त कर लेता है।

घातिया कर्मों के नाश करने वाले, सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञाता, दृष्टा, अरिहन्त सकल परमात्मा हैं और समस्त प्रकार के कर्मों से रहित अशरीरी सिद्ध निकल परमात्मा हैं, वे भी इसी णमोकार मन्त्र के भाव स्मरण से परमात्मा बने, अथवा यों कहिए कि निर्वाण प्राप्त करने से पहिले तक णमोकार मन्त्र का स्मरण, मनन, चिन्तन तथा उच्चारण सभी को आवश्यक होता है। मोक्ष महल पर चढ़ने के लिए यह प्रथम सीढ़ी है और इसी के मनन से आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न होती है, जिसके द्वारा आत्मा में निरन्तर विशुद्धि की प्राप्ति होती रहती है। विकार जन्य अशान्ति को दूर करने का एक मात्र साधन यह णमोकार मन्त्र है। आत्मा में राग, द्वेष, मोह आदि की प्रवृति तभी तक जीव में विद्यमान रहती है, जब तक यह जीव आत्मा के वास्तविक स्वरूप की उपलब्धियों से वंचित रहता है। आत्म बल, तथा आत्मविश्वास के सुन्दर व मधुर पुष्प इस जीव के लगते रहते हैं और ये दोनों गुण उस आत्मा में प्रवेश करते रहते हैं। जिस प्राणी में ये दोनों गुण विद्यमान नहीं होते वह मनुष्य धर्म के उच्चतम शिखर पर चढने का अधिकारी नहीं है। जिस प्रकार प्रचण्ड सूर्य के समक्ष घटाटोप मेघ देखते देखते विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार पञ्च परमेष्ठी की शरण में जाने से, उनके गुणों का स्मरण करने से, उनकी प्रार्थना से आत्मा का स्वकीय विज्ञान घन एवं निराकुलता रूप सुख अनुभव में आने लगता है और उसकी आत्मशक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि अन्तर्मुहूर्त में कोटानिकोट युगों के कर्मबन्ध नष्ट हो जाते हैं और इस आत्मा में अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्तवीर्य और अनन्त सुख की प्राप्ति सहज ही में हो जाती है।

अनेकान्त : एक दृष्टि

मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए दो बातों की आवश्यकता है। एक दृष्टि की और दूसरे पैरों की। न तो अन्धा अपने गन्तव्य की ओर बढ़ सकता है और न पैर हीन ही। किन्तु यदि पैर और अन्धा दोनों मिल जावें तो सुगमता से गन्तव्य पथ की ओर बढ़ सकते हैं। अनेकान्त ही वह आंख और अहिंसा ही वे पैर हैं जिनकी सहायता से हम अपने लक्ष्य मुक्ति की ओर बढ़ने में समर्थ हो सकते हैं। अनेकान्त और अहिंसा दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। एक दूसरे के बिना कार्यकारी नहीं हैं।

—प्र० सम्पादक

☐ ले० सुधा जैन एम० ए०, बी० एड०
वाराणसी

अहिंसा का व्यापक रूप ही अनेकान्त है। अनेकांत दृष्टि स्व एवं पर दोनों को रूप, क्षेत्र, काल, भाव से देखती है। अतः अनेक दृष्टियों से देखना ही अनेकांत है। इसी अनेकांत दृष्टि को जब हम शब्दों द्वारा समझाते हैं तो वहां वाद आता है और वह होता है स्याद्वाद। स्याद्वाद वह शैली है जिसके माध्यम से हम अनेकांत दृष्टि को व्यक्त करते हैं।

अनेकांत दो शब्दों का योग है। अनेक और अन्त। अनेक का अर्थ है जो एक नहीं बल्कि ढेर है और अन्त का अर्थ है समाप्त होना। अर्थात् जो एक में समाप्त न होकर बहुत में समाप्त हो, वह अनेकांत है। दृष्टि का अर्थ है देखना। अतः बहुतों में समापन देखने का नाम ही अनेकांत दृष्टि है। भगवान महावीर ने शिष्यों के उलझे मानस को समता की भूमि पर लाते हुए उन्हें समझाया कि वस्तु को तुम जिस दृष्टि-कोण से देख रहे हो, वस्तु उतनी ही नहीं है। वस्तु में अनेक गुण होते हैं। व्यापक दृष्टिकोण से देखने पर वस्तु का अनन्त धर्मात्मक रूप दिखेगा। संकीर्ण दृष्टिकोण से देखने पर जो धर्म विरोधी मालूम पड़ रहे हैं, पक्षपात रहित होकर सहज रूप से विचारने पर तुम लोग अनुभव करोगे कि उसका विषयभूत धर्म भी उसमें विद्यमान है किन्तु सोचते समय यह ध्यान में रखना चाहिये कि वस्तु की सीमा और मर्यादा का उल्लंघन न हो। महावीर ने आगे बतलाया कि भावनाओं में इतना अधिक नहीं बहना चाहिये कि जड़ और चेतन के अन्तर का भान ही न हो। जड़ और चेतन अलग अलग हैं और उनके अलग गुण हैं। अब यदि चेतन के गुण हम अचेतन अथवा जड़ में खोजना चाहें अथवा अचेतन के गुण चेतन में तो वह कैसे प्राप्त होगा या कैसे दिखेगा। इसी प्रकार एक स्त्री जाति के गुण हमको स्त्री जाति में ही प्राप्त होंगे और पुरुष जाति के धर्म व गुण पुरुष जाति में ही। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ व प्राणी

के अपने-अपने निजी धर्म सुनिश्चित हैं। अनेकांत कहता है कि वस्तु अनन्त धर्मात्मक हो सकती है, किन्तु सर्वधर्मात्मक नहीं। किसी भी वस्तु के अनन्त गुण हो सकते हैं किन्तु वस्तु सर्वगुण सम्पन्न नहीं हो सकती। चेतन वस्तु के अनन्त धर्म, चेतन वस्तु में प्राप्त होंगे और अचेतन वस्तु के अनन्त धर्म अचेतन वस्तु में। अचेतन वस्तु के अनन्त धर्म न चेतन में आ सकते हैं और न चेतन के अनन्त धर्म अचेतन में क्योंकि जैसाकि महावीर ने कहा है कि प्रत्येक वस्तु का धर्म सुनिश्चित है।

किन्तु उपरोक्त तर्क के अपवाद में भी कुछ प्रकार के सादृश्यमूलक सामान्य धर्म भी हैं जो चेतन और अचेतन सभी द्रव्यों में पाये जा सकते हैं किन्तु सबकी सत्ता पृथक्-पृथक् है।

अनेकान्त दृष्टि कभी भी वस्तु की सीमा नहीं लांघना चाहती। वस्तु अपने स्थान पर विराट रूप में स्थित है। हमें परस्पर विरोधी दिखनेवाले अनन्त धर्म भी अविरुद्ध गति से उसमें विद्यमान रहते हैं। भले ही अपनी संकुचित तथा विरोधयुक्त दृष्टि के कारण हम उसकी वास्तविक स्थिति से भिन्न होने में असमर्थ हों।

जैन-दर्शन बहुतत्ववादी है। वह पृथक सत्ता वाली वस्तुओं को व्यवहार के लिये कल्पना से एक कह भी दे, किन्तु वस्तु की निजी मर्यादा को लांघना नहीं चाहता। एक वस्तु का अपने गुण पर्यायों से वास्तविक अभेद तो हो सकता है पर दो व्यक्तियों में वास्तविक अभेद संभव नहीं है।

अहिंसा की संजीवनी बेल अनेकान्त दृष्टि को पनपाने के लिये मानस में समता लाना परम आवश्यक है जो कि अनेकान्त दर्शन द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। 'अनेकान्त–दृष्टि' से विचार शुद्धि हो जाने पर वाणी में नम्रता और पर समन्वय वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। अतः जैनाचार्यों ने वस्तु की अनेक धर्मात्मकता का द्योतन करने के लिये 'स्यात्' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता अनुभव की तथा व्यक्तियों के सामने व्यक्त किया। शब्दों में वह शक्ति नहीं जो एकबार में ही वस्तु के पूर्ण रूप को युगपत् कह सके। शब्द एक समय में वस्तु के एक ही धर्म का वर्णन करता है जो व्यक्ति के एक ही सम्बन्ध को प्रकट करता है। अतः उसी समय वस्तु में विद्यमान शेष धर्मों को प्रकट करने के लिये 'स्यात्' का अर्थ सुनिश्चित दृष्टिकोण या निर्णीत अपेक्षा है, न कि शायद, सम्भव आदि।

अनेकान्त दृष्टि वस्तु के उस स्वरूप का वर्णन कराती है, जहां पर विचार समाप्त हो जाते हैं। जब तक वस्तुस्थिति स्पष्ट नहीं होती, तभी तक विवाद चलते हैं।

मानस में अनेकान्त दृष्टि का आ जाना ही अहिंसा के मार्ग को अपना लेना है। अहिंसा और अनेकान्त दोनों एक हैं। अहिंसा का व्यापक रूप ही अनेकान्त है।

विणओ मोक्खद्दारं, विणयादो संजमो तवो णाणं।

विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से संयम, तप और ज्ञान प्राप्त होता है।

अहिंसा का विश्वरूप

शास्त्रकारों ने अहिंसा को परम धर्म बतलाया है। धर्म के शेष प्रकार इसीमें अन्तर्गर्भित हैं। उसी प्रकार पाप भी केवल एक 'हिंसा' है। शेष झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह तो हिंसा के ही पर्यायान्तर हैं। झूठ पाप तब है जब उसमें हिंसा सम्मिलित हो। उसी प्रकार शेष सब ही पाप तब ही पाप होंगे जब कि उनमें हिंसा का सम्मिश्रण होगा। बिना हिंसा के कोई भी क्रिया पाप कहला ही नहीं सकती। अतः न केवल व्यक्तिगत आचरण में अपितु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चाहे वह राजनैतिक हो अथवा आर्थिक, सामाजिक हो अथवा कोई अन्य अहिंसामूलक आचार एक आवश्यकता है। जैसे ही इस मार्ग का त्याग किया संघर्ष अवश्यंभावी है फिर वह चाहे भारत हो अथवा अन्य कोई देश। इसी सार्व सत्य का प्रतिपादन विद्वान लेखक ने अपनी इस रचना में किया है।

—प्र० सम्पादक

☐ डा० रामजीसिंह
भागलपुर

श्रीमद्भगवद्गीता के एकादश अध्याय में श्री कृष्ण भगवान ने अर्जुन को विश्व रूप दिखाया......"अनेक बाहूदरवक्त्रनेत्रं" आदि-आदि। तब अर्जुन ने भयभीत होकर भगवान से अपना वह रूप समेटने की प्रार्थना की। ठीक उसी प्रकार मानव ने हिंसा की पूजा की किन्तु आज जब "परम-परमाणु-युग" में हिंसा ने अपना विकराल रूप दिखाया तो हमें महावीर और बुद्ध, ईसा और गांधी अत्यन्त सार्थक दीखने लगे हैं। शायद हिंसा का गतितत्व ही समाप्त हो गया है। समाज में कोई सिद्धान्त, तभी तक चलता है, जब उसमें गतितत्व रहता है। हिंसा मानव-स्वभाव में छिपा है, जैसे अहिंसा। हिंसा का बीज हमारे मन में मौजूद है। यही कारण है कि विभिन्न रूपों में उसकी अभिव्यक्तियां होती रहती हैं। जब तक मानव ने शस्त्रों का आविष्कार नहीं किया तो शायद वे "मल्ल युद्ध" से ही संतोष कर लेते या अधिक से अधिक अपने 'नाखून" या "दांतों" को ही अस्त्र-शस्त्र समझ लेते थे। युग बदलता गया एवं प्रहार के उपकरण भी बदलते गये। पाषाण-युग में पाषाण एवं लौह-ताम्र-धातु युग मे उन्हीं धातुओं के हथियार बनते गये। इसीलिये हमारे हाथ में पहले वृक्षों से लाठियां आयीं फिर उसी में बर्छे, भाले, फरसे आदि लगने लगे। फिर तो बारूद युग आने पर बन्दूकें, तोप और तरह-तरह के बमों का आविष्कार हुआ। आज तो अणु-युग है इसलिये विभिन्न आकार-प्रकार के 'परमाणु बम' बन रहे हैं। नागाशाकी और हिरोशिमा में जिन शक्तियों के बम का विस्फोट हुआ था, वे तो महाकाय अत्याधुनिक हाइड्रोजन बमों की संहार-शक्ति के समक्ष सचमुच बौने-ठिगने दीखते हैं। इनके अतिरिक्त आज अन्तर्महाद्वेशीय प्रक्षेपणास्त्रों की संहार-शक्ति अनन्त है। अभी तक ही जितने अणु आयुधों का निर्माण हो चुका

है, केवल वही पृथ्वी की समस्त जनसंख्या को तीन बार सम्पूर्ण रूप से स्वाहा कर देने के लिये पर्याप्त है। मानव के साथ पशु-पक्षी, जलचर आदि सब जीव का उन्मूलन तो हो ही जायगा, वनस्पति भी उन स्थानों में वर्षों तक उग नहीं पायेगा, जहाँ वे बम गिरेंगे। वायुमंडल भी रेडियो एक्टिव किरणों से दूषित हो जायगा जिसमें कोई भी प्राणवान का अस्तित्व असंभव होगा। यही कारण है कि अणु का विकल्प ही है अहिंसा। चूंकि अणु पर किसी एक देश का एकाधिकार नहीं है, इसलिये अणु आक्रमण का अर्थ ही होगा परमाणविक-प्रत्याक्रमण जिसका अर्थ होगा—सर्वनाश, सत्यानाश। इसलिये, आज निःशस्त्रीकरण युग की अनिवार्यता बन चुकी है क्योंकि हिंसा का गतितत्व समाप्त हो चुका है। जो साम्यवादी देश भी साम्यवाद के प्रचार एवं प्रसार के लिये "युद्ध की अनिवार्यता" का सिद्धान्त प्रतिपादित करते थे, आज युग की परिवर्तित परिस्थिति के कारण "राजनैतिक सहअस्तित्व" को स्वीकार कर चुके हैं। यह कहना व्यर्थ होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक क्षेत्र में "सह अस्तित्व" ही "अहिंसा" की दूसरी संज्ञा है। जिस प्रकार विज्ञान ने हिंसा को अस्वीकार कर दिया, उसी प्रकार राजनीति ने भी उसे अनुपयोगी बताया है। आन्तरिक क्षेत्र में भी आज हिंसा क्रमशः निषिद्ध समझा जाने लगा है। आज राज्य-शक्ति के हाथों में इतनी प्रचंड हिंसा-शक्ति रहती है कि उसके समक्ष आन्तरिक हिंसक विद्रोह अक्सर तब तक विफल होते हैं जब तक कोई मजबूत पड़ोसी विदेशी ताकत खुलकर उसका साथ न दे। जैसे बंगला देश की सशस्त्र क्रांति भारत के सक्रिय सैनिक सहयोग के बल पर ही सफल हुई। वियतनाम की सफलता रूस एवं चीन की सहायता पर ही बहुत कुछ निर्भर थी। ठीक है, गुरिल्ला-युद्ध एक अत्याधुनिक पद्धति है और भारतवर्ष में नक्सलवाद एवं वामपंथ, मार्क्सवाद ने इस रास्ते की भी आजमाईश करली है। हिंसक क्रांति के समर्थक अक्सर माओत्सेतुंग की उस उक्ति को दुहराते हैं कि "क्रांति बन्दूक की नली से निकलती है।" यदि यह कथन सिद्धान्त रूप से सोलहों आने सही भी मान लिया जाय तो व्यवहार में यह मानना पड़ेगा कि आज बन्दूक एवं बारूद तो सत्ता के हाथों में रहती है, जनता तो निहत्थी होती है, अत. यदि बन्दूक से क्रांति होगी बन्दूक धारी सत्ता वाले ही जीतेंगे। फिर हिंसक क्रांति में यदि राजसत्ता किसी प्रकार पराजित भी हो जाय तो भी अक्सर राजसत्ता प्रजा के हाथों में न आकर किसी दंडधारी के हाथों की दासी बनती है। इतिहास साक्षी है कि फ्रांस में जब क्रांति हिंसा के रथ पर सवार होकर आयी तो लुई 14वें का कत्ल तो हुआ किन्तु उससे अधिक बड़े राक्षस नेपोलियन के हाथों में सत्ता आयी। इंगलैंड में चार्ल्स प्रथम की जगह दैत्यराज क्रामवेल, एवं रूस में जार की जगह स्टालिन आया। यानी हिंसक क्रांति में प्रजा के हाथों में सत्ता नहीं आती है और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण एक स्वाभाविक परिणाम होता है। हिंसक क्रांति में जनता भयभीत, एवं आतंकित रहती है। उसमें बहुत ही कम लोग सक्रिय हो सकते हैं किन्तु अहिंसक एवं शांतिमय क्रांति में बूढ़े-बच्चे एवं महिलायें भी साथ दे सकती हैं।

हिंसक क्रांति के समय समाज का वातावरण संशय, अविश्वास एवं घृणा से परिपूर्ण रहता है जो सामाजिक स्वास्थ्य को बिगाड़ता है। सबसे बड़ा खतरा तो प्रतिक्रांति का होता है जिसका कहीं अंत नहीं। यह तो भस्मासुर जैसा है। जिस प्रक्रिया से राज सत्ता का परिवर्तन होता है उसी प्रक्रिया से पुनः उस सत्ता को भी पलटने का प्रयास होता है। इसीलिये कहा जाता है कि हिंसक क्रांति प्रतिक्रांति को जन्म देती है, जिसका चक्र चलता ही रहता है। सबसे बड़ी बात तो यह कि क्रांति का अर्थ ही हिंसा से झुठला जाता है क्योंकि क्रांति

का अर्थ यदि मूल्य परिवर्तन है तो वह किसी जोर जबर्दस्ती से असंभव है। हम हिंसा या जोर-जबर्दस्ती से किसी का सिर तोड़ सकते हैं, लेकिन उसका सिर फेर नहीं सकते। विचार-परिवर्तन तो विचार और तर्क से ही होगा। हृदय-परिवर्तन तो त्याग द्वारा उसके हृदय को संस्पर्श करने से ही होगा जैसा भगवान महावीर ने पंच महाव्रतों के आचरण के द्वारा किया था। जोर-जबर्दस्ती से तो उलटी प्रतिक्रिया होती है। अत: सूत्र रूप में हम कह सकते हैं कि हिंसा द्वारा क्रांति एक अमनोवैज्ञानिक धारणा है। जितनी ही ज्यादा हिंसा होगी, उतनी ही कम क्रांति होगी। हम यह देखते ही हैं कि जोर-जबर्दस्ती से जो भी काम होता है, उसका प्रभाव भी उतने ही समय तक रहता है जब तक हमारे सिर पर तलवार टंगी रहती है, उसके बाद तो फिर हम वही करने लग जाते हैं जो करते थे। इसके विपरीत, प्रेम-सहानुभूति, समझावन बुझावन के माध्यम से जो कुछ परिवर्तन होता है, वह अधिक स्थायी और असरदार होता है। यही कारण है कि भगवान बुद्ध के चरणों में चंडाशोक के खंग जब गिरे तो वह प्रियदर्शी बन गया। बाल्मीकि, अंगुलिमाल आदि के अनेकों उदाहरण हैं आज भी अहिंसा के चरणों में ही बागी सरदार मोहरसिंह, माधोसिंह आदि ने समर्पण कर अपना जीवन-परिवर्तन कर लिया। कभी के खौफनाक तहसीलदारसिंह एवं लुक्का (लोकमान्य दीक्षित) आज दण्ड का रास्ता छोड़कर करुणा (सर्वोदय) का रास्ता अपनाते चल रहे हैं। जोर-जबर्दस्ती का असर ज्यादा से ज्यादा हमारे शरीर पर होता है, विचार और तर्क हमारी बुद्धि को प्रभावित करती है तथा त्याग-तपस्या हमारे हृदय को संस्पर्श करता है। जब मां बच्चे को चांटा लगा देती है तो बच्चा या तो क्रोधित हो जाता है या असहाय होकर रोने लगता है लेकिन जब मां बोलना बंद कर देती है या एकाध शाम के लिये भोजन त्याग देती है तो फिर बच्चे पर क्या बीतती है, हम अंदाज कर सकते हैं। अत: यह कहना कि हिंसा का ज्यादा प्रभाव पड़ता है, एक भ्रांत धारणा है। आज मार्क्सवादी हों या नक्सलवादी, इस तर्क युग में वे जिस प्रकार का संगठित विचार-प्रचार करते हैं, वह इस बात को पुष्ट करता है कि क्रांति विचार-परिवर्तन से ही संभव है। यही कारण है कि आज नागरिक स्वतंत्रता के लिये अमरीका, इंगलैंड, फ्रांस, इटली जैसे प्रजातांत्रिक देशों में भी मार्टिन लूथर किंग, नोएल ब्रेकर, आवेपियरे, एवं डोलची जैसे शांतिवादी अहिंसक प्रतिकार कर रहे हैं भारतवर्ष में भी आज जयप्रकाश नारायण वर्तमान सत्ता की गलत नीतियों के कारण सत्याग्रह एवं असहयोग आन्दोलन चला रहे हैं। प्रजातांत्रिक देशों में यदि सत्ता अहिंसात्मक आन्दोलन को दबाती है तो जनता की सहानुभूति आन्दोलन के प्रति बढ़ती है और यदि इसे नहीं दबाती है तो भी आन्दोलन धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। निरंकुश राज सत्ता के समक्ष भी अहिंसात्मक आन्दोलन किये गये हैं जिसमें अपना भारत ही एक प्रमाण है। हाल में चेकोस्लोवाकिया में रूस के नेतृत्व में पंचदेशीय महाआक्रमण के विरोध में जिस प्रकार अहिंसात्मक प्रतिकार उपस्थित किया गया उसने साम्यवाद का सांस्कृतिक अवमूल्यन कर दिया है। साथ-साथ विश्व की अन्तरात्मा में रूसी साम्राज्यवाद के प्रति अनादर का भाव समुत्पन्न कर दिया है। फिर भी आज एक प्रश्न रह ही जाता है कि जब राष्ट्र पर कोई वैदेशिक आक्रमण हो तो उसका अहिंसक विकल्प क्या होगा? अभी हाल में इस प्रश्न पर गंभीर चर्चायें हुई। यूरोप के कुछ छोटे-छोटे देशों की पार्लियामेन्टों ने इस प्रकार की समितियां बनायी हैं जो यह सोचे कि इस स्थिति में नागरिक, अहिंसात्मक ढंग से अपनी स्वतंत्रता की किस प्रकार रक्षा कर सकता है? गांधी जी

ने गत विश्वयुद्ध के समय चेकोस्लोवाकिया को जर्मन आक्रमण के संदर्भ में कुछ ऐसे सुझाव दिये थे कि उस बढ़ते हुए सैन्यशक्ति के समक्ष सारी निहत्थी जनता आत्मबलिदान के लिये प्रस्तुत हो जाय। लाखों निहत्थे लोगों की आहुति के बाद सेना का धैर्य भी टूटेगा और उस राष्ट्र के साथ विश्व की अन्तरात्मा इस नरसंहार से कांप उठेगी। कोई विदेशी सत्ता भी तो वहां की प्रजा के सहयोग से ही शासन चला सकती है। लेकिन यदि सम्पूर्ण राष्ट्र अखण्ड असहयोग एवं आत्मबलिदान का कठोर संकल्प ले ले तो फिर उस राष्ट्र के सिर पर कोई भी शक्ति कायम नहीं रह सकती। आज पश्चिम में बड़े-बड़े कुशल सेनापतियों, युद्ध विशारदों एवं राजनयिकों ने मिलकर यह सोचना शुरू कर दिया है कि विदेशी आक्रमण का नागरिक विकल्प क्या होगा ? जिस प्रकार चेकोस्लाविकया, हंगरी, चिली, आदि अनेकानेक राज्यों की स्वतंत्रता बड़ी शक्तियों के द्वारा अपहरण की जा रही है और अब विश्वयुद्ध और वह भी आणविक-विश्वयुद्ध कालवाह्य हो चुका है। बड़ी शक्तियों के समक्ष जब सशस्त्र मुकाबला असंभव है तो फिर इसका अहिंसात्मक विकल्प तो ढूंढना ही होगा।

आर्थिक क्षेत्र में भी अब शोषण के युग बीत चले। भगवान महावीर ने 'अस्तेय' एवं 'अपरिग्रह' के द्वारा पहले ही अहिंसात्मक समाजवाद की नींव मानव-मन में डाली थी। लेकिन उस समय हमने उसकी सार्थकता नहीं समझी। हम परिग्रह करते-करते पूंजीवाद तक पहुंच चुके। वह समय था जब पूंजीवाद मानव-सभ्यता का मानदंड था। साहित्य, सभ्यता–संस्कृति, अर्थशास्त्र, धर्म सब पूंजीवादी मूल्यों से प्रभावित थे। संग्रह एवं परिग्रह, शोषण एवं विषमता आदि को सामाजिक प्रतिष्ठा थी। लेकिन विज्ञान एवं शिक्षा के विस्तार तथा राजनैतिक जागरण के कारण पूंजीवाद का सांस्कृतिक मूल्य समाप्त हो गया। पूंजीवाद मानव की पाशविक भावना एवं कुत्सित कामना का पर्यायवाची बन गया। समाज शास्त्र ने इसका समर्थन तो छीना ही, धर्म एवं नीति ने भी पूंजीवाद एवं परिग्रह वृत्ति पर प्रहार किया। गीता में स्पष्ट कहा गया– 'त्यक्त सर्वपरिग्रहः।'' हिन्दू, बौद्ध, जैन सभी धर्मों में ''अपरिग्रह'' एवं 'अस्तेय'' को स्थान मिला। इसीलिये तो गांधी एवं विनोबा ने ''सम्पत्ति सब रघुपति के आही'' या ''सबै भूमि गोपाल की'' बातें याद दिलायी। यूरोप के कुछ धार्मिक सुधारकों ने भी ''सम्पत्ति को चोरी'' बताया। बीसवीं शताब्दी में तो गांधी ने परिग्रह को भी हिंसा बताया। यदि हत्या हिंसा है तो आवश्यकता से अधिक वस्तु का संग्रह भी हिंसा है। यह सूक्ष्म हिंसा, प्रकट–हिंसा से अधिक खतरनाक है। इस अर्थ में मुनाफाखोरी, जमाखोरी, मिलावट आदि सभी आर्थिक कदाचार हिंसा के ही विविधरूप हैं। जहां परिग्रह है, वहां शोषण है, वहां विषमता है और वहीं हिंसा है। इस तरह महावीर का अपरिग्रहवाद एक सामाजिक अनिवार्यता है। चाहे हम सादा एवं सरल जीवन बितावें, अपनी सम्पत्ति का उपयोग दूसरे के साथ करें या भामाशाह तथा सेठ जमनालाल की तरह अपनी सम्पत्ति का उपयोग समाज के लिये करें (ट्रस्टीशिप), या फिर सब सम्पत्ति का समाजीकरण हो जाय, ये सब मूलतः अपरिग्रहवाद के ही विभिन्न रूप हैं। आज विकसित देशों को भी विकासशील देशों की चिंता है, चाहे उसमें कितना ही अधिक राजनैतिक मिश्रण क्यों न हो। पिछले दशक में दुनिया के विकसित देशों ने अविकसित राष्ट्रों को जो आर्थिक सहायता दी है, उसका आंकड़ा काफी प्रभावकारी है। अतः चाहे स्थानीय, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हो, पूंजीवाद या परिग्रहवाद का सांस्कृतिक मूल्य समाप्त होता जा रहा है एवं आर्थिक क्षेत्र में अहिंसा का व्यापक अनुप्रवेश हो चुका है।

आर्थिक क्षेत्र के साथ धर्म एवं राजनीति के क्षेत्र में भी राजतंत्र से प्रजातंत्र एवं व्यक्तिगत धर्म से विश्व धर्म की ओर अभियान में अहिंसा का दर्शन होता है। बहुमत पर अल्पमत या किसी व्यक्ति विशेष का अभिमत लादना भी बौद्धिक हिंसा है। ऐसा मानना कि दुनिया की सच्चाई का ठेका मेरे ही पास है, गलत है। इस प्रकार के आग्रहवाद से भयानक हिंसा फूटती है। चाहे राजनीति हो या धर्म, यदि हम केवल अपने को सही एवं प्रतिपक्षी को निश्चित रूप से भ्रमित मान लें तो फिर संघर्ष अनिवार्य है. यह एक बौद्धिक साम्राज्यवाद की दिशा में ही एक कदम होगा। यहां पर भगवान महावीर का "अनेकांत-वाद" सचमुच अमृत-सिद्धान्त है। वस्तु के अनन्त रूप एवं पक्ष होते हैं। मनुष्य का ज्ञान सीमित होता है। सर्वज्ञ तो हम हैं नहीं। इस कारण, यदि हम किसी एक पक्ष या बिन्दु पर ही आग्रह-पूर्वक आरूढ़ रहेंगे तो हमें सत्य के दूसरे पक्षों का दर्शन नहीं होगा और अंश को पूर्ण मान लेने की गलती करेंगे। इसलिये राजनीति के क्षेत्र में आज राजतंत्र और धर्म के क्षेत्र में व्यक्तिगत धर्म (Personal religion) का सांस्कृतिक मूल्य घट रहा है। आज एकोदय से सर्वोदय की ओर हमारी धारा है तथा संकीर्ण, संकुचित एवं साम्प्रदायिक धर्म के दिन लद गये हैं। मेरा यह मानना है कि यहीं पर अहिंसा की जड़ है। जब तक विचार में अनाग्रह नहीं होगा, वचन में एवं कर्म में हिंसा फूटेगी ही। इसीलिये भगवान महावीर ने वैचारिक अहिंसा के लिये "अनेकांत" एवं वाणी की अहिंसा के लिये 'स्याद्वाद' का सिद्धान्त रक्खा। जो दूसरों के विचारों का आदर नहीं कर सकता, वह चाहे कितना ही बुद्धिमान हो, जनतांत्रिक नहीं माना जा सकता। जनतंत्र तो हमारी सहिष्णु जीवन पद्धति का आधार बन गया है जो अहिंसा- का व्यवहार-धर्म है।

समाज तब तक सच्चे माने में 'समाज' नहीं कहला सकता जब तक उसका आधार अहिंसा और समता न हो। समाज का जैसा विकासक्रम है, उसमें हम बर्बरता से सभ्यता की ओर बढ़ते जा रहे हैं। प्रारम्भ में मानव बाघ की तरह दूसरे प्राणियों को आखेट में मार कर जीता था। आगे वह बन्दर-अवस्था में आया, जहाँ वह उत्पादन तो नहीं करता लेकिन प्रकृति के फल-कन्द का उपयोग करता था। फिर पशु-अवस्था में आया जब वह उत्पादन भी करता था और उपभोग भी। शायद अब उसके आगे बढ़ने का समय आया है जब वह मधुमक्खी की तरह बिना किसी को कष्ट पहुंचाये संग्रह कर समाज को मधु देगा। इसमें हम उत्तरोत्तर अहिंसा का विकास पाते हैं। यों भी मानव-समाज वात्सल्य, दाम्पत्य मैत्री, करुणा एवं सहानुभूति के मूल्यों पर ही चलता है। जब भी इन मूल्यों की उपेक्षा होती है तो मानव-समाज अशान्त एवं उद्विग्न हो उठता है। लेकिन समाज को सुव्यवस्थित रखने वाले मानव जीवन के ये उदात्त मूल्य तब तक कायम नहीं रह सकते जब तक समाज में विषमता हो। ऊँच-नीच, गरीब-अमीर आदि का भेद समाज के स्वास्थ्य को गिराता है। इसलिये भगवान महा-वीर ने समाज-विकास के लिये 'सम' यानी 'साम्य' का आग्रह रक्खा। वस्तुतः विषमता के आधार पर समाज चल ही नहीं सकता। जो चलता है, वह समाज नहीं, दो हितों का संघर्ष होता है। इसलिये भगवान महावीर ने परम्परागत जाति-भेद के उन्मूलन का शंखनाद कर सामाजिक क्षेत्र में समता या अहिंसा को पदस्थापित किया। मानव सब समान हैं। जन्म सत्तावाद भी धनसत्तावाद की तरह ही भयानक है, जिसके मूल में हिंसा है।

जो लोग यह कहते हैं कि संघर्ष ही जीवन है या संघर्ष ही विकास को हरकत देता है, वे भी संभवतः मानव-समाज को जोड़ने वाले तत्त्व प्रेम

एवं सहयोग को भूलते नहीं। निरन्तर संघर्ष तो हो नहीं सकता। आखिर जब वर्गविहीन अपरिग्रही समाज की स्थापना हो जायगी तो फिर संघर्ष किससे एवं किसके बीच होगा? अतः संघर्ष प्रारम्भिक भले ही दीखता हो, अवसानिक नहीं। फिर संघर्ष संघर्ष के लिये नहीं हो सकता। संघर्ष एक सीमा के बाद समाप्त करना ही होगा। लेकिन सहयोग एवं प्रेम का तो अनन्त विस्तार संभव है। परिवार-प्रेम से हम विश्व-प्रेम एवं सर्वभूत-प्रेम सभव हो सकता है। इस दृष्टि से भी हिंसा का अंत है, अहिंसा अनन्त है।

भगवान् महावीर की अहिंसा कुछ लोग चीटियों को गुड़ खिलाने एवं रात के पूर्व भोजन करने में समझ लेते हैं। लेकिन-"एरण की चोरी करै, करै सूई को दान।" वाली बात को जैनधर्म मान लेना पाखंड होगा। लेकिन चीटियों को गुड़ खिलाने एवं रात्रि पूर्व भोजन करने में हमारा प्रेम मानवेतर प्राणियों से भी जुड़ जाता है। अहिंसा का विस्तार केवल मानव तक ही नहीं, वह तो पशु पक्षी, आदि सबों में है। यही है, अहिंसा का विश्वरूप, जिसे हम आज चाहकर भी इंकार नहीं कर सकते हैं।

वीर-वचन

चरणं हवइ सधम्मो, धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो।
चरित्र धर्म है। यह धर्म आत्मा का साम्यभाव है।

णहि आगमेण सिज्झदि, सद्दहणं जदि ण अत्थि अत्थेसु।
यदि तत्वार्थ का श्रद्धान न हो तो मात्र आगम के ज्ञान से सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

सद्दव्वरओ समणो सम्मादिट्ठी हवेइ णियमेण।
स्वद्रव्य में रत साधु नियम से सम्यग्दृष्टि होता है।

धम्मेण होदि पुज्जो।
धर्म से प्राणी पूज्य होता है।

देवा वि तं नमसंति, जस्स धम्मे सया मणो।
देवता भी धर्मात्मा व्यक्ति को नमस्कार करते हैं।

अब्भंतर बाहिरए सव्वे गंथे तुमं विवज्जेहि।
भीतर और बाहर की सम्पूर्ण ग्रन्थियों के उन्मोचन का नाम अपरिग्रह है।

सव्वत्थ अप्पवसिओ णिस्संगो णिब्भओ य सव्वत्थ।
परिग्रह से रहित व्यक्ति स्वाधीन और निर्भय रहता है।

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते।
मनुष्य धन से अपनी रक्षा नहीं कर सकता।

भगवान महावीर ने परिग्रह को पाँच पापों में गिना है और वर्तमान में इस बात का बड़े जोर-शोर से प्रचार किया जा रहा है कि भगवान महावीर का अपरिग्रह सिद्धान्त ही सच्चा समाजवाद अथवा साम्यवाद है। भगवान महावीर ने संग्रह का कभी विरोध नहीं किया लेकिन उनका बल मुख्य रूप से दो बातों पर था—(१) संग्रह न्याय मार्ग से हो वह किसी का भी उत्पीड़न करके न किया जाये। (२) संग्रह करने वाला पदार्थों में मूर्च्छित न हो जाये। अर्थात् दूसरे जीवों के प्रति जो उसका कर्तव्य कर्म है उसे वह भूल न जाये। इस तरह महावीर का अपरिग्रहवाद समाजवाद अथवा साम्यवाद से भिन्न किन्तु उससे बहुत ऊंचा है।

—प्र० सम्पादक

सत्य के आवरण में मूर्च्छा

□ श्री इन्द्रचन्द्र शास्त्री
दिल्ली

साधारणतया परिग्रह शब्द का अर्थ धन सम्पत्ति को लेकर किया जाता है, किन्तु इसका वास्तविक अर्थ है वे तत्व जो हमारी चेतना को घेर कर उसकी स्वाभाविक शक्तियों को कुण्ठित कर देते हैं, उसके स्वतन्त्र विकास को रोक देते हैं। इस प्रकार के सभी अवरोध परिग्रह हैं। यह शब्द संस्कृत की 'ग्रह' धातु से बना है, जिसका अर्थ है पकड़ना। परि उपसर्ग का अर्थ है चारों ओर से। तत्वार्थसूत्र में इसका अर्थ किया गया है। 'मूर्छा' अर्थात् व्यक्ति का निजी रूप को भूल जाना, आत्म चेतना का कुण्ठित होना। जब मनुष्य धन सम्पत्ति, परिवार, मिथ्या अभिनिवेश, अहंकार, सम्प्रदाय, परम्परा आदि के मोह में पड़ कर अपने आपको भूल जाता है तो उसे मूर्च्छा कहा जाता है।

इसके दो प्रकार हैं। पहला प्रकार उन स्थूल मूर्च्छाओं का है जिन्हें साधारणतया हेय दृष्टि से देखा जाता है। उदाहरण के रूप में धन का लोभ इन्द्रिय-लोलुपता, कामुकता, मदिरापान एवं दुर्व्यसन, जिन्हें सभ्य समाज अच्छी दृष्टि से नहीं देखता। ये मूर्च्छायें हमारे हृदय या इच्छा शक्ति को प्रभावित करती हैं, विचार शक्ति को कुण्ठित नहीं करतीं। मनुष्य उन्हें बुरी समझता है, छोड़ना भी चाहता है, किन्तु आत्मबल की न्यूनता के कारण ऐसा नहीं कर पाता। ज्यों-ज्यों आत्म-बल जागृत होता है वह इनसे हटता चला जाता है। दूसरे शब्दों में इन मूर्च्छाओं को दुर्बलता कहा जाता है।

इनमें से कुछ ऐसी भी हैं जिन्हें पुरुषार्थ कला या संस्कृति का नाम लेकर प्रोत्साहन दिया जाता है। उदाहरण के रूप में यदि अभावों से पीड़ित दरिद्र व्यक्ति धनोपार्जन के लिये दौड़ धूप करता है तो लोभ कहकर उसकी निन्दा की जाती है

किन्तु यदि लखपति करोड़पति बनना चाहता है और करोड़पति अरबपति बनना चाहता है तो उसकी प्रशंसा की जाती है तथा कथित देशभक्त उसे पुरुषार्थ और उद्योग कहते हैं। धर्माचार्य पूर्व जन्म का पुण्य और तदुपजीवी विद्वान उदारता। इसी प्रकार कामुकता की रसिकता, सहृदयता कलाप्रेम आदि शब्दों द्वारा प्रशंसा की जाती है। फिर भी इन वृत्तियों की निर्व्याज स्तुति नहीं होती। अपने आप में उन्हें अच्छा नहीं माना जाता।

मूर्च्छाओं का दूसरा प्रकार वह है जो हमारे हृदय और मस्तिष्क दोनों को घेर लेती है। जहां उन्माद की मात्रा उत्कट सीमा पर पहुंच जाती हैं। सिद्धान्त, राष्ट्रीयता, जाति परम्परा आदि की मूर्छायें इस कोटि में आती हैं। वे एक ओर हमारे मिथ्या अहंकार की घोषणा करती हैं और दूसरी ओर सत्य की प्रतीति नहीं होने देती। ऐसी मूर्छायें ही वर्तमान मानव का अभिशाप बनी हुई हैं।

सर्व प्रथम हमारे सामने सिद्धांतों की मूर्च्छा आती है। साधारणतया सिद्धान्तों का निर्माण दो आधारों पर किया जाता है। वैज्ञानिक सिद्धांत सत्य के आधार पर बनते हैं। विज्ञान शास्त्री अपनी प्रयोगशाला में परीक्षण करता है, अन्वेषण करता है और जो तथ्य सामने आते हैं उनके आधार पर सिद्धांत की रचना करता है। किन्तु प्रायः देखा गया है कि वह अपने निष्कर्षों को अन्तिम मान लेता है। विज्ञान का इतिहास इस बात का साक्षी है कि पिछले चार सौ वर्षों में अनेक नये सिद्धांत अस्तित्व में आये और पुरानी धारणायें मिथ्या सिद्ध होती गई। अनुसंधान के नये आविष्कारों ने वैज्ञानिक जगत में क्रांति उत्पन्न करदी है। फिर भी चिकित्सा आदि अनेक क्षेत्रों में पुरानी धारणायें चल रही हैं। एक डाक्टर अपने अध्ययन काल में मानव शरीर के सम्बन्ध में जो धारणायें बनाता है, नये तथ्य सामने आने पर भी उन्हें छोड़ना नहीं चाहता। उसे भय लगता है कि उन्हें छोड़ देने पर उसकी प्रतिष्ठा समाप्त न हो जाय। प्रतिष्ठा की मूर्छा उसे असत्य से चिपके रहने के लिए विवश करती रहती है। आत्मबल और साहस की उचित मात्रा होने पर वह उस मूर्छा को तोड़ डालता है अन्यथा उसी में सारा जीवन व्यतीत करता है।

प्राचीन समय में सत्यासत्य का निर्णय प्रातिभ ज्ञान या तर्क के आधार पर होता रहा। ईसा की चौथी शताब्दि तक का समय प्रातिभ युग कहा जायगा। उस समय सत्यासत्य के निर्णय के लिए मुख्यतया अपने-अपने धर्म प्रवर्तक के वचनों को उद्धृत किया जाता था। प्रत्येक सम्प्रदाय यह मानता था कि उसका प्रवर्तक सर्वज्ञ है। ऐसी कोई बात नहीं है जो उसके ज्ञान में न आई हो, अतः उसे भ्रम नहीं हो सकता। साथ ही वह राग द्वेष से परे है वह जानबूझ कर झूठ नहीं बोल सकता, अतः उसके वचन पूर्णतया सत्य और विश्वसनीय हैं। इतना ही नहीं जो व्यक्ति उनके विरुद्ध हो चला है या उनमें विश्वास नहीं करता वह मिथ्यात्वी या पापी है। धार्मिकता या सच्चरित्र का मापदण्ड उसके वचनों में विश्वास बन गया। मानव संदेह में पड़ गया कि चेतना की स्वतन्त्र स्फूर्ति को वह पाप कहे या पुण्य, उसे हेय समझे या उपादेय। यह मूर्च्छा अब भी हमारे जीवन के बहुत बड़े भाग को घेरे हुये हैं।

पांचवी शताब्दि से लेकर दशवीं शताब्दि तक का समय तर्क युग कहा जा सकता है। उस समय तर्क के बल पर सिद्धांतों की स्थापना होने लगी किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य पुरानी मूर्च्छा को छोड़कर शुद्ध तर्क का उपासक बन गया। उसने तर्क का आश्रय मुख्यतया दूसरे पर प्रहार करने के लिए लिया, सत्यान्वेषण के लिये नहीं। दूसरे शब्दों में तर्क शस्त्र बनकर रह गया, सत्यान्वेषण का उपकरण नहीं बन सका। जहां तर्क और जमी हुई धारणाओं में विरोध दिखाई पड़ा वहां तर्क की स्पष्ट शब्दों में अवहेलना भी की गई।

एक वर्ग ऐसा भी था जो प्राचीन समय से रूढ़ि या परम्परा को महत्व देता आ रहा था, उसका कथन था कि जो बात चिरंतन काल से चली आ रही है, जो काल के प्रवाह में विलीन नहीं हुई शताब्दियों के कठोर आघात प्रत्याघात जिसका कुछ न बिगाड़ सके उसे असत्य नहीं कहा जा सकता। इतने दिनों तक टिके रहना उसकी सच्चाई का बहुत बड़ा प्रमाण है। कुछ दिन बीतने पर उस परम्परा ने नवीनता का विरोध करना प्रारम्भ किया और वह विरोध अब तक चल रहा है। यह इस बात को भूल गई कि प्रारम्भ में वह भी नवीन थी। प्राचीनता की मूर्छा बुद्धि को घेरे हुए हैं।

सैद्धांतिक मूर्च्छा के इन रूपों को दार्शनिक परिभाषा में एकांतवाद कहा जाता है। प्रत्येक वस्तु के अनेक पहलू होते हैं। एक ही व्यक्ति किसी के लिये अच्छा है और किसी के लिये बुरा। एक ही आहार किसी के लिए पौष्टिक होता है और किसी के लिए हानिकारक। एक ही बालक एक स्त्री को सुन्दर लगता है और दूसरी को कुरूप। इन सब अपेक्षाओं पर विचार किये बिना किसी एक ही अपेक्षा को सत्य मानकर बैठ जाना और दूसरी अपेक्षा को स्वीकार न करना एकांतवाद है। वहां जमी हुई अपेक्षा या धारणा मूर्च्छा बन जाती है और बुद्धि को घेर कर बैठ जाती है। अनेकांतवाद इस घेरे या मूर्च्छा को हटाना चाहता है। उसका कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ को मुख्यता देता है। दे, यह उसका स्वभाव है, उसे सत्यासत्य के निर्णय का आधार नहीं बनाया जा सकता। इसके लिये अन्य अपेक्षाओं पर भी ध्यान देना होगा। उनका आलाप करने वाला सत्य पर नहीं पहुंच सकता।

वर्तमान युग में यत्र-तत्र विचार सहिष्णुता शब्द सुनने को मिलता है उसे लोकतन्त्रीय जीवन पद्धति का आवश्यक तत्व माना जाता है किन्तु अनेकांत का कथन है कि इतना पर्याप्त नहीं है। विचार सहिष्णुता का इतना ही अर्थ है कि विचारों के आधार पर दूसरे से द्वेष न किया जाय। किन्तु अनेकांत का कथन है कि विभिन्न विचारों को लक्ष्य में रखे बिना सत्य पर पहुंचा ही नहीं जा सकता। सहिष्णुता एक प्रकार का जीवन व्यवहार है जिसका सम्बन्ध सभ्यता के साथ है। जब दूसरा व्यक्ति हमारे पास बैठा हो तो उसकी भावनाओं का ध्यान रखना हमारा कर्तव्य है। ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये जो उन्हें ठेस पहुँचाये। किन्तु इसका विध्यात्मक कोई रूप नहीं है। इसके विपरीत अनेकांत का कथन है कि परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली प्रत्येक धारणा सत्य का आंशिक रूप है। जब तक उनका मेल नहीं होता, पूर्ण सत्य के दर्शन नहीं हो सकते। सत्य को जानने के लिये परस्पर विरोधी विचारों का स्वागत आवश्यक है।

वैचारिक मूर्च्छा का एक अन्य रूप भी है। हमारे अधिकांश निर्णय वस्तु साक्षी न होकर व्यक्ति साक्षी होते हैं। जिस व्यक्ति के प्रति हमारे मन में श्रद्धा बैठ जाती है उसकी प्रत्येक बात सच्ची मालूम होती है। इसके विपरीत जिसे हम घृणा या द्वेष की दृष्टि से देखते हैं उसकी प्रत्येक बात मिथ्या या दोषपूर्ण जान पड़ती है। यह जानने का प्रयत्न नहीं किया जाता कि वस्तु अपने आप में कैसी है? प्रायः श्रद्धा या विद्वेष का आधार व्यक्ति के अपने गुण नहीं होते, किन्तु जिसे अपना मान लिया जाता है, उसमें गुणों का आरोप किया जाता है। अपना या पराया मानने का आधार भी वास्तविक नहीं होता। उसके पीछे कहीं साम्प्रदायिक व्यामोह रहता है, कहीं स्वार्थभावना और कहीं मिथ्या आडम्बर। ये आवरण सत्य की प्रतीति नहीं होने देते।

प्राणी में दो वृत्तियां स्वाभाविक मानी जाती हैं। सर्व प्रथम वह अपनी सुरक्षा चाहता है और इसके लिये दूसरों के साथ अनुकूल या प्रतिकूल सम्बन्ध जोड़ता है। जिसे रक्षा में सहायक समझता है उसे मित्र मानता है और जिसे बाधक समझता

है उसे शत्रु। मित्र की प्रत्येक बात अच्छी लगती है और शत्रु की बुरी। इसी आधार पर पारिवारिक सामाजिक तथा राजनीतिक सम्बन्धों का निर्माण होता है। ऐसे स्थलों में रक्षा की स्वार्थ भावना, बुद्धि की मूर्च्छा या आवरण बन जाती है। व्यक्ति ज्यों-ज्यों अपने को सुरक्षित समझता है इस मूर्च्छा से ऊपर उठता जाता है। जब तक भौतिक अस्तित्व है पूर्ण सुरक्षा की भावना नहीं आ सकती। शरीर अपने आप में नश्वर है तनिक सा आघात उसे निष्प्राण कर देता है।

सुरक्षा की भावना को दृढ़ करने के लिए राजनीति, समाज तथा धर्म सभी ने अपने-अपने उपायों का आविष्कार किया है। राजनीतिक उपायों का आधार शत्रु का दमन है किन्तु ज्यों-ज्यों दमन किया गया, सुरक्षा के स्थान पर अरक्षा बढ़ती गई, भय की मात्रा उत्तरोत्तर उग्र होती गई। भयंकर शस्त्रास्त्रों की प्रतिस्पर्धा चल पड़ी और सारा विश्व अपने को अरक्षित समझने लगा। प्रत्येक व्यक्ति के मन में तरह तरह की आशंकाओं ने घर कर लिया है। रात को सोते समय यह भय बना रहता है कि सुबह उठ पायेंगे या नहीं।

समाज अरक्षा की इस भावना को परस्पर सहयोग द्वारा दूर करना चाहता है। यह ठीक भी है कि सहयोग की मात्रा जितनी अधिक होगी उतना ही एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की उपस्थिति में अपने को सुरक्षित समझेगा। किन्तु वैयक्तिक स्वार्थ सहयोग को निष्प्राण बना रहे हैं। वह केवल बाह्य शिष्टाचार और दिखावा रह गया है। एक व्यापारी दूसरे व्यापारी का मुस्करा कर स्वागत करता है, आगे बढ़कर हाथ मिलाता है, उसके पारिवारिक तथा वैयक्तिक स्वास्थ्य एवं सुख की बात पूछता है और इस प्रकार का दिखावा करता है जैसे उसका अपना कोई सुख दु:ख नहीं है अतिथि का सुख दु:ख ही उसका सुख दु:ख है, किन्तु मन ही मन उसके व्यापार को हड़पने की ताक में लगा रहता है। दूसरा व्यापारी वास्तविकता को समझता है वह भी उसी प्रकार का दिखावा करता है। फलस्वरूप शिष्टाचार की पराकाष्ठा होने पर भी वे एक दूसरे से चौकन्ने रहते हैं। वह मिलन दो व्याघ्रों का मिलन बन जाता है जो एक दूसरे पर प्रहार के लिये अवसर की ताक में होते हैं।

धर्म संस्था अरक्षा की इस भावना को दूर करने के लिये दो बातों को प्रस्तुत करती है। पहली बात है अपने जीवन को ऐसा बनालो कि दूसरा तुम्हारे लिये भय न रहे। इसका प्रथम कारण स्वार्थों का संघर्ष है। धन, व्यक्ति से टकराता है। दोनों एक दूसरे से आगे बढ़ना चाहते हैं। धर्म का कथन है इन लिप्साओं को घटाते जाओ। फलस्वरूप इनके अपूर्ण रह जाने का भय तुम्हें विचलित न करेगा। भय का दूसरा कारण ऐसी वस्तुओं का मोह है जो स्थायी नहीं रहती, जिन्हें दूसरा छीन सकता है। उनके साथ हमारा सम्बन्ध ज्यों-ज्यों बढ़ता है भय की मात्रा भी बढ़ती चली जाती है। धन-सम्पत्ति, परिवार, सामाजिक प्रतिष्ठा और शरीर सभी इसके अन्तर्गत हैं। इनके साथ मोह ज्यों-ज्यों हटता जायगा, निर्भयता की वृद्धि होती जायगी।

सुरक्षा के लिये दूसरी आवश्यकता यह है कि हम किसी के लिये भय न रहें। जब हम दूसरे के लिये भय बनते हैं तो वह भी हमारे लिए भय बनने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार भयों की प्रतिस्पर्धा चल पड़ती है। दोनों पक्ष एक दूसरे से प्रबल और उग्रतर होना चाहते हैं। फलस्वरूप कोई भी निर्णय नहीं हो पाता।

महावीर ने इन्हीं बातों को लक्ष्य में रखकर कहा था कि अभयदान सब दानों में श्रेष्ठ है। उन्होंने कहा था कि जब तुम किसी को मारने या कष्ट देने जाते हो तो उसकी जगह अपने को रखकर सोचो, जो बात तुम्हें अप्रिय है वह दूसरे को भी

प्रेरित है। ऐसा आचरण मत करो जो दूसरे के लिए भय का कारण हो। साथ ही धन-सम्पत्ति आदि विषमता के कारणों को घटाते जाओ। अपना जीवन ऐसा बनालो जिसके लिये किसी के मन में ईर्ष्या या संघर्ष की भावना जागृत न हो। जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपने पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त कर सकता हो। जहां टक्कर की सम्भावना तक न हो। महावीर के इस सिद्धांत को समता के नाम से पुकारा जाता है। उनका कथन है तुम किसी के लिए भय मत बनो साथ ही अपना जीवन ऐसा बनालो कि दूसरा तुम्हारे लिये भय न बन सके।

प्राणियों की दूसरी वृत्ति अहंकार का पोषण है। सुरक्षा की चिन्ता समाप्त हो जाने पर व्यक्ति में अस्मिता या अहंकार की भावना जागृत होती है, वह दूसरे से आगे बढ़ना चाहता है, ऐसा प्रदर्शन करता है जिससे दूसरे की तुलना में अधिक आदर हो। क्रूर आततताइयों से लेकर धर्माचार्यों तक यह मनोवृत्ति पाई जाती है। विश्व का इतिहास इन्हीं अहंकारों के संघर्ष का इतिहास है। तैमूरलंग, चंगेजखां, नादिरशाह आदि आततायियों ने अपने तलवार का सामर्थ्य दिखाकर इसका पोषण किया और लाखों निर्दोष व्यक्तियों को मार डाला। इसी के लिए अहंकारी शासकों में भयंकर युद्ध हुये। धर्माचार्य आत्मसाधना को छोड़कर मिथ्या प्रदर्शन में लग गये और कपटजाल रचने लगे। विद्वान, सत्यान्वेषण को छोड़कर प्रतिवादी को पराजित करने की ताक में रहने लगे। फलस्वरूप हेतुविद्या सत्य के अनुसंधान को छोड़कर दूसरे को पराजित करने में लग गई। शास्त्रार्थ में छल, जाति, निग्रहस्थान आदि का प्रयोग बाहुल्य से होने लगा। इस प्रकार अहंकार ने बुद्धि को मूर्च्छित कर दिया। प्रत्येक को अपनी बात अच्छी लगने लगी और दूसरे की बुरी। हम इसे साम्प्रदायिक व्यामोह कह सकते हैं।

प्रसिद्ध विचारक कृष्णमूर्ति का कथन है कि नेता अनुयायियों को पथभ्रष्ट करते हैं और अनुयायी नेता को। नेतृत्व का आधार सर्वत्र वास्तविक गुण नहीं होते। एक व्यक्ति त्याग, तपस्या, जनसेवा, विद्वत्ता, प्रतिभा आदि वास्तविक गुणों के कारण सम्मान प्राप्त करता है। उसके पीछे एक ऐसा वर्ग खड़ा हो जाता है जो वास्तविक गुण न होने पर भी तरह-तरह से उसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ कर प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहता है। कोई अपने को उसका वंशज बताता है, कोई गद्दी का अधिकारी, कोई उस सरीखी वेश भूषा बनाकर यह दावा करता है कि मुझ में वे सभी गुण आगये हैं। कोई दिन-रात उसके नाम की रट लगाये रहता है। इस प्रकार विविध प्रदर्शन द्वारा अनुयायियों की विचार शक्ति को मूर्च्छित करने का प्रयत्न किया है। बहुत बार ऐसा भी होता है कि एक व्यक्ति निजी गुणों के कारण सन्मान प्राप्त करता है और सर्वसाधारण को अपना संदेश सुनाने लगता है अनुयायियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है। एक दिन उसे भान होता है कि मुझे अपनी धारणाओं में कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता है। सत्य की स्फूर्ति होने पर भी उसमें परिवर्तन करने का साहस नहीं रहता। प्रतिष्ठा अन्तरात्मा को दबा देती है। फल स्वरूप वह उसी असत्य का समर्थन करता चला जाता है। अनुयायी नेता को सत्य पर नहीं आने देते। दूसरी ओर अनुयायियों में यदि कोई मतभेद प्रकट करता है तो उसकी नास्तिक, मिथ्यात्वी, काफिर आदि शब्दों द्वारा भर्त्सना की जाती है। उसका सामाजिक बहिष्कार किया जाता है। धर्म संस्था हिंसक तथा व्यभिचारी को सहन कर सकती है किन्तु ऐसे व्यक्ति को सहन नहीं करती।

अहंकार प्रदर्शन के अनेक रूप हैं जो सर्वसाधारण की बुद्धि पर परदा डालते रहते हैं। त्याग और योग का परस्पर विरोध है। इसी प्रकार त्याग और अधिकार का भी आपस में कोई मेल

नहीं है, फिर भी हम एक त्यागी की प्रशंसा इस आधार पर करते हैं कि बड़े-बड़े सेठ या राज्याधिकारी उसके भक्त हैं। यदि सेठ अपनी सम्पत्ति छोड़कर और राज्याधिकारी अपना पद छोड़कर उसके अनुयायी बनते हों तो यह वास्तव में प्रशंसा की बात है, किन्तु वस्तु स्थिति भिन्न है। पहले बताया जा चुका है कि मनुष्य में सुरक्षा के बाद अहंकार की भावना जाग्रत होती है। जब भौतिक आवश्यकतायें पूर्ण हो जाती हैं और धन के रूप में शक्ति बच जाती है तो व्यक्ति उसके द्वारा अहंकार का पोषण करना चाहता है। इसके लिए वह ऐसे व्यक्ति को ढूंढता है जिसका जन मानस पर प्रभाव हो। आर्थिक आवश्यकताओं को पूर्ण करके उसकी तथा उसके अनुयायियों की सहानुभूति प्राप्त करता है। दूसरी ओर जननायक उस आर्थिक सहायता से आडम्बर की उत्तरोत्तर वृद्धि करने लगता है। इस प्रकार सहायता द्वारा जन-मानस को कुण्ठित किया जाता है। अधिकारी तथा राजनीतिक नेता ऐसे व्यक्तियों का सहारा लेकर चुनाव में सफल होना चाहते हैं। बहुत से दुराचारी अपने दुराचार को छिपाने के लिए भी इस प्रकार का आश्रय लेते हैं।

वास्तव में देखा जाय तो त्यागी की प्रशंसा का आधार त्याग होना चाहिये और जन-नायक की प्रशंसा का लोक सेवा किन्तु प्राचीन समय से प्रत्येक जन-नेता के साथ बाह्याडम्बर की बातें चली आ रही हैं। वहां देवताओं, राजाओं और श्रीमन्तों का आगमन बताकर त्याग पर ऊंचे उठने वाले धर्म नायकों की प्रशंसा होती रही है। इन आधारों पर परस्पर प्रतिस्पर्धा भी होती आई है। फिर भी सत्य को लक्ष्य में रखकर यही कहा जायगा कि ऐसा सर्वसाधारण की बुद्धि को मूर्च्छित करने के लिए किया जाता रहा है।

बम्बई की घटना है कि एक विद्वान किसी करोड़पति सेठ के घर में भोजन कर रहे थे। सेठ जी की वृद्धा माता बड़े स्नेह से पास बैठकर भोजन करा रहीं थीं। पण्डित जी के प्रति उसके मन में अपार श्रद्धा थी। भोजन कराते समय उसके मन में एक प्रश्न उठा, बोली पण्डित जी क्या सिद्ध शिला रत्नों की है ? पण्डित जी ने प्रश्न को टालते हुये उत्तर दिया—मां जी, आजकल तो कोई नहीं जाता तो हम इस चर्चा में क्यों पड़ें कि रत्नों की है या पत्थर की।

माता का प्रश्न बहुसंख्यक धार्मिक जगत के मानस को प्रगट करता है उसके लिए मोक्ष का इतना महत्व नहीं है जितना रत्नों का। जब हम धन सम्पत्ति या अन्य किसी भौतिक स्वार्थ के लिए धर्माचरण करते हैं तो इस कोटि में आ जाते हैं। वहां धर्म साध्य नहीं रहता साधन बन जाता है। धन का आकर्षण हमारी चेतना को मूर्च्छित किये रहता है।

भगवान महावीर का दर्शन

दृश्यते अनेन इति दर्शनम् अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थ का यथार्थ स्वरूप जाना जाय वह दर्शन कहलाता है। यह है दर्शन शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ। महावीर ने बारह वर्ष की कठोर तपस्या एवं साधना के पश्चात् जीवन का सारभूत तत्व प्राप्त किया था। उन्होंने ऐक्य में अनैक्य और अनैक्य में ऐक्य की प्रतिष्ठापना की थी, संसार के दुःखों का कारण और उनसे छूटने का उपाय उन्होंने बताया था और मैं तत्व की बड़ी स्पष्ट व्याख्या उन्होंने प्रस्तुत की थी। इन्हीं का यत्किञ्चित् परिचय है विद्वान् लेखक की इस रचना में।

—प्र० सम्पादक

□ साहित्याचार्य डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री
काव्यतीर्थ, नीमच

यों तो मेरा कोई मित्र नहीं है, किन्तु जो सुख-दुख में घर-परिवार को पूछ लेता है, सहानुभूति की अपनी दो बातें कह लेता है, उसे मित्र नहीं तो क्या कहूं? ऐसे ही एक मेरे मित्र एक दिन मुझ से बोले—महावीर क्या हैं, आप बता सकते हैं?

—अनेकान्त हैं, अनन्त हैं, मैंने कुछ सोचते हुए कहा।

क्या पहेली बुझा रहे हैं? किंचित् मुस्कराते हुए उन्होंने कहा।

"जो अनन्त रूपों में उद्भासित होते हैं, जिन में अनन्त गुण तथा अनन्त शक्तियां हैं, जो अनन्तता के सिद्धालय हैं, वे अनेकान्त और अनन्त नहीं तो क्या हैं," कुछ विचार करते हुए मैंने पुनः कहा।

अनेकान्त क्या है? एक जिज्ञासा भरी दृष्टि से उन्होंने मुझ से पूछा।

—अनेकान्त, एक में अनेक स्वाभाविक गुण या विरोधी धर्म जिस में पाए जाते हों।

"क्या अनेकान्त सत्य से बढ़कर है?"

—हां, अनेकान्त के बिना हम अखण्ड सत्य को नहीं जान सकते हैं। खण्ड-खण्ड सत्य सापेक्ष होता है। सापेक्ष रूप से जानी हुई वस्तु व्यवहार सत्य कही जाती है, किन्तु निरपेक्ष सत्य ही पूर्ण सत्य होता है जो व्यक्तिमूलक न हो कर तत्वमूलक होता है अनेकान्त इस संसार में उस अनुपम गुरु के समान है, जो वस्तु तथा व्यक्ति में निहित तत्व के मौलिक रूप को प्रकाशित करता है। बिना अनेकान्त के तो हमारा व्यवहार भी नहीं चल सकता।

"एक में अनेक का क्या अर्थ है? "अनेक" शब्द पर बल देते हुए उन्होंने कहा। आप मुझे जैन सा० कहते हैं, ठीक है न। इसी तरह से कुछ लोग प्रोफेसर

डा० कह कर पुकारते हैं। कालेज के मेरे साथी डाक्टर डा० नाम से सम्बोधन करते हैं। परन्तु कुछ परिचित पत्रकार "शास्त्री" नाम से मेरा परिचय देते हैं और अधिक निकट रहने वाले डॉक्टर शास्त्री कहते हैं। इतना ही नहीं, समाज के लोग प्रायः पण्डित जी के नाम से मुझे बुलाते रहते हैं। अब मैं आप से पूछना चाहता हूं कि इन उपनामों में से मैं क्या नहीं हूं? यदि इन सब नामों में "मैं" हूं, तो फिर एक प्रश्न और उत्पन्न होता है कि क्या इन सब नामों को मिला देने से "मैं" बन जाएगा?

निश्चित ही "मैं" इन सब से भिन्न है। किन्तु इन सब नामों में से "मैं" बोलता है, इसलिए उन सब का प्रयोग किया जाता है।

"तो क्या सभी सापेक्ष सत्य को मिला कर एक अखण्ड सत्य नहीं बन जाता है?" बात को कुछ आगे बढ़ाते हुए वे बोल पड़े।

—सापेक्ष प्रत्येक स्थिति में सापेक्ष सत्य रहता है, वह निरपेक्ष नहीं हो सकता है। निरपेक्ष के लिए तो "मैं" का अहसास चाहिए और उस से आगे "स्व" की अनुभूति होना आवश्यक है।

"मैं और स्व में क्या कोई मौलिक अन्तर है?"

एक पर्याय है तो दूसरा अस्तित्व का सूचक है। एक वस्तु का रूप है तो दूसरा स्वयं वस्तु है। वस्तु स्वयं अस्तित्ववान है।

"फिर, अनेक का क्या अभिप्राय है?"

वस्तु जैसी ऊपर से दिखती है, उतनी या वैसी ही नहीं होती है। उस के आगे भी वस्तु होती है। पानी सदा एक रूप दिखलाई पड़ता है। किन्तु वैज्ञानिक बताते हैं कि पानी एक नहीं, दो का यौगिक है। हाइड्रोजन और आक्सीजन से मिल कर पानी बना है। इसी तरह से शरीर, मन, वाणी आदि सभी यौगिक हैं। कई अणु-परमाणुओं से मिल कर निर्मित हुए हैं। संसार में शुद्ध या अपने आप में पूर्ण निरपेक्ष निरंजन एक वस्तु कोई दिखलाई नहीं पड़ती। जिसे हम एक समझते हैं उस में अनेक रूप, रस, गंध, वर्ण आदि का सम्मिश्रण लक्षित होता है। इसलिए यह कहा जाता है कि जिसे आप एक देख रहे हैं, वह वस्तु रूप में, वर्ण, रस आदि रूपों में अनेक है। यह आकाश, यह धरती और प्रकृति के वातावरण में खिलने वाले फल-फूल सभी अनन्त रूपों को लिए हुए हैं। केवल ऊपर से दिखने वाले बाहरी रूप ही नहीं, भीतर में अनन्त गुणों में भी विविधता है। भीतर में पाया जाने वाला जो रस आज खट्टा है, वही कल मीठा हो जाता है। यह मिठास कहां से आ जाती है? यदि उस के भीतर पहले से मधुरता का कोई रूप अन्तर्निहित नहीं होता तो वह प्रकट कैसे हो सकता था? इस का अर्थ यही है कि प्रत्येक वस्तु में स्वभावी और विरोधी धर्मों का अस्तित्व पाया जाता है।

'मैं' क्या है?

"मैं" चेतना की मूर्च्छा है। बेसुध प्राणी को अपना अहसास नहीं होता। इसी प्रकार मोह के नशे में मूर्च्छित "मैं" सदा आत्मप्रतीति से परे रहता है। संसार का प्राणी अपने (स्व) और पराये (पर) के अनन्त संयोगों में अपनी अनुभूति कर रहा है, पर को अपना समझ रहा है। जीव अनन्त रूपों में विभक्त हो गया है। उसकी समग्र चेतना आहत एवं अवरुद्ध हो गई है। वह मानस-प्रत्ययों में खो गया है, अपने आप को भूल गया है। चेतना अपनी अखण्ड सत्ता में है। इस अखण्ड चेतना की प्रतीति होना ही आत्म-विस्तार है, जिसे परमार्थ से अन्तर्मुखी होना कहा जाता है। श्रमण-परम्परा में व्यक्ति का लक्ष्य भौतिक वैभव न हो कर आत्म-विकास है। जब तक मनुष्य की वृत्ति बहिर्गामी तब तक वह अन्तर्मुखी साधना के लिए उन्मुख नहीं हो

सकता। आत्मा की साधना के लिए चेतना के शाश्वत अस्तित्व की प्रतीति होना आवश्यक है। इसे ही अध्यात्म कहा जाता है।

मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा चेतना में अधिक विकासशील है। यह विकास ही मनुष्य को ईश्वरत्व की ओर ले जाता है। व्यक्ति समाज की मूल इकाई है। भ० महावीर जानते थे कि व्यक्ति समाज से भिन्न नहीं है। समाज के अन्य लोगों के प्रति भी उसके कर्तव्य हैं, कुछ दायित्व हैं। इसलिए वे व्यक्ति पर रुके नहीं। उन्होंने बताया कि एक अच्छे समाज के लिए मनुष्य के "मैं" और "तुम" के सम्बन्ध अच्छे होने चाहिए। मनुष्य को अपने अधिकार और कर्तव्यों का बोध होना चाहिए। अधिकार और कर्तव्यों का, मैं और तुम का, व्यक्ति और समाज का समन्वय ही एक राष्ट्र का गौरव है। स्वस्थ समाज से स्वस्थ देश का निर्माण होता है। जहां मनुष्य का मनुष्य पर विश्वास न हो, जहां कोई नैतिकता तथा चारित्र न हो और जहां केवल स्वार्थ ही स्वार्थ हो, वहां भला धर्म कैसे रह सकता है? केवल धर्म की बातें करने से मनुष्य धर्मात्मा नहीं बन जाता। धर्मात्मा बनने के लिए मनुष्य को प्रथम अपनी अज्ञानता की भूल स्वीकार करनी चाहिए। जो अपनी भूल ही नहीं मानता है, जो मद्य, मांस, मदिरा, अंडे आदि के सेवन में कोई अनौचित्य नहीं मानता है, वह भला धर्म की राह में कैसे चल सकता है? इसलिए धर्मात्मा बनने के लिए मनुष्य पहले एक औसत आदमी बने, वह केवल अन्धविश्वासों और भौतिक परम्पराओं में कैद न हो।

उपकार क्यों ?

भ० महावीर ने एक सूत्र दिया था—"परस्परोपग्रहो जीवानाम्" संसार का प्रत्येक जीव परस्पर एक दूसरे के उपकार के लिए है; विनाश के लिए नहीं। जितना हमें अपने संरक्षण का अधिकार है, उतना ही दूसरे का भी। दूसरे के दुःख में सहानुभूति होना, दूसरे के दुःख को अपना दुःख समझना आत्म विकास की स्थिति है। इसलिए पड़ौसी को भूखा देख कर हम कभी पेट भर नहीं खा सकते। दूसरे को चोट पहुंचा कर हम आराम से नहीं सो सकते। वास्तव में जो दूसरों की उपेक्षा तथा निरादर करता है, वह अपना सम्मान करना नहीं जानता। ईश्वर प्राणी मात्र में प्रसुप्त है। इसलिए किसी भी देहधारी का अपमान करना ईश्वर का अपमान करना है।

आध्यात्मिकता

जो आध्यात्मज्ञान को प्रकट करने के इच्छुक हैं उन्हें सब से पहले आत्म ज्ञान को प्राप्त करना चाहिए। आत्मा को अपने यथार्थ रूप में जानना और पहिचानना—ही अध्यात्म की पहली सीढ़ी है। संसार में जितने भी पदार्थ हैं उनमें दो ही मुख्य हैं—जीव और अजीव[1]। जीव और पुद्गल दोनों ही विभिन्न दशाओं में परिणमन करते रहते हैं। इसलिए आत्मा ही नहीं, पुद्गल भी संक्रमणशील कहा जाता है। दोनों का परस्पर अन्तर्द्वन्द्व ही संसार की रचना करता रहता है और आपस में एक-दूसरे के अंशों को ग्रहण करते रहते हैं। रज और वायु के न जाने कितने सूक्ष्म कण प्रति पल मिलते-बिछुड़ते रहते हैं। उनमें तरह-तरह की क्रियाएं होती रहती हैं। जड़ और चेतन के अनन्त अणु और परमाणुओं का परिणमन ही यह विश्व है। इसमें लघुतम द्रव्य कण ही अधिक संचरणशील लक्षित होते हैं। और उनकी विभिन्न रचनाओं, परिणमन तथा विघटन से नित नये-नये पदार्थों की—उत्पत्ति और विनाश देखा जाता है।

---

1. जदत्थि णं लोये तं सव्वं दुपओआरं। तं जहां जीवच्चेव अजीवच्चेति।

—स्थानांगसूत्र

मूल में संसार में कोई भी पदार्थ नितान्त विनाशी—तथा अस्तित्वहीन नहीं है। जिसकी सत्ता है उसमें परिवर्तन अवश्यंभावी है। परन्तु उसका विनाश नहीं होगा। किन्हीं अंशों में यदि वह बिखरने लगता है, तो किन्हीं दूसरे अंशों में उसकी रचना भी होती रहती है। रचना-प्रक्रिया का यह कार्य जिससे होता है, उसे ही—शास्त्रकारों की भाषा में "कर्म" कहा जाता है।

कर्म जड़ पदार्थ है। लघुतम द्रव्यकणों की भांति योगवाही अनन्त कर्म परमाणु इस दृश्य तथा अदृश्यमान जगत् में व्याप्त है। संचरणशील कर्म के परमाणु निरन्तर गति तथा वेग के साथ जीव पदार्थ के संयोग से विभिन्न अवस्थाओं में संक्रमण करते रहते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार जितना अधिक संघात तथा तदनुसार परमाणुओं में आवेग उत्पन्न होता रहता है, उसी अनुपात में जीव में भी सूक्ष्म आवेश तथा परि-स्पन्दन—होता रहता है। यद्यपि दोनों की क्रिया और परिणाम की प्रक्रिया में अन्तर है, पर—प्रभावशील दोनों ही होते हैं। दोनों की गति और चाल में भी अन्तर है। आत्मा की गति इतनी सूक्ष्म और तीव्र है कि उसको भलीभांति लघुतम योगवाही द्रव्यकणों के संमिश्रण के सिवाय लक्षित नहीं किया जा सकता।

आत्म-ज्ञान की प्रक्रिया वास्तव में बहुत सूक्ष्म और अभ्यास साध्य है। इसके लिए मनःशुद्धि और तत्वज्ञान की बहुत आवश्यकता है। बात—बहुत छोटी सी है कि आत्मा जड़ कर्मों के संयोग से तरह-तरह के क्लेशों का अनुभव कर रही है, परन्तु लोगों के समझ में नहीं आता कि कहीं जड़ चेतन पर भी प्रभाव डाल सकता है ?

संसार का कारण

शरीर, वाणी और मन का योग कषाय से अनुरंजित होने के कारण विविध विकृतियों को उत्पन्न करता रहता है। यह विकार ही संसार का कारण है, विकार का साधन है—मन, वाणी और शरीर। इसलिए प्रथम शरीर-शुद्धि, वचन-शुद्धि और—मन-शुद्धि का अभ्यास करना चाहिए। जहां हमें मन, वाणी और शरीर पर संयम तथा नियन्त्रण करना होगा, वहीं इन से सम्बन्धित आचार-विचार की शुद्धता पर भी बराबर ध्यान देते रहना होगा—तभी हम संसार के कारण को दूर कर सकेंगे। जहां हम से असावधानी हुई कि वहीं प्रमाद बन जाएगा। प्रमाद को भ० महावीर ने हिंसा का कारण बताया है। प्रमाद के योग से ही हिंसा होती है। इस प्रकार साध्य की शुद्धि के साथ साधन की शुद्धि होना भी अनिवार्य है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

दया दया सब कोई कहें, दया न जाने कोय।
स्व आतम जाने बिना, दया कहां से होय।।

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण।
ज्ञानी होने का सार यही है कि मनुष्य किसी भी प्राणी की हिंसा न करे।
हिंडति चाउरंतं विसएसु विमोहिया मूढा।
सांसारिक विषयों में आसक्त मूढात्मा चतुर्गति रूप संसार में भटकता रहता है।

निश्चय और व्यवहार

जैन दर्शन में निश्चय और व्यवहार ये दो शब्द बड़े महत्त्व के हैं। जब तक इन दो शब्दों को न समझ लिया जावे तब तक जैनाचार्यों के कथन का सार अच्छी तरह से समझ में नहीं आ सकता। मोटे रूप में जो वस्तु का सत्य स्वरूप है वह निश्चय है और उस यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति का जो कारण है वह व्यवहार है। जैसे सात तत्त्वों का जो स्वरूप अरहंत ने बतलाया है उसको वैसा का वैसा श्रद्धान करना यह व्यवहार सम्यक् दर्शन है। और परद्रव्यों से हट कर केवल अपनी आत्मा में ही रुचि रखना यह निश्चय सम्यक्दर्शन है। दूसरे शब्दों में व्यवहार निश्चय तक पहुँचने का मार्ग है। गड़बड़ी वहाँ होती है। जब हम व्यवहार को ही निश्चय रूप मान लेते हैं। वैसे उपयोगिता की दृष्टि से व्यवहार को सर्वथा हेय नहीं कहा जा सकता।

—प्र० सम्पादक

□ डा० कमलचन्द सोगाणी
उदयपुर

जीवन चेतना का एक सतत प्रवाह है। इस पृथ्वीतल पर अनन्त चेतनाएं जीवन प्रवाह की गति में प्रवाहशील हैं। उन सब चेतनाओं के भिन्न-भिन्न जीवन स्तर हैं। वह चेतना जो अपनी अन्तिम उच्चतम अवस्था में अवस्थित होकर प्रवाहित हो रही है, अपने अन्तिम लक्ष्य को पा चुकी है जो उसे पाना था वह उसने पा लिया। विकास का उसके लिए अब कोई प्रश्न नहीं है। आनन्द की चरम सीमा उसने प्राप्त कर ली है। अनन्तज्ञान की वह स्वामी हो चुकी है। इसके विपरीत दूसरी चेतनाएं ऐसी हैं जो एक ऐसे तल पर जी रही हैं जहां असीम आनन्द और अनन्त ज्ञान स्वप्नवत प्रतीत होते हैं। जहां इन्द्रियां और इन्द्रियों के विषय ही सब कुछ प्रतीत हो रहे हैं। इन दोनों प्रकार के जीवन प्रवाह में एक अत्यन्त गहरा भेद दृष्टिगोचर होता है। एक तीसरे प्रकार की चेतनाएं और हैं जो यद्यपि शरीर तल पर जी रही हैं पर जो चेतनानन्द और उसके सहगामी अनन्तज्ञान की ओर उन्मुख हो चुकी हैं। उन्हें भान हो चुका है कि जिस तल पर वे जी रही हैं वह अन्तिम नहीं है। अतः वे अनन्त में छलांग लगाने के लिए सदैव उद्यत हैं। वे ऐसी आत्माएं हैं जिनमें अनन्त के प्रति जागरूकता उत्पन्न हो चुकी है। जैन दर्शन की भाषा में इन्हीं को अन्तरात्मा या सम्यग्दृष्टि कहा गया है। ये आत्माएं एक प्रकार से दो तल पर जी रही हैं। एक तल पर वे अनन्त की ओर उन्मुख हैं तो दूसरे तल पर वे सान्त से सम्बद्ध हैं। उनके जीवन में अनन्त और सान्त का संघर्ष मूर्तिमान हो उठा है, यद्यपि इस संघर्ष में अनन्त की विजय निश्चित है। ऐसी आत्माओं के अनन्त और सान्त तल को ही निश्चय और व्यवहार नाम से कहा जाता है। वे जीते हैं व्यवहार तल पर उन्मुख हो चुके हैं निश्चय की ओर उनके हृदय में निश्चय का पूर्ण गौरव

स्थापित हो चुका है। सम्यग्दृष्टि के लिए व्यवहार एक विवशता है क्योंकि आखिर उसे उस तल से उठकर निश्चय तल में जाना ही है। जीवन को वहां तक ले जाना ही है। ध्यान रहे जीवन के इन दो स्तरों का अनुभव केवल सम्यग्दृष्टि को ही हो सकता है क्योंकि मिथ्यादृष्टि की जीवन में अनन्त के प्रति जागृति का पूर्ण अभाव है। इसीलिए कुन्दकुन्द ने समयसार में कहा है (गाथा नं. 4)।

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स,वि कामभोगबंध कहा ।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥

[सर्व लोक को काम, भोग संबंधी बन्ध की कथा तो सुनने में आ गई है, परिचय में आगई है, और अनुभव में आगई है, इसलिये सुलभ है; किन्तु भिन्न आत्मा का एकत्व होना कभी न तो सुना, न परिचय में आया और न अनुभव में आया, इसलिये एकमात्र वही सुलभ नहीं है]

यह बात कुन्दकुन्द ने उन जीवों को सम्बोधित की है जो केवल शरीरतल पर ही जी रहे हैं। वे चाहते हैं कि मनुष्य इस तल की सीमाओं को जान अनन्त की ओर अग्रसर हो। जैसे सिंह के सर्वथा नहीं जानने वाले पुरुषों को बिल्ली ही सिंह रूप दिखाई देने लग जाती है उसी प्रकार निश्चय नय के स्वरूप से अपरिचित पुरुष के लिए व्यवहार ही निश्चय नय के रूप में दिखाई पड़ने लगता है। उनका समयसार इन्हीं दो दृष्टिकोणों की अभिव्यक्ति है। उनका इन दृष्टिकोणों को मानसिक रूप से समझाने मात्र का ही ध्येय नहीं है। पर वे चाहते हैं कि मनुष्य कोरे मानसिक तल से अनुभव तल पर उतर जाय। इसीलिए उन्होंने समयसार में कहा है—

दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥

[नय पक्ष से रहित जीव समय से प्रतिबद्ध होता हुआ दोनों ही नयों के कथन को मात्र जानता ही है, परन्तु नय पक्ष को किंचित मात्र भी ग्रहण नहीं करता]

जब अनुभव की स्थिति होती है तो नयों का कोई स्थान नहीं रहता। नय एक वस्तु को समझने की मानसिक अवस्था है। अनुभव इस अवस्था के पार जा चुका होता है। लेकिन वही अनुभवी व्यक्ति जब दूसरों को समझाने के लिए उद्यत होता है तब इन दोनों नयों का सहारा अपेक्षित है क्योंकि दूसरा अभी मानसिक तल पर ही है।

प्रश्न यह है कि ये दो नय अध्यात्म के लिए क्यों आवश्यक हैं। उत्तर स्पष्ट है कि मनुष्य अनुभव पर तुरन्त ही छलांग नहीं लगा सकता है। वह शनैः शनैः ही उस ओर अग्रसर हो सकता है। ऐसे समय में निश्चय नय उस दिशासूचक यंत्र की भांति होता है जो सही दिशा में चलने की प्रेरणा देता रहता है और व्यवहार नय को अपने ऊपर हावी नहीं होने देता। व्यवहार को निश्चय का अनुगमन करने वाला बनाये रखता है। कारण इसका यह है कि व्यक्ति जीता व्यवहार तल पर है और यदि उसको निश्चय का आकर्षण न हो तो वह व्यवहार को भी उत्साह पूर्वक नहीं चला सकता क्योंकि जब तक यह पता नहीं है कि कहां जाना है तब तक जाने वाला उद्यम भी क्यों और किस लिए करे। अतः अध्यात्म में एक ऐसा आन्तरिक सुखद संघर्ष वर्तमान रहता है जो बिना इन दो नयों के अभिव्यक्त नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि निश्चय के बिना व्यवहार अन्धा है और व्यवहार के बिना निश्चय कोरा काल्पनिक है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। मानसिक स्तर पर ये दोनों परस्परापेक्ष हैं। हां जैसा कहा जा चुका है अनुभव के स्तर पर न निश्चय है न व्यवहार। इसी बात को आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥

[जो जीव व्यवहार नय और निश्चय नय को वस्तुस्वरूप के द्वारा यथार्थ रूप जानकर मध्यस्थ होता है, वह ही शिष्य उपदेश के सम्पूर्ण फल को प्राप्त होता है]

जैन दर्शन में आकाश द्रव्य का स्वरूप

जैन दर्शन में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छः द्रव्य माने हैं। द्रव्य शब्द की भी जैन दर्शन में अपनी पृथक परिभाषा है। उसके अनुसार प्रत्येक द्रव्य में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीन बातें अवश्य मिलती हैं। आकाश में ये सब गुण हैं लेकिन वे कैसे हैं और आकाश का जैन दर्शन में क्या स्वरूप है तथा दूसरे दार्शनिकों ने जो आकाश का स्वरूप माना है वह क्यों ठीक नहीं है आदि विषयों की महत्वपूर्ण जानकारी पाठकों को विद्वान लेखक के इस निबन्ध में मिलेगी।

—प्र० सम्पादक

□ डा० रमेशचन्द्र जैन
बिजनौर, उ. प्र.

लोक में जीव पुद्गल और शेष समस्त द्रव्यों को जो सम्पूर्ण अवकाश देता है वह आकाश है[1]। इस प्रकार आकाश को जीव और अजीव दोनों द्रव्यों के अवगाह में निमित्त कहा जा सकता है[2]। धर्म, अधर्म, आकाश पुद्गल और काल ये पांच अजीव तत्व हैं[3]। इनसे भिन्न जीव तत्व है। आधेय पदार्थों की अपेक्षा आकाश द्रव्य के भी दो भेद हैं--(1) लोकाकाश (2) अलोकाकाश। जिस आकाश खण्ड में धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल तथा जीव ये पांचों द्रव्य व्याप्त हैं उसे लोकाकाश कहते हैं। अलोकाकाश में ये पांच द्रव्य नहीं हैं[4]। चूंकि इसमें जीवाजीवात्मक अन्य पदार्थ दिखाई नहीं देते अतः यह अलोकाकाश इस नाम से प्रसिद्ध है। गति और स्थिति में कारण धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अभाव होने से अलोकाकाश में जीव और पुद्गल की न गति ही है और न स्थिति ही है। अलोकाकाश के मध्य असंख्यात प्रदेशी तथा लोकाकाश से मिश्रित अनादि लोक है। काल द्रव्य तथा अपने अवान्तर विस्तार सहित अन्य समस्त पंचास्तिकाय चूंकि इसमें दिखाई देते हैं, इसलिए यह लोक कहलाता है[5]। लोक, अलोक की एक अन्य परिभाषा उपलब्ध होती है—जो अनन्त अलोकाकाश के मध्य स्थित है तथा जहां बन्ध और मोक्ष का फल भोगा जाता है उसे लोक कहते हैं। इस लोक के ऊर्ध्व, मध्य

1. सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च।
जं देदि विवरमखिलं तं लोगे हवदि आगासं॥
कुन्दकुन्दः पंचास्तिकाय गाथा 90
2. नभोऽवगाहहेतुस्तु जीवाजीवद्वयोस्तथा॥ जिनसेन हरिवंश पुराण 58156
3. धर्मा धर्मौ तथाकाशं पुद्गलाः काल एव च।
पञ्चाप्य जीव तत्वानि सम्यग्दर्शनगोचराः॥ हरि० 58153
4. जटासिंहनन्दि वराङ्ग चरित 26:31-32
5. हरिवंशपुराण 412-5

और पाताल के भेद से तीन भेद हैं, लोक के बाहर जो आकाश है उसे अलोक कहते हैं[6]।

जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म (तथा काल) लोक से अनन्य हैं। अन्तरहित आकाश लोक से अनन्य भी है तथा अन्य भी है[7]। इसका तात्पर्य यह है कि लोक के बाहर जो आकाश है वह लोक से अन्य है और लोक में जो आकाश है वह उससे अनन्य है। आकाश के अनन्त प्रदेश हैं[8]। प्रदेशों की यह संख्या लोकाकाश और अलोकाकाश दोनों को मिलाकर बतलाई गई है। अकेले लोकाकाश के तो धर्म, अधर्म अथवा एक जीव द्रव्य के प्रदेशों के बराबर अर्थात् असंख्यात ही प्रदेश हैं[9]।

शङ्का—अनन्त होने से आकाश अज्ञेय है। यदि अनन्त को सर्वज्ञ ने जाना है तो अनन्त का ज्ञान के द्वारा अन्त जान लेने पर अनन्तता नहीं रहेगी और यदि नहीं जाना है तो सर्वज्ञता नहीं रहेगी।

समाधान—आकाश अतिशय ज्ञानशाली सर्वज्ञ के द्वारा दृष्ट होता है। सर्वज्ञ का क्षायिकज्ञान अनन्तानन्त है, उसके द्वारा अनन्त का अनन्त के रूप में ही ज्ञान हो जाता है। अन्य लोग सर्वज्ञ के उपदेश से तथा अनुमान से अनन्तता का ज्ञान कर लेते हैं। सर्वज्ञ ने अनन्त को अनन्तरूप से ही जाना है अतः मात्र सर्वज्ञ के द्वारा ज्ञात होने से उसमें सान्तत्व नहीं आ सकता। प्रायः सभी वादी अनन्त भी मानते हैं और सर्वज्ञ भी। बौद्ध लोक-धातुओं को अनन्त कहते हैं। वैशेषिक दिशा, काल, आकाश और आत्मा को सर्वगत होने से अनन्त कहते हैं। सांख्य प्रकृति और पुरुष को सर्वगत होने से अनन्त कहते हैं। इन सबका परिज्ञान होने मात्र से सान्तता नहीं हो सकती। अतः अनन्त होने से अपरिज्ञान का दोष ठीक नहीं है। यदि अनन्त होने से पदार्थ को अज्ञेय कहा जायगा तो सर्वज्ञ का अभाव हो जायगा; क्योंकि ज्ञेय अनन्त हैं अतः कोई उनको जान ही नहीं सकेगा। यदि पदार्थों को सान्त माना जाता है तो संसार और मोक्ष दोनों का लोप हो जायगा। यदि जीवों को सान्त माना जाता है तो जब सब जीव मोक्ष चले जायेंगे तो संसार का उच्छेद हो जायगा। यदि संसारोच्छेद के भय से मुक्त जीवों का पुनः संसार में आगमन माना जाय तो मोक्ष का भी उच्छेद हो जायगा। एक एक जीव में कर्म और नोकर्म पुद्गल अनन्त हैं। यदि उन्हें सान्त माना जाय तो भी संसार और मोक्ष दोनों का उच्छेद हो जायगा। इसी तरह अतीत और अनागतकाल को सान्त माना जाय तो पहिले और बाद में कालव्यवहार का अभाव ही हो जायगा। पर यह युक्ति संगत नहीं है; क्योंकि असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश दोनों ही अयुक्तिक हैं। इसी तरह आकाश को सान्त मानने पर उससे आगे कोई ठोस पदार्थ मानना होगा। यदि नहीं तो आकाश ही आकाश मानने पर सान्तता नहीं रहेगी[10]।

---

6. बन्धमोक्षफलं यत्र भुज्यते तद् त्रिधाकृतम्।
   अन्तः स्थितं जगौ लोकमलोकं च बहिः स्थितम्॥ हरि. 2 110
7. जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदोणण्णा।
   तत्तो अणण्णमण्णं आयासं अन्तवदिरित्तं॥
   कुन्दकुन्दः पंचास्तिकाय गाथा 91
8. आकाशस्यानन्ताः॥ तत्वार्थसूत्र 519
9. लोकालोकाकाशस्यानन्ताः प्रदेशा। लोकाकाशस्य तु धर्माधर्मैक जीवतुल्या—उमास्वातिःतत्वार्थाधिगम भाष्य 519
10. अकलङ्कदेव : तत्वार्थवार्तिक 51913—5

शङ्का—जिस प्रकार आकाश अवकाश देता है उसी प्रकार इसे गति और स्थिति का भी हेतु मान लो तो क्या हानि है ?

समाधान—यदि ऐसा मानोगे तो ऊर्ध्वगति प्रधान सिद्ध भगवान् लोक के अन्त में स्थित नहीं रहेंगे। इसके अतिरिक्त आकाश जीव पुद्गलों की गति और स्थिति का हेतु हो तो अलोक की हानि का और लोक के अंत की वृद्धि का प्रसंग आयगा[11]। इस प्रकार यदि लोक और अलोक की सीमा की व्यवस्था मानना है तो आकाश को गति और स्थिति का हेतु नहीं माना जा सकता[12]।

शङ्का—जैसे धर्मादि द्रव्यों का लोकाकाश आधार है उसी प्रकार आकाश का भी आधार होना चाहिए ?

समाधान—धर्मादि द्रव्यों का जैसे लोकाकाश आधार है उस तरह आकाश का अन्य आधार नहीं है, क्योंकि उससे बड़ा दूसरा द्रव्य नहीं है जिसमें आकाश आधेय बन सके। अतः सर्वतः अनन्त यह आकाश स्वप्रतिष्ठ है। इस तरह अनवस्था दोष भी नहीं आता। आकाश का अन्य आधार, उसका अन्य उसका भी अन्य आधार मानने में अनवस्था होती है। एवंभूतनय की दृष्टि से देखा जाय तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित ही हैं, इनमें आधाराधेय भाव नहीं है। व्यवहार से ही आधाराधेय भाव की कल्पना होती है। व्यवहार से ही वायु के लिए आकाश, जल को वायु, पृथ्वी को जल, सब जीवों को पृथ्वी, जीव के लिए अजीव, अजीव के लिए जीव, कर्म के लिये जीव, जीव के लिए कर्म तथा धर्म, अधर्म और काल के लिए आकाश आधार माना जाता है। परमार्थ से आकाश की तरह वायु आदि भी स्वप्रतिष्ठ ही हैं[13]।

शङ्का—सूक्ष्म पुद्गल परस्पर अवकाश देते हैं। अतः अवकाश देना आकाश का असाधारण लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि दूसरे पदार्थों में भी इसका सद्भाव पाया जाता है।

समाधान—आकाश द्रव्य सब पदार्थों को अवकाश देने में साधारण कारण है। यही इसका असाधारण लक्षण है इसलिए कोई दोष नहीं है[14]। अलोकाकाश में यद्यपि अवगाही पदार्थ नहीं हैं तो भी आकाश का अवगाहदान स्वभाव वहां भी विद्यमान है। जैसे जल में अवगाहन करने वाले हंस आदि के अभाव में भी अवगाह देना स्वभाव बना रहता है[15]।

एक परमाणु जितने आकाश प्रदेश में रहता है उतने आकाश को आकाश प्रदेश के नाम से कहा गया है और वह समस्त परमाणुओं को अवकाश देने में समर्थ है[16]।

शङ्का—आकाश अविभागी एक द्रव्य है, उसमें अंशकल्पना नहीं हो सकती ?

---

11. पंचास्तिकाय गाथा 92–94
12. आकाशस्य गतिस्थितिहेतुत्वाभावे हेतूपन्यासोऽयम् ।
    नाकाशं गतिस्थितिहेतुः लोकालोकसीमव्यवस्थायास्तथोपपत्तेः ।
    —अमृतचन्द्राचार्यः पंचास्तिकाय गाथा 94 की समय व्याख्या ।
13. तत्वार्थवार्तिक 5।12।2–6
14. पूज्यपादःसर्वार्थसिद्धि व्याख्या 3।18
15. अकलङ्कदेव: तत्वार्थवार्तिक 5।18।8-9
16. आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं ।
    सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं ।।
    कुन्दकुन्दः प्रवचनसार गाथा 140

समाधान—आकाश एक द्रव्य है, फिर भी उसमें अंशकल्पना हो सकती है; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो सर्वपरमाणुओं को अवकाश देना नहीं बन सकता। ऐसा होने पर भी यदि आकाश के अंश नहीं होते ऐसी किसी की मान्यता हो तो आकाश में दो अंगुलियां फैलाकर बताइये कि दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है या अनेक? यदि एक है तो प्रश्न होता है कि आकाश अभिन्न अंशों वाला अविभागी एक द्रव्य है इसलिए दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है या भिन्न अंशों वाला एक द्रव्य है, इसलिए? यदि आकाश अभिन्न अंशों वाला अविभाग एक द्रव्य है इसलिए दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है ऐसा कहा जाय तो जो अंश एक अंगुली का क्षेत्र है वही अंश दूसरी अंगुली का भी है, इसलिए दो में से एक अंश का अभाव हो गया। इस प्रकार दो इत्यादि अंशों का अभाव होने से आकाश परमाणु की भांति प्रदेशमात्र सिद्ध हुआ। यदि यह कहा जाय कि आकाश भिन्न अंशों वाला अविभाग एक द्रव्य है तो अविभाग एक द्रव्य में अंशकल्पना फलित हुई।

यदि यह कहा जाय कि दो अंगुलियों के अनेक क्षेत्र हैं तो प्रश्न होता है कि आकाश सविभाग अनेक द्रव्य है इसलिए दो अंगुलियों के अनेक क्षेत्र हैं या आकाश अविभाग एक द्रव्य होने पर भी दो अंगुलियों के अनेक क्षेत्र हैं। यदि आकाश सविभाग अनेक द्रव्य होने से दो अंगुलियों के अनेक क्षेत्र हैं ऐसा माना जाय तो आकाश जो कि एक द्रव्य है उसे अनन्त द्रव्यत्व आ जायगा। यदि आकाश अविभागी एक द्रव्य होने से दो अंगुलियों का अनेक क्षेत्र है ऐसा माना जाय तो यह योग्य ही है, क्योंकि अविभाग एक द्रव्य में अंशकल्पना फलित हुई।[17]

शङ्का—आकाश का खरविषाण की तरह अभाव है क्योंकि वह उत्पन्न नहीं हुआ है?

समाधान आकाश को अनुत्पन्न कहना असिद्ध है क्योंकि द्रव्यार्थिक की गौणता और पर्यायार्थिक की मुख्यता होने पर अगुरुलघु गुणों की वृद्धि और हानि के निमित्त से स्वप्रत्यय उत्पाद व्यय और अवगाहक जीव पुद्गलों के परिणमन के अनुसार पर प्रत्यय उत्पाद व्यय आकाश में होते ही रहते हैं। जैसे कि अन्तिम समय में असर्वज्ञता का विनाश होकर किसी मनुष्य को सर्वज्ञता उत्पन्न हुई तो जो आकाश पहिले अनुपलभ्य था वही पीछे सर्वज्ञ को उपलभ्य हो गया, अतः आकाश भी अनुपलभ्यत्वेन विनष्ट होकर उपलभ्यत्वेन उत्पन्न हुआ। इस तरह उसमें पर प्रत्यय भी उत्पाद-विनाश होते रहते हैं। खरविषाण भी ज्ञान और शब्द रूप से उत्पन्न होता है तथा अस्तित्व में भी है, अतः दृष्टान्त साध्य साधन उभयधर्म से शून्य है। कोई जीव जो पहिले खर था, मरकर गौ उत्पन्न हुआ और उसके सींग निकल आये। ऐसी दशा में एक जीव की अपेक्षा अर्थ रूप से भी 'खरविषाण' प्रयोग हो ही जाता है। अतः आकाश का अभाव नहीं किया जा सकता[18]।

बौद्ध दर्शन में आकाश को आवरणाभाव माना है तथा उसे असंस्कृत धर्मों (जिनमें उत्पाद विनाश नहीं होता) में गिनाया है[19]। जैन दर्शन में आकाश को आवरण भाव मात्र नहीं माना है अपितु वस्तु भूत माना है। बौद्धों के यहां जैसे नाम और वेदना आदि अमूर्त होने से अनावरण रूप होकर भी सत् हैं उसी प्रकार जैनदर्शन में आकाश भी सत् है[20]।

17. प्रवचनसार गाथा 140 व्याख्याकार अमृतचन्द्राचार्य।
18. अकलङ्कदेव: तत्त्वार्थवार्तिक 5।18।10
19. बलदेव उपाध्याय: बौद्धदर्शन पृ० 239
20. तत्त्वार्थवार्तिक 5।18।10

सांख्य आकाश को प्रधान का विकार मानते हैं। उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि नित्य, निष्क्रिय और अमूर्त प्रधान के आत्मा की तरह विकार ही नहीं हो सकता, न उसका आविर्भाव ही हो सकता है और न तिरोभाव ही। सांख्यों ने प्रधान को सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों की साम्य अवस्था रूप माना है। उसमें उत्पादक स्वभावता है, इसी के विकार महत् आदि होते हैं। आकाश भी उसी का विकार है। सांख्यों का यह कथन अयुक्त है क्योंकि जिस प्रकार घड़ा प्रधान का विकार होकर अनित्य मूर्त और असर्वगत है उसी तरह आकाश में भी होना चाहिए। या फिर आकाश की तरह घट को नित्य अमूर्त और सर्वगत होना चाहिए। एक कारण से दो परस्पर विरोधी विकार नहीं हो सकते[21]।

श्रमण भगवान महावीर

श्री भंवरलाल नाहटा
बीकानेर

वीर प्रभु जगतारक की पद धूलि धार हुई धन्य धरा,
क्षत्रियकुण्ड नरेश्वर का घर धान्य स्वर्ण से खूब भरा।
धन्य धन्य त्रिशाला माता जिसने जाया तीर्थंकर को,
शरणस्थल मात्र मुमुक्षु के वे वर्द्धमान जग हितकर सो ॥१॥
चैत्र सुदि तेरस जन्मे छप्पन दिशिकुमरी मिल आई,
चौसठ इन्द्रों ने मेरु शिखर ले जाकर पाण्डुशिला ठाई।
अभिषेक सहन कैसे होगा ? शक्रेन्द्र चित्त में है शंकित,
जान प्रभु ने वाम पैर अंगुष्ठ चांप गिरि कृत कम्पित ॥२॥
आमल क्रीड़ा में जीत देव महावीर नाम सम्प्राप्त किया,
पटशाला में शक्रेन्द्र प्रश्न जैनेन्द्र व्याकरण नाम दिया।
मात पिता के भक्त आप करुणामूर्ति संकल्प किया,
विद्यमानता में इनके नहीं गृह त्यागूं अहो ! धन्य हिया ॥३॥
भ्राता नन्दीवर्द्धन आग्रह दो वर्ष और गृहवास रहे,
देकर संवत्सर दान अनर्गल लो इच्छित ये शब्द कहे।
अगहन दशमी था कृष्णपक्ष हो श्रमण शीघ्र वनवास लिया,
बन दीर्घ तपस्वी और अकिंचन योग ध्यान में चित्त दिया ॥४॥

21. वही 5।18।13

खीर पकाई ग्वाले ने प्रक्षेप कूप में घोर बना,
संयम ने चिर कष्ट दिये पर अडिग मेरुसम धीर घना।
चण्ड दृष्टि विषधर कौशिक का दंश दुग्ध धारा प्रवही,
बुज्झ! बुज्झ! इन शब्दों से प्रतिबोधित अष्टम स्वर्ग लही ॥५॥
शूलपाणि देवगृह में सह परिषह प्रभु उत्तीर्ण बने,
कानों में कीले ग्वाले ने ठोके तो भी समभाव घने।
तेजोलेश्या से दग्धमान संरक्षण कृत गोशालक के,
दुष्टों पर भी करुणा करते प्रभु भावदया के धारक थे ॥६॥
छः चारमास दो एक मास पक्ष क्षमणादि उपवासी,
अभिग्रह धर के विचरे चन्दन बाला ने पारे कुलमाषी।
वैशाख शुक्ल दश ऋजुवालु तटिनी तट में श्यामाक खेत,
गोदोहन मुद्रा में बैठे कर घाति कर्मक्षय, ध्यान श्वेत ॥७॥
आ महासेन वन पावा में प्रभु तीर्थ प्रवर्त्तन आप किया,
ग्यारह गणधर को चार हजार चार सौ सहचारित्र दिया।
इन्द्रभूति गौतम स्वामी थे लब्धिवंत गुरु भक्त गुणी,
चन्दनबाला छत्तीस सहस आर्यागण में थी मुख्य सुणी ॥८॥
सार्द्ध लक्ष नव सहस श्राद्ध आनन्द कामदेव पुणिया थे,
लक्ष तीन अठारह सहस संख्य सुलसा जयन्ती श्राविकाएं।
दशार्ण शालिभद्रादिक ने दीक्षित हो आत्मोद्धार किया,
लघुवय अतिमुक्तक ने भी पा कैवल्य चमत्कृत लोक किया ॥९॥
श्रेणिक कोणिक चेड़ा राजा उदयन नन्दीवर्द्धन भ्राता,
भक्त अनेकों नरपतिगण थे भारत भू के विख्याता।
स्याद्वाद कर्म सिद्धान्त अहिंसा अध्यातम रस से पूरित,
वाणी जिनकी फैली जग में दर्शन ज्ञान चरण संयुत ॥१०॥
द्विसप्तति वर्षायु में चौमास पावापुर में आये,
हस्तिपाल रज्जुगशाला अष्टादश नृप पौषध ठाये।
दो दिन व्यापी उपदेश दिया कार्त्तिक अम्मावस रात्री में,
प्रहरान्तिम में प्रभु मोक्ष गए नाग करण अरु स्वाती में ॥११॥
प्रवचन प्रभु का विस्तार जगत में इस शुभ अवसर पर होवे,
सार्द्ध द्वय सहस संवत्सर का उत्सव सब पापों को धोवे।
सुखी बनें सब ही प्राणी प्रभु नाम हमें सुख दायक हो,
'भंवर' कामना मात्र यही जय जय जय शासन नायक हो ॥१२॥

इस रचना के लेखक पं. परमेष्ठीदासजी प्राचीन पीढ़ी के उन विद्वानों में से हैं जिन्होंने बिना किसी विरोध की चिन्ता किए साहसपूर्वक भगवान महावीर के उपदेशों के सार्वजनीन रूप को लोगों के समक्ष रखा। बहुत वर्षों पहले छपी 'जैन धर्म की उदारता' नामक पुस्तक आज भी भगवान महावीर के इस सिद्धान्त को शास्त्रीय प्रमाणों के साथ जनता के समक्ष रखने वाली उंगलियों पर गिनी जाने वाली पुस्तकों में से एक है। आज कल वे अस्वस्थ हैं और लिखना प्रायः उन्होंने बन्द कर रखा है किन्तु जब मैंने अपनी आवश्यकता बताते हुए उनसे कुछ महत्वपूर्ण जानकारी चाही तो उन्होंने न केवल वह जानकारी ही मुझे भेजी अपितु अपनी एक रचना भी मुझे उत्साहित करते हुए लिख भेजी। जिसे यहां प्रकाशित की जा रही है, उनके इस उत्साह, प्रेरणा एवं सहयोग के लिए मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूं।

—प्र. सम्पादक

भगवान महावीर की परम्परा में—
सर्वहितंकर उपदेश

☐ श्री पं० परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ

भगवान महावीर की 25वीं निर्वाणशती के सन्दर्भ में पर्याप्त साहित्यसृजन एवं सिद्धान्त निरूपण हुआ है। उसमें से जब हम भगवान महावीर के विविध कल्याणकारी सिद्धान्तों और उनके सार्वजनीन उपदेशों पर दृष्टिपात करते हैं, तो ऐसा लगता है कि ढाई हजार वर्ष पूर्व भी जो मानव-मन या मानव-वृत्तियां अथवा मानवों की समस्यायें थी, वे आज भी विद्यमान हैं। यही कारण है कि भगवान महावीर ने तब जो उपदेश अथवा सन्देश दिये थे उन्हीं को उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने प्रकारान्तर से ग्रंथबद्ध किया था और जब हम आज के सन्दर्भ में उन उपदेशों को देखते हैं तो लगता है कि वे ही उपदेश आज भी मानव कल्याण के लिये ज्यों के त्यों उपयोगी एवं कल्याणप्रद हैं।

जैसे वर्तमान में सम्पत्ति संग्रह, स्मगलिंग, टैक्सचोरी और सम्मिश्रण (मिलावट) आदि की सर्वत्र चर्चा है, तथा इन अनाचारों से सरकार और प्रजा परेशान है, इस सबका प्रबल विरोध करते हुए जैनाचार्यों ने दो हजार वर्ष पूर्व भी कहा था—

1. स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः।

—तत्वार्थसूत्र 7–27 (आचार्य उमास्वामि)

अर्थात् चोरी के लिये चोर को प्रेरणा करना या चोरी के उपाय बताना, चुराई हुई वस्तु को खरीदना, राज्य की आज्ञा के विरुद्ध चलना (जैसे निषिद्ध वस्तुओं का चोरी छुपी से आयात-निर्यात करना अथवा चुंगी नाका-बैरियर आदि को चोरी से पार कर जाना) नाप–तौल में कम–बढ़ करना (किलो और सेर अथवा

मीटर और गज के नाप-तौल में मनमानी गड़बड़ी करना), तथा मिलावट करना, इत्यादि सब पापाचार है। जो इन अतिचारों से बचकर चलता है वही व्रती है, वही भला नागरिक है।

विक्रम संवत् दूसरी शताब्दी में आचार्य उमास्वामी ने अपनी सर्वोच्च रचना तत्वार्थ सूत्र में उपर्युक्त सूत्र लिखा था। विवेकी पाठक देखें कि लगभग दो हजार वर्ष पूर्व उपदिष्ट चर्चा आज भी ज्यों की त्यों कैसी और कितनी घटित है। आज के वातावरण में इस सूत्र का तदनुरूप भाष्य करके देखें तो ज्ञात होगा कि–आज कैसे कैसे चोरी के प्रयोग हो रहे हैं? आयात-निर्यात के लिये कैसे और कितने प्रकार से राजकीय नियमों का चतुराई से उल्लंघन किया जाता है? चोरी का माल कैसे खपाया जा रहा है? और नाप-तौल तथा मिलावट की कितनी कैसे गड़बड़ियां चल रही हैं? स्मगलिंग और स्मगलरों की पकड़ा-धकड़ी या छापामार योजना इसका जीवित प्रमाण है।

यदि भगवान महावीर के कल्याणप्रद सन्देशों और उत्तरवर्ती जैनाचार्यों के उपदेशों को प्रचारित किया जाय, तथा मानव-मन में पाप का भय जाग्रत करके धर्मामृत का पान कराया जाय तो वैसे ही सुफल दृष्टिगोचर हो सकते हैं, जैसे भयंकरतम डाकुओं का मन परिवर्तित करके उन्हें 'धम्मं शरणं गच्छामि' का पाठ पढ़ाया गया, और आज डाकु ग्रस्त क्षेत्र के लोग शान्ति एवं अभय के वातावरण में जी रहे हैं।

तत्वार्थसूत्र के ऊपर के सूत्र की भांति ही भगवान महावीर के शासनानुयायी जैनाचार्यों ने मानवचरित्र को समुज्वल बनाने के लिये "अहिंसासत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहः" का उपदेश दिया था और श्री अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में परिग्रह अथवा लोभ को हिंसा का ही पर्यायवाची बतलाया था (हिंसायाः पर्यायो लोभः) और इस प्रकार परिग्रह को भी हिंसा का ही रूपान्तर कहकर उसके त्यागने का उपदेश दिया था। आचार्य उमास्वामी ने "मूर्छा परिग्रहः" सूत्र द्वारा केवल बाहर के तामझाम को ही नहीं, अपितु अन्तरंग ममत्व-भाव को मूर्छा कहा है (मूर्छा तु ममत्व-परिणामः) इस प्रकार बाह्य पदार्थों के प्रति आन्तरिक लालसा को परिग्रह कहा है, पाप कहा है, त्याज्य कहा है।

यही कारण है कि गृहस्थाचार के निर्वाह के लिये परिग्रह का परिमाण करने की बात कही गई है। और श्री समन्तभद्राचार्य ने "परिमितपरिग्रह स्यात्" के द्वारा अनिवार्य आवश्यक वस्तुओं की मर्यादा करके और अधिक में वांछा का त्याग (ततोऽधिकेषु निस्पृहता) करने की बात कही है। इसी बात को सं० 1891 में पं० दौलतरामजी ने अपनी सर्वोच्च कृति-छहढाला में यों कहा था—

"अपनी शक्ति विचार परिग्रह थोरो राखै।"

इस प्रकार अपनी यथार्थ आवश्यकताओं को देखते हुए कम से कम परिग्रह रखने की बात कही गई है। और उस परिग्रह परिमाण व्रत के बाहर किसी भी प्रकार की चाह, ममत्व, लालसा या लोभ का भाव मन में नहीं आने देना चाहिये। जैन पूजा में 'लोभ पाप को बाप बखानो' कहकर लोभ या परिग्रह को 'पाप का बाप' बतलाया है। क्योंकि युद्ध, आक्रमण, अन्याय और अत्याचार, लोभ, लालसा या परिग्रह की तृष्णावश ही होते हैं। इसलिये वह पाप का बाप अथवा पाप का मूल कारण है।

जहां परिग्रह का परिमाण नहीं किया जाता वहां निरन्तर सम्पत्ति को बढ़ाने की लालसा बढ़ती जाती है, और यों समग्र जीवन हाय तोबा में व्यतीत होता है। अपरिमित सम्पत्ति के कारण मन निरन्तर आकुलित रहता है। सरकारी छापे का भय बना रहता है और संचित सम्पत्ति का खुलकर उपयोग भी नहीं कर पाते। हमारा धर्म ही नहीं, अपितु सरकार की छापामार प्रवृत्ति भी

हमें परिग्रह का परिमाण करने के लिए प्रेरित कर रही है।

जैनाचार्यों ने कहा है कि-धन सम्पत्ति, मकान और वस्त्राभूषणादि परिग्रहों का यथावश्यक परिमाण करो, तथा अपनी कृतमर्यादा से अधिक जो न्यायपूर्वक अर्जित हो, वह दूसरों के हित में अर्पित कर दो। यही सद्-गृहस्थ का धर्माचार है। अपरिग्रह, अचौर्य और अहिंसादि व्रतों की शुद्धि के लिये यह भी आवश्यक है कि व्रती व्यक्ति किसी प्रकार की शल्य नहीं रखे। सभी प्रकार के छल-कपट या दिखावे का त्याग करे, दान आदि देकर प्रतिफल की आकांक्षा नहीं रखे और आत्मश्रद्धा को सुदृढ़ बनाये रखे। क्योंकि मानसिक स्थिति स्वच्छ रखकर ही धर्म हो सकता है। इस प्रकार अन्तरंग-बहिरंग शुद्धिपूर्वक किया गया व्रत, धर्म अथवा त्याग आदि ही वास्तविक धर्म कहा गया है।

यही कारण है कि जैनाचार्यों ने अहिंसादि व्रतों की रक्षा के लिये वध, बंधन तथा पशुओं पर अधिक भार लादने का भी निषेध किया है, गलत दस्तावेज लिखने लिखाने का और धरोहर आदि के व्यवहार में गड़बड़ी करने को भी अपराध कहा है तथा कुत्सित जीवन की भर्त्सना करते हुए निर्मल जीवन जीने का उपदेश दिया है।

साथ ही प्राणी मात्र पर मैत्री भाव, विद्वज्जनों के प्रति प्रीतिभाव तथा संकटापन्न प्राणियों के प्रति कृपाभाव करके उनकी सहायता करने एवं अपने विरोधी के प्रति माध्यस्थभाव रखने का उपदेश दिया है। साथ ही मानव समाज के योग क्षेम (क्षेमं सर्व प्रजानां) की भावना भाने की बात कहकर विश्वबंधुत्व या विश्वकल्याणकारिता का उपदेश दिया है। इस प्रकार भगवान महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा में वह उपदेश, आदेश या सन्देश दिये गये थे, जो आधुनिक युग में पहले से भी अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं। यदि हम उनपर चल सकें तो हमारी समाज या हमारा देश ही नहीं, अपितु अखिल विश्व सुख, शान्ति और निराकुलतापूर्वक रह सकता है।

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
राग से व्यक्ति कर्मों को बांधता है, राग-रहित हो कर्मों से छूटता है।

विसए विरत्त चित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं।
विषयों से विरक्त चित्त वाला योगी आत्मा को जान लेता है।

पुरिसा, अत्ताणमेव अभिनिगिज्झ, एवं दुक्खा पमोक्खसि।
हे मानव, तू अपनी आत्मा को ही वश में कर, जिससे तू सभी दुःखों से छूट जाय।

पथानुगामी-पुष्पक

□ श्री निहालचन्द जैन
व्याख्याता, नौगांव

जिनके हिय गागर में
करुणा का सागर आलोड़ित
लहरों सा आमन्त्रण देती पलकें जिनकी।
वे कल्याण-पयूषी पलकें—

अभिजात्य वर्ग का दर्द समेटे,
जब भी अर्ध निमीलित होती,
संतप्त-सृष्टि के शिशु को,
थपकी बन प्यार लुटातीं।

पलकों की वह दिव्य-दृष्टि,
बन नेह निमंत्रण-
अशुभ अमंगल में भी शुभ को,
शुभ में शुद्ध
शुद्ध में सोऽहं खोजा करतीं।

युग चेता मृत्युञ्जयी-
तुम हो शाश्वत,
वीतराग पथ के अभिनेता।

भारत की चन्दन-माटी का,
नमन तुम्हें महावीर।
सत्य, अहिंसा, करुणा की-
जीवन्त तेरी तस्वीर।

प्रथमानुयोग का उद्देश्य महापुरुषों के चरित्र एवं अन्य कथाओं के माध्यम से लोगों को धर्म के प्रति रुचि जागृत कर सत्पथ का प्रदर्शन करना है क्योंकि मानव अज्ञातकाल से कथाप्रिय रहा है। पता नहीं कब से वह नानी की कहानियां सुनता रहा है। निश्चय ही इनमें बहुत से वर्णन अलंकार प्रधान होते हैं और उन्हें वैसे का वैसा स्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु इन पुराणों में प्रसंगरूप से महापुरुषों और तीर्थंङ्करों के मुख से जो धर्मोपदेश कहलवाया जाता है वह वही है जिसका प्रतिपादन आदिनाथ से लेकर महावीर पर्यन्त होने वाले तीर्थंङ्करों ने किया। आ० हेमविजय का पार्श्वनाथ चरित्र भी एक ऐसा ही चरित्र ग्रन्थ है। उसमें चार्वाकमत के खण्डनपूर्वक जो आत्मतत्व की सिद्धि की गई है एवं अन्य दार्शनिक पक्ष प्रस्तुत किया गया है वह कितना रोचक है हमारे इस कथन की सत्यता जांचिए विद्वान् लेखक की इस रचना से।

—प्र० सम्पादक

पार्श्वनाथ चरित का दार्शनिक पक्ष

☐ डा० सत्यव्रत
श्रीगंगानगर

अधिकांश जैन साहित्य दीक्षित साधुओं की रचना है, जिनकी साधना का एक लक्ष्य आर्हत धर्म एवं दर्शन का बोधगम्य शैली में प्रतिपादन करके उसे जनग्राह्य बनाना था। काव्य, कथा आदि के प्रति जनसामान्य की अधिक प्रवृत्ति होने के कारण जैन विद्वानों ने अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये इन साहित्यांगों का भरपूर उपयोग किया है। प्रायः सभी पौराणिक काव्यों में प्रसंगवश जैन दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है, जिससे काव्यरसिक सहृदय भी अनायास उससे अवगत हो सकें। हेमविजय-कृत पार्श्वनाथ चरित्र के दर्शन की विशेषता यह है कि यह कदाचित् एक मात्र जैन काव्य है जिसमें चार्वाक दर्शन की प्रमुख मान्यताओं पर भी कुछ विस्तार से विचार किया गया है। इस पृष्ठभूमि में कि छिटपुट उल्लेखों अथवा उद्धरणों के अतिरिक्त भारतीय साहित्य में केवल सर्वदर्शन संग्रह में ही चार्वाक दर्शन का स्वतन्त्र क्रमबद्ध विवेचन हुआ है, पार्श्वनाथ चरित्र के इस प्रकरण का महत्व निर्विवाद है।

आत्मा-विषयक शास्त्रार्थ के अन्तर्गत मुनि लोकचन्द्र द्वारा निरूपित जैन दृष्टिकोण के प्रतिवाद में 'आत्ममतध्वंसी' कुबेर आत्मा के सम्बन्ध में चार्वाक दर्शन की मान्यता प्रस्तुत करता है। चार्वाक के अनुसार आत्मा आकाशकुसुम की भांति कोई वस्तु नहीं है। मनुष्य में चेतना पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश नामक पंचभूतों के संयोग से प्रादुर्भूत होती है और उनके नष्ट होने पर मेघमाला के समान

सहसा विलीन हो जाती है।[1] देह से पृथक् आत्मा की सत्ता नहीं है। अतः शरीरान्तके पश्चात् उसके देहान्तर में संक्रान्त होने अथवा परलोक जाने का प्रश्न ही नहीं। जब शरीर से स्वतन्त्र आत्मा का अस्तित्व नहीं है, तो शरीर को छोड़कर परलोक कौन जाएगा ? निस्सन्देह आत्मा का परलोक गमन वन्ध्या के पुत्र के समान है। चेतना आत्मा का गुण नहीं है। वह भूत (चतुष्टय) से शरीर में उत्पन्न होती है। कुबेर के कथन का तात्पर्य स्पष्टत यह है कि देह ही आत्मा है।[2] प्रत्यक्ष से भिन्न ज्ञान के अन्य साधनों को अस्वीकार करने वाले चिन्तक के लिए यह मानना स्वाभाविक था। इसीलिये चार्वाक दर्शन ने मनुष्य को विषय-भोग की अबाध स्वच्छन्दता दी है।[3]

देह को आत्मा मानकर आत्मा को पुण्य-पाप का कर्ता अथवा भोक्ता मानना कदापि सम्भव नहीं। चार्वाक का निर्भ्रान्त मत है कि आत्मा धर्म और अधर्म विधि का कर्ता नहीं है क्योंकि धर्माधर्म का शुभाशुभ फल दिखाई नहीं देता और फलाभाव के कारण उनकी सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। वह शश के सींग की तरह असम्भव है। यदि पुण्य और पाप का फल मनुष्य को मिलता, तो संयमधन तपस्वी विशाल साम्राज्य तथा दुर्लभ वैभव के अधिपति होते और मांसाहार से शरीर का पोषण करने वाले हिंसक रंक बनते। वस्तुतः पुण्य-पाप का कोई फल नहीं है। मणियों ने कौन से सुकृत किये हैं जो वे राजाओं के मस्तक पर विराजती हैं। हृष्ट-पुष्ट सुन्दर काया में स्थित मल ने क्या पाप किया कि उसे घृणापूर्वक बहिष्कृत किया जाता है।

आत्मा जैसे कर्ता नहीं वैसे ही वह अपने कर्म की भोक्ता भी नहीं है। यह मान्यता सर्वथा असंगत है कि मनुष्य को कर्म के अनुसार फल की प्राप्ति होती है। इन्द्रधनुष को किन सत्कर्मों के कारण मनमोहक सौन्दर्य मिला है ?

चार्वाक का आग्रह है कि जो प्रत्यक्ष है, वही शुभ-अशुभ है अर्थात् प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। इसके अतिरिक्त ज्ञान का कोई अन्य साधन नहीं।

कुबेर के विचार में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि की भांति आत्मा में अन्य गुणों का आरोप करना भी व्यर्थ है। बात यह है कि आत्मा और आरोपित गुणों का सम्बन्ध आधार-आधेय का सम्बन्ध है। जब आधार (आत्मा) ही विद्यमान नहीं है, तो उस पर आधृत आधेय की स्थिति कैसे मान्य हो सकती है ?[4]

उपर्युक्त चार्वाक मत को पूर्व पक्ष मानकर काव्य में, मुनि लोकचन्द्र के प्रत्युत्तर के रूप में, जीव-सम्बन्धी सुविज्ञात जैन विचारधारा का प्रतिपादन किया गया है। चार्वाक का यह कथन कि देह से पृथक् आत्मा की स्थिति नहीं है, निराधार है। जैन दर्शन के अनुसार जीव (आत्मा) का बोध अध्यात्म ज्ञान से होता है। सुख-दुःख की अनुभूति आत्मा के अस्तित्व का निश्चित प्रमाण है, क्योंकि चैतन्य के बिना उनकी संवेदना सम्भव नहीं और

---

1. भूम्यप्तेजोमरुद्व्योम्नः प्रादुर्भवति चेतना। पार्श्वनाथचरित्र, 2।173. यहां पांच भूतों का स्पष्ट उल्लेख है, परन्तु आकाश के अनुमानगम्य होने के कारण चार्वाक दर्शन में चार भूत मान्य हैं। 'तत्र पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्त्वानि, सर्वदर्शन संग्रह, पृ. 4.
2. तुलना कीजिये—तच्चैतन्यविशिष्टदेह आत्मा। देहातिरिक्ते आत्मनि प्रमाणाभावात्।
सर्वदर्शन संग्रह, पृ. 4.
3. निषेव्या विषया नित्यं भोगिभिर्भोगभासुरैः। पार्श्वनाथचरित्र, 2।176
पीयूषन्ति हि तारुण्ये विषया विषयैषिणाम्। वही, 2।157
4. वही, 2।149–186.

चेतना आत्मा का स्वाभाविक गुण है। जड़ शरीर को भूख-प्यास, सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता।[5] प्रत्येक प्राणी अपने शरीर की सत्ता के प्रति सजग है। एक देह को देहान्तर से पृथक करने वाला तत्व आत्मा है। उसके अस्तित्व के बिना विभिन्न शरीरों में विवेक करना सम्भव नहीं। स्वामी के बिना देह, गेह, धन धान्य आदि की स्वतन्त्र स्थिति मान्य नहीं। जब एक प्राणी सुख-दुःख के भोक्ता आत्मतत्व की अनुभूति होती है, तो देहान्तर में उसकी स्थिति का अपलाप कैसे किया जा सकता है।[6] आत्मा का अस्तित्व निर्णीत होने पर उसका परलोक-गमन भी सिद्ध है। पुनर्जन्म में मनुष्य को चेतना की प्राप्ति उसी प्रकार होती है, जैसे उदयकाल में सूर्य को कान्ति पुनः प्राप्त हो जाती है। वही चेतना शैशव, यौवन, वार्धक्य तथा जन्मान्तर में भी निरन्तर वर्तमान रहती है। चेतना के फलस्वरूप ही नवजात शिशु स्वतः स्तनपान करने लगता है। अचेतन पदार्थ से चैतन्य की चेष्टा नहीं हो सकती। कारणों के संयोग के अनुसार ही कार्य की निष्पत्ति होती है। साररूप में चेतना जीव का गुण है, अन्य तत्वों का नहीं। उससे चेतन पदार्थ का अनुमान उसी तरह होता है, जैसे धुएं से आग का। इन तर्कों से चार्वाक के आत्मा विरोधी मत की निस्सारता स्पष्ट है।

चार्वाक ने मणि के बहुमान और मल के अपमान का जो उदाहरण आत्मा के भोक्तृत्व का निषेध करने के लिये दिया है, वह जैन दृष्टि से अनुपयुक्त तथा अमान्य है। ये दोनों पदार्थ जड़ हैं और इस कारण उन्हें सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा पाप-पुण्य का कर्त्ता भी है, और उनके फल का भोक्ता भी। वह स्वकृत कर्मों के अनुसार धर्माधर्म का फल भोगती है। यह आत्मा के कर्म भोग का प्रमाण है कि बाह्य आकार का साम्य होने पर भी मनुष्यों में प्रकाश और अन्धकार के समान महान् अन्तर होता है। किसी को संसार के समस्त वैभव और सुख प्राप्त होते हैं, कोई जीवन-पर्यन्त अभावों और पीड़ाओं से जूझता-जूझता शेष रहता है। आत्मा बन्धन और मोक्ष का भी कारण है। कषायों से पराभूत होकर वह बन्धन की ओर अग्रसर होती है, उनको पराभूत करके वह मोक्ष की दायक बनती है[7]।

कर्म जैन दर्शन का मर्म है। जैन दर्शन में कर्म का स्वरूप अन्य दर्शनों की धारणा से भिन्न है। उसके अनुसार आत्मा की सदसत् प्रवृत्तियों के द्वारा आकृष्ट पुद्गल कर्म है। जो पुद्गल आत्मा (ज्ञान-दर्शन) को आवृत करते हैं, आत्मशक्ति में विघ्न डालते हैं आत्मा को विकृत करते हैं और प्रिय और अप्रिय के निमित्त बनते हैं, वे कर्म कहलाते हैं[8]। आत्मा का पुद्गल आकर्षण कषाय-सापेक्ष है। कषायों की तीव्रता और मन्दता के अनुसार कर्म की तीव्रता और मन्दता निर्धारित होती है। जैन दर्शन की मान्यता है कि कर्म के फल से

5. संवेत्ता सुखदुःखानामात्मैवास्ति तनुर्न हि। यदभावे न शीतोष्णक्षुत्तृषां वेत्ति यद् तनुः !! वही, 2।192
6. शरीरं मामकं चैतद् मतिरेषा वपुष्मताम्। कोऽपि देहान्तरे देही सम्भाव्यो देह भेदभाक्।। वही, 2।189
   विद्यते स्वशरीरे चेदात्माऽसौ सुखदुःखभाक्। परेषामपि कायेऽयं भविता भिन्नविभ्रमः। वही, 2।191
7. द्रष्टव्य पार्श्वनाथ चरित्र, 2।170-171, 188-211
8. आवारका अन्तरायकारकाश्च विकारकाः।
   प्रियाप्रिय-निदानानि पुद्गलाः कर्मसंज्ञिताः !! सम्बोधि, 3।34

बचना कदापि सम्भव नहीं। वह स्वयं रोपा गया वृक्ष है, जिसका फल इच्छा अनिच्छा से चखना ही पड़ता है [9]। पार्श्वनाथ चरित्र में इस तथ्य की बार-बार आवृत्ति की गयी है। प्राणियों के सुख-दुःख, क्षय-वृद्धि, मान-अपमान, हर्ष शोक का निमित्त कुछ और हो सकता है, उनका कारण पूर्वकृत कर्म है[10]।

कर्मों के उदय से आत्मा वैभाविक दशा को प्राप्त होती है और उनके क्षय से स्वभाव की ओर अग्रसर होती है। कर्मों का जब पूर्ण विलय होता है, तो आत्मा निर्वाण को प्राप्त होती है, वह परमात्मा बन जाती है। यह पूर्ण नैष्कर्म्य शैलेशी अवस्था में होता है [11]। इसमें जीव मन, वाणी और शरीर से कर्म का निरोध कर शैल की भांति निष्कम्प बन जाता है।

जैन दर्शन का प्रयोजन आत्मा का परम हित है। आत्मा का परम हित मोक्ष है, जो अन्तिम पुरुषार्थ है। वह न मात्र ज्ञान, न ज्ञान रहित दर्शन और न ज्ञान तथा दर्शन से निरपेक्ष चारित्र से प्राप्त होता है। उसके लिये तीनों का समन्वय अपेक्षित है। आचार्य उमास्वाति का कथन है-सम्यग्ज्ञान दर्शनचरित्रं मोक्षः। ये तीनों जैन दर्शन में त्रिरत्न के नाम से ख्यात है, जो मिथ्यात्व के अन्धकारको विच्छिन्न करने के लिये दीपक के समान हैं। तथा स्वर्ग और अपवर्ग के द्वार हैं [12]। मिथ्यात्व मोह का ही प्रकार है। उससे आत्मा विकृत होती है और दीर्घकाल तक बद्ध रहती है। किन्तु उसके क्षय से दूसरे कर्म क्षीण हो जाते हैं [13]। मिथ्यात्व का क्षय ज्ञान, दर्शन और चारित्र के सम्यक्त्व से होता है। जीव, अजीव आदि तत्वों का जैसा निरूपण तीर्थङ्करों ने किया है, उसका यथावत् बोध सम्यक् ज्ञान है। आर्हतों द्वारा प्रतिपादित समस्त तत्वों में निर्णयात्मक दृष्टि सम्यक्दर्शन है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का परिपालन सम्यक्चारित्र है। इनका पूर्ण परिपालन साधुओं द्वारा तथा आंशिक पालन श्रावकों द्वारा किया जाता है! दोनों प्रकार से इनकी आराधना मोक्ष प्रदान करती है! इन त्रिरत्नों से वंचित व्यक्ति संसार में भटकता रहता है [14]।

इस विवेचन के अतिरिक्त काव्य में आर्त तथा शुक्ल ध्यान, [15] मति आदि ज्ञान, [16] त्पाद, विगम, ध्रौव्य की पदत्रयी, [17] द्रव्य तथा पर्याय और [18] वाक्चित्तात्मक सूक्ष्म योग [19] का भी उल्लेख आया है।

---

9. कर्मणः फलमासाद्य स्वयमुप्ततरोरिव। पार्श्वनाथ चरित्र, 1।141
10. अन्यो निमित्तमात्रं स्यात् कर्माण्येवात्र कारणम्। वही, 1।396, और भी देखिये-कारणंसुखदुःखेषु प्राणिनां हि पुराकृतम्। 2।284 तथा 6।251, 1।318
11. वही, 6।418.
12. स्याद्रत्नत्रयमेवेदं मिथ्याध्वान्तधूसरे। संसारेऽत्र प्रकाशाय प्रदीप इव वर्त्मनि ।! वही, 1।68
 सम्यगाराधितं दत्ते श्रियं स्वर्गापवर्गयो:। वही, 1।69
13. सम्बोधि, 3।18, 20, 21
14. पार्श्वनाथ चरित्र, 1।70-75
15-19 वही, 1।363-6।421, 2।73, 5।444, 5।447, 6।420

महावीर का विश्वबोध

भगवान महावीर ने अहिंसा को मानव जीवन में प्राण प्रतिष्ठा की थी। हिंसा के अतिरिक्त अन्य कोई पाप इस विश्व में है ही नहीं। परिग्रह भी इस कारण पाप है कि वह हिंसा में ही गर्भित है। यही हाल अन्य पापों का है। इसीलिए अशिव और असुन्दर सत्य भी असत्य है। अहिंसा जीवन पद्धति है और अनेकान्त विचार पद्धति। वर्तमान में अपरिग्रह पर इतना अधिक जोर दिया जाने लगा है कि असत्य, अचौर्य और अब्रह्म का स्थान गौण ही नहीं नगण्य सा हो गया है। यदि मानव को नैतिक दृष्टि से ऊंचा उठना है, संसार से अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न एवं असमानता आदि बुराइयों को समाप्त करना है तो उसे अपरिग्रह की तरह ही अन्य पापों से भी अपने जीवन को बचाना होगा। खेद है आज के लेखक गतानुगतिक ही रहे हैं और इस सत्य को समझ नहीं पा रहे।

प्र० सम्पादक

☐ डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

जयपुर।

भगवान महावीर का समग्र जीवन सत्य की शोध, उपलब्धि एवं अनुदान का जीवन है। वे तप प्रधान संस्कृति के उज्ज्वल प्रतीक हैं। उन्होंने असंख्य नर नारियों को प्राणी मात्र से मैत्री करने का पाठ पढ़ाया। "स्वयं जीवो और दूसरों को जीने दो" इस महामन्त्र को देशवासियों के हृदय में उतारा। जाति एवं धर्म के मद में समाज के एक वर्ग द्वारा ढाये जाने वाले जुल्मों के विरुद्ध क्रान्ति की तथा स्वर्ग एवं मोक्ष प्राप्त करने का मानव का अधिकार घोषित किया।

महावीर के उपदेशों का केन्द्र बिन्दु आत्मा रहा। उन्होंने कहा कि प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है। सब आत्माएं समान हैं कोई छोटा बड़ा नहीं, उसमें जाति, वंश एवं वर्ग की बाधा उपस्थित नहीं होती। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र सभी के समान आत्मा है। यद्यपि प्रत्येक की आत्मा अनन्तज्ञान एवं सुखमय है किन्तु अनादि से कर्मबद्ध होने के कारण अशुद्ध है। काम क्रोधादि विकारों के कारण उसके स्वाभाविक गुण प्रकट नहीं होने पाते। आत्मा जब कर्ममल से छूट जाता है तो वह परमात्मा बन जाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है। जिसके जीवन में ये तीनों उतर गये उसके लिये मोक्ष दूर नहीं है। आत्मा में लीन रहना ही सम्यक्दर्शन तथा आत्म स्वरूप को जानना ही सम्यक्ज्ञान है और आत्मस्वरूप आचरण ही सम्यक्चारित्र है अर्थात् धर्म आत्म स्वरूप होता है। ये तीनों ही शुद्धात्मा के आश्रित हैं आत्म रूप हैं।

भगवान महावीर ने जीव और पुद्गल की अपने उपदेशों में गहरी चर्चा की। इन्द्रभूति गौतम सर्व प्रथम जब भगवान महावीर के समवशरण में गया तो भगवान ने उससे यही प्रश्न किया कि गौतम तुम आगये। तुम्हारे हृदय में जीव तत्व के विषय में कुछ शंका है और महावीर ने उसका जिन शब्दों में समाधान किया उससे गौतम ने प्रभावित होकर तत्काल उनकी शिष्यता स्वीकार कर ली। उन्होने कहा

कि यह जगत जीव और अजीव इन दो द्रव्यों से ओत प्रोत है। अजीव द्रव्य के पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल पांच भेद हैं। इस जीव को पुद्गल सबसे अधिक प्रिय लगता है। स्वयं जीव की देह भी पुद्गल ही है और इसी से ममत्व करने के लिये यह जीव नाना प्रकार से साधनों के पीछे दौड़ा करता है। खाना, पीना, पहिनना, नहाना, धोना ये सभी पुद्गल की क्रियायें हैं। आत्मा का इनमें कोई सम्बन्ध नहीं है। भौतिक सुख भी पुद्गल का ही एक रूप है और यह आत्मा भौतिक सुख को ही अपना मान कर अपने वास्तविक स्वभाव को भुला बैठा है।

अहिंसा की प्रतिष्ठा

भगवान महावीर ने अहिंसा की पुनः प्राण प्रतिष्ठा की और सर्वोदय मार्ग का निर्माण किया। उन्होंने कहा कि सब प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है। सुख सबको अच्छा लगता है और दुःख बुरा। वध सबको अप्रिय है और जीवन प्रिय।

अहिंसा ही स्वर्ग लक्ष्मी एवं मुक्ति को प्रदान करने वाली है। अहिंसा ही आत्मा का हित करती है और समस्त कष्ट एवं विपत्तियों को नष्ट करती हैं जिस प्रकार इस लोक में परमाणु से कोई छोटा एवं आकाश से बड़ा द्रव्य नहीं है उसी प्रकार अहिंसा से कोई बड़ा धर्म नहीं है।

महावीर ने अहिंसा की जितनी सूक्ष्म व्याख्या की उतनी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। एक ओर उन्होंने जीवों के वध को हिंसा बतलाया तो दूसरी ओर मानव के शोषण को भी हिंसा का ही भेद बतलाया। यही नहीं किसी का तनिक दिल दुखाना, अपशब्द कहना, क्रोध करना, ईर्ष्या एवं द्वेष को ही परिभाषा में अभिव्यक्त किया। महावीर ने मानसिक हिंसा की भी अत्यधिक निन्दा की और उससे दूर रहने का उपदेश दिया। उन्होंने आत्मा में राग द्वेष मोहादि भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा बतलाया और उन भावों का आत्मा में उत्पन्न नहीं होने को अहिंसा कहा। किसी प्राणी अथवा जीव को मारने का विकल्प ही हिंसा कहा जाता है चाहे फिर उससे कोई प्राणी मरे या न मरे। इस प्रकार भगवान महावीर ने केवल द्रव्य हिंसा को हिंसा नहीं बतलाया किन्तु भाव हिंसा को भी हिंसा बतला कर हिंसा की सूक्ष्म व्याख्या की। उन्होंने कहा कि जहां हिंसा है वहीं अधर्म है अशान्ति है इसलिये जीवन में धर्म की एक भी बिन्दु उतारना है तो अहिंसा को जीवन में सर्वप्रथम उतारना पड़ेगा।

भगवान महावीर ने सामाजिक सन्दर्भ में भी अहिंसा के सूत्र प्रस्तुत किये—

1. दास बनाना हिंसा है इसलिये किसी को दास मत बनाओ।

2. दूसरों की स्वाधीनता का अपहरण मत करो।

3. किसी भी प्राणी को लाठी डण्डे और कोडे वगैरह से पीटना भी हिंसा है तथा पशुओं पर उनकी शक्ति से अधिक भार लादना तथा शक्ति से बाहर काम लेना भी हिंसा में ही सम्मिलित है। अहिंसक जीवन यापन करने वाले के लिये ये सब त्याज्य हैं।

4. मनुष्य मनुष्य में घृणा करना, उनके साथ अमानवीय व्यवहार करना, तथा एक दूसरे को नीचा ऊंचा समझना भी हिंसा है। समस्त मनुष्य जाति एक ही है।

अनेकान्त का प्रतिपादन

भगवान महावीर ने अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठापना के साथ ही विचारों में अनेकान्त को अपनाने पर जोर दिया। अपने विचारों का प्रतिपादन के साथ ही दूसरे के दृष्टिबिन्दु को ठीक ठीक समझना ही अनेकान्त है। वस्तु को अनेक पहलुओं से देखना, बात को अनेक पहलुओं से हृदयंगम करना, व्यक्ति को उसकी भूमिका में देखना अनेकान्त है। इसे सर्वधर्म समभाव भी कहते हैं। उन्होंने कहा कि बिना अपेक्षा के वस्तु का रूप नहीं

देखा जा सकता क्योंकि जो वस्तु अनेकान्त रूप है वही स पेक्ष दृष्टि से एकान्त रूप भी है। भूतभाव की अपेक्षा वस्तु अनेकान्त रूप है और नामों की अपेक्षा एकान्त रूप है-

जं वत्थु अणेयन्तं एयंतं तं पि होदि सविपेक्खं।
सुयणाणेण णएहि य णिरवेक्खं दीसदे णेव ॥

भगवान महावीर ने कहा कि परमागम के बीज स्वरूप अनेकान्त में सम्पूर्ण नयों का (सम्यक् एकान्तों) विलास है उसमें एकान्तों के विरोध को समाप्त करने की सामर्थ्य है क्योंकि विरोध वस्तु में नहीं एकान्त में है।

भगवान महावीर के युग में 363 मत मतान्तर प्रचलित थे। वे सब अपने ही दृष्टिकोण से प्रत्येक वस्तु को देख कर उसको समझने समझाने का प्रयत्न करते थे। चारों ओर धर्म एवं दर्शन के नाम पर आये दिन लड़ाइयां होती, शास्त्रार्थ होते और शान्ति के स्थान पर-अशान्ति ही हाथ लगती। इसलिये महावीर स्वामी ने अनेकान्त सिद्धान्त की स्थापना करके आपस में सौहार्द एवं प्रेम का वातावरण स्थापित किया और एक दूसरे के विचारों को समझने की भूमिका बतलायी। उन्होंने कहा कि एक ज्ञात धर्म को ही सत्य और शेष अज्ञात धर्मों को असत्य मत कहो। सत्य की सापेक्ष व्याख्या करो। दूसरे के विचारों को समझने का प्रयत्न करो। भगवान महावीर ने कहा कि—

अनेकान्तमयी वस्तु का कथन करने की पद्धति स्याद्वाद है। वस्तु में एकता अनेकता, नित्यता अनित्यता आदि सभी धर्म एक साथ विद्यमान रहते हैं किन्तु किसी भी एक शब्द या वाक्य के द्वारा सारी की सारी वस्तु का युगपत कथन करना अशक्य है इसलिये प्रयोजन वश एक धर्म को मुख्य एवं शेष धर्म को गौण करके वस्तु का कथन करना स्याद्वाद है। और इसी प्रयोजन से अनेकान्तवादी अपने प्रत्येक शब्द के साथ स्यात् अथवा कथंचित् शब्द का प्रयोग करता है। कथंचित् पद के प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो कथन किया जा रहा है वह अंश के सम्बन्ध में है पूर्ण वस्तु के सम्बन्ध में नहीं। वास्तव में स्याद्वाद का सिद्धान्त सर्वसत्य प्रकाशक के रूप में माना जाना चाहिये। इस प्रकार भगवान महावीर ने सह अस्तित्व के सिद्धान्त का बीजारोपण किया।

कर्म सिद्धान्त

भगवान महावीर ने कर्म सिद्धान्त का विस्तार से प्रतिपादन किया। यह जीवात्मा दैव, नियति एवं ईश्वर की कठपुतली नहीं किन्तु वह स्वयं ही अपने सुख दुख का निर्माता एवं भोक्ता है। उसकी मुक्ति उसी के हाथ में है। वह अपने पूर्वकृत कर्मों से ही अनन्तबार पहिले जन्म एवं मृत्यु को प्राप्त हो चुका है और आगे भी इसी प्रकार प्राप्त होता रहेगा। महावीर ने कर्मवाद के सिद्धान्त के आधार पर पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तथा किसी अदृश्य शक्ति का खंडन किया। तथा कहा कि विधि स्रष्टा, विधाता, दैव एवं पुराकृत कर्म और ईश्वर ये कर्म रूपी ईश्वर के पर्याय वाचक शब्द हैं अर्थात् इनके सिवाय अन्य कोई लोक का बनाने वाला अथवा स्रष्टा नहीं। भगवान महावीर के द्वितीय गणधर वायुभूति को भी कर्म के बारे में सन्देह था और महावीर ने उनके जब सन्देह का निवारण किया तो नत मस्तक हो उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। महावीर ने कहा कि क्रिया की प्रतिक्रिया का नाम ही कर्म है। इसी तरह मनुष्य की आन्तरिक शक्ति के विकास का तारतम्य दृष्टव्य है किन्तु उसकी पृष्ठभूमि में जो अदृष्ट कारण है वही तो कर्म है। महावीर ने कर्म को भी पुद्गल माना तथा कहा कि कर्मों का आवरण आत्मा पर छाया रहता है और फल देने के पश्चात् अथवा बिना फल दिये ही जब उनकी निर्जरा होती है तब ही उनसे आत्मा को मुक्ति मिलती है। महावीर ने कर्म सिद्धान्त की जितनी सूक्ष्म व्याख्या

की। उसके भेद एवं प्रभेदों की चर्चा की वह अपने आप में एक अद्वितीय है।

जैन पुराणों एवं कथा साहित्य में जितना चरित्र चित्रण मिलता है उसका मुख्य आधार कर्म सिद्धान्त है। प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ के पौत्र मरीचि का जीव लगातार आगे के पांचों मनुष्य भवों में अपने पूर्व दृढ़ संस्कारों से प्रेरित होकर पाप कर्मों का उत्कृष्ट बन्ध करता रहा और अन्त में भगवान महावीर के रूप में अवतरित होकर स्वयं जगत् का उद्धारक बना। इसी तरह राजा श्रेणिक को भी यद्यपि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो गया लेकिन नरक गति के बन्ध से उसे छुटकारा नहीं मिल सका। यह सब कर्म सिद्धान्त पर आधारित जीवनमरण की प्रक्रिया है। भगवान महावीर ने कहा कि मनुष्य के कर्तव्य को प्रभावित करने वाले जितने तत्व है उनमें कर्म सबसे प्रभावी होता है। वह मनुष्य के अपने ही पुरुषार्थ से कृत होता है। पुण्य कर्म के विपाक से प्राणी को सुख मिलता है और पाप कर्म के विपाक से उसे दुख मिलता है। अपने द्वारा उपार्जित कर्म का फल उसे अवश्य भुगतना पड़ता है फिर चाहे वह इस जन्म में या फिर किसी अन्य जन्म में उसे भुगते बिना उससे छुटकारा नहीं होता।

मानव स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। भगवान महावीर के इस सिद्धान्त से मानव मात्र को पुरुषार्थ करने की प्रेरणा मिलती है और किसी शक्ति विशेष की कृपा पर अपने आपको छोड़ कर निश्चिन्त नहीं होना चाहता।

अपरिग्रह

भगवान महावीर ने सुख शान्ति पूर्ण जीवन यापन के लिये अपरिग्रह व्रत को जीवन में उतारने पर बल दिया। उन्होंने देखा एवं अनुभव किया कि आवश्यकता से अधिक परिग्रह हिंसा एवं अशान्ति का कारण है। उसके संचय के लिये संकल्पी एवं आरम्भी हिंसा करनी पड़ती है। असत्य भाषण करना पड़ता है, चोरी करनी पड़ती है। अधिक संचय से चारित्रिक दुर्बलता आती है तथा वह धीरे धीरे न चाहते हुऐ भी बुराइयों की ओर बढ़ने लगता है। वर्ग भेद को बल मिलता है। ईर्ष्या एवं द्वेष को सहारा मिलता है। इसलिये भगवान महावीर ने भुखमरी, बेरोजगारी, ऊंच नीच तथा गरीब अमीर की खाई को समाप्त करने के लिये साधुओं के लिये अपरिग्रह एवं गृहस्थों के लिये परिग्रह परिमाण व्रत को अपनाने पर बल दिया जिससे सारा राष्ट्र सुख एवं शान्ति के पथ पर अग्रसर हो सके।

इस प्रकार भगवान महावीर के 30 वर्ष तक विश्व को अपूर्व सन्देश एवं उपदेश देते रहे। उनके सिद्धान्त त्रिकालाबाधित है। इसलिये आज भी उनकी उतनी ही आवश्यकता है जितनी उनकी उस समय में थी।

महावीर भगवान के जीव का अमर संदेश

भगवान महावीर के पूर्वभवों की कथा संसारी आत्मा के उत्थान पतन की कहानी है। यह कहानी शास्त्रों में पुरुरवा भील के जीवन से प्रारम्भ होती है और कई भवों के बीच गुजरती हुई भगवान महावीर पर आकर समाप्त होती है। इस लम्बी कहानी को बहुतों ने भिन्न-भिन्न समयों में कहा है अतः घटनाओं के सम्बन्ध में मतभेद हो जाना स्वाभाविक है किन्तु यह कहानी इस चिरन्तन सत्य का उद्घाटन करती है कि आत्मा का उत्थान और पतन आत्मा के स्वयं के हाथ है। कोई अन्य उसका कुछ भी बना बिगाड़ नहीं सकता। इस कथ्य में कहीं कोई मतभेद नहीं है और हमें प्रत्येक कहानी, घटना अथवा जीवन चरित्र में उसमें वर्णित घटनाओं की सत्यता की ओर ध्यान न दे उसके कथ्य की ओर ध्यान देना चाहिये। तब ही हम उसमें से कुछ प्राप्त कर सकेंगे।

—प्र. सम्पादक

□ डा० शाह सौभागमल जैन
जयपुर

अन्तिम जैन तीर्थङ्कर श्री महावीर स्वामी के नाम से प्रायः समस्त जैन अजैन भारत में ही नहीं, वरन् समस्त विश्व के विद्वान परिचित हैं। परन्तु यह बहुत ही कम जानते हैं कि यह विश्ववंद्य प्राणी 'तीर्थङ्कर' या तरण तारण जगत उद्धारक सच्चे सर्व प्राणी हितैषी मानव या 'अरिहंत भगवान' कैसे बने और अन्त में कैसे सिद्ध भगवान बन जीव की पूर्ण स्वाधीनता व अनन्त दर्शन ज्ञान वीर्य का शाश्वत् आध्यात्मिक आनन्द निरन्तर ले रहे हैं व सदैव अनन्तकाल तक लेते रहेंगे।

उत्थान—पुरुरवा, भीलराज जब एक जैन मुनि गर्द से दबी हुई ध्यानारूढ़ मुद्रा व चमकती आंखों को हिरण की आंखें समझ कर उन्हें बाण का निशाना बना कर साधन करने लगा तो उसकी पत्नी ने यह देखकर कि वहां हिरण न होकर मानव है पुरुरवा को ऐसा करने से रोका व दोनों ने जाकर मिट्टी हटाकर उनको गर्द से बाहर किया तथा दोनों ने उनके आध्यात्मिक आत्मतेज से प्रभावित हो साष्टांग नमस्कार किया। ध्यान समाप्त होने पर मुनिवर ने उनको धर्मवृद्धि आशीर्वाद दिया। पुरुरवा ने धर्म का अर्थ, स्वरूप, मार्ग आदि समझकर कहा कि 'अहिंसाव्रत तो मैं पाल नहीं सकता कारण कि मेरा व मेरे परिवार का भरण पोषण ही शिकार व पशु-पक्षियों के भक्षण द्वारा है तो फिर मैं कौनसा व्रत कैसे पालकर अपने जीव का उद्धार या उत्थान कर सकता हूं। दिव्य दृष्टिधारी ज्ञानी मुनीश्वर ने उससे कहा कि घबराने की कोई आवश्यकता नहीं। केवल यह नियम लेलें कि जीवन पर्यन्त केवल कौवे के मांस का भक्षण व शिकार न करोगे। पुरुरवा ने इसमें कभी कोई बाधा न देख तुरन्त उसे स्वीकार कर गुरु वचनों का पूर्ण श्रद्धान किया और चला गया। अन्त समय जब वह बीमार हुआ और 'वैद्यों' ने उसे बतलाया कि वह केवल

'कौवे' का मांस खाने पर ही रोग मुक्त हो सकता है तो दृढ़प्रतिज्ञ व गुरु वचन श्रद्धालु होने के कारण उसने प्रतिज्ञा भंग न कर शांत परिणामों से उस भव की जीवन लीला समाप्त की और फिर मर कर दृढ़ श्रद्धा व प्रतिज्ञा निभाने के पुन्य बंध व समताभाव से समाधि मरण कर उसका 'जीव स्वर्ग में देव हो गई सागरों तक वहां के सर्वसुख भोगता रहा। नियमानुसार आज भी यदि हम अपनी शक्ति-अनुसार सरल से सरल नियम भी लें परन्तु उसको दृढ़श्रद्धा व अटल दृढ़ता व समता भाव से निभा सकें तो हमारे जीव का उत्थान ही होगा।

पतन —

वहां से चलकर पुरुरवा का जीव श्री ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती के 'मरीची' नाम का पुत्र हुआ व श्री ऋषभदेव के दीक्षा लेकर गृह त्यागी दिगम्बर मुनि होने पर अपने पितामह की देखादेखी स्वयं भी दिग्जैन मुनि बन गये। परन्तु मुनिधर्म का सच्चा ज्ञान व श्रद्धान न होने से व दि. जैन मुनि के तपश्चर्या कष्ट न सह सकने के कारण वह उसके अन्य साथी मनमाने ढंग से वल्कल वस्त्र पहन जंगल के फलफूलों पर गुजारा करने लगे। जब उन्होंने भगवान ऋषभदेव का दिव्य उपदेश सुना तो उसके अन्य साथी तो सन्मार्ग पर आगये परन्तु भगवान से यह सुनकर कि उसकी आत्मा भी जैन तीर्थंकर बन मोक्ष जावेगी उसने यह उल्टा श्रद्धान कर लिया कि मैं मोक्ष जाकर भगवान बनूंगा ही व अभी भी जब मेरे पितामह भगवान बन ऐसी विभूति पा गये हैं तो मैं अपने अपनाये मार्ग को छोड़ इनसे क्यों पीछे रहूं। वह परमहंस साधु मार्ग चालूकर उस पर चलता रहा उस समय से 'परमहंस' साधु मार्ग स्थापित कर व उस ही में अपनी जीवन लीला समाप्त कर कितने ही भव तक निरन्तर जन्ममरण कर देव, मानव व कभी कभी पशु पक्षी बन चलता रहा। इस तरह अपने झूठे अहम् व योग्यता से पहले अपने को मानने के मिथ्यात्व के कारण उसका जीव अनेक भव तक जन्म मरण करता रहा।

इस ही तरह आज भी केवल निश्चय नय को ही पकड़कर संसार में रुले हुए व सब तरह के नैतिक अनैतिक कार्य करते रहने पर भी संसार भावना में रह प्राणी अपने को दुराग्रहपूर्वक 'जल में कमलवत्' संसार से अलिप्त कहकर संसार को व स्वयं को घोर हठ पूर्वक धोखा देने के कारण घोर मायाचार मिथ्यात्व का बंधकर अपने संसार परिभ्रमण की ऋणात्मक अवधि को बढ़ाते जा रहे हैं। यह मामला ऐसा ही है जैसे किसी प्रथम वर्ष मेडीकल में अध्ययन करने वाले व्यक्ति को एम. बी. बी एस. को पंचवर्षीय पढ़ाई पूर्ण कर वास्तव में डाक्टर बनने के पूर्व ही केवल इस आशा में डाक्टर कहना कि एम. बी. बी. एस. यानि डाक्टर तो बनेगे ही। परन्तु यदि वह प्रथम वर्ष का विद्यार्थी भी अपने को उस समय ही डाक्टर मान जनसाधारण का इलाज करने लगे तो परिणाम (आप स्वयं सोचें) कितना भयंकर हो सकता है। यानि इलाज कराने वाले व्यक्तियो को चिकित्सा अनभिज्ञ हाथों में फंसकर प्राणों से हाथ तक धोना पड़ सकता है इसलिए वस्तु स्वरूप को पूर्ण समझने व वास्तविकता पर पहुंचने के लिए हमें सदैव निश्चय एवं व्यवहार को अपने-अपने स्थान आवश्यकतानुसार अपना कर कथनी करनी व सुमरनी तीनों एक कर सदैव स्वपर कल्याण कर आत्मोन्नति की ओर अग्रसर रहना चाहिये। इस तरह ९०० सागर घाट एक कोड़ा कोडी सागर तक चऊं गतियों में भ्रमण कर मारीच का जीव राजगृह नगर के राजा विश्वभूति के विश्वनन्दी नाम का दुराचारी पुत्र हुआ। विश्वभूति ने अपने चचेरे भाई जैन मुनि विशाखनन्दी का घोर अपमान कर क्रोधित किया जिससे विशाखनन्दी प्रतिशोध का निदान कर मरा और भवान्तर में विश्वनन्दी का जीव त्रिपृष्ठ नारायण उत्पन्न हुआ व विशाखनन्दी का जीव अश्वग्रीव प्रतिनारायण।

पूर्व वैर के कारण दोनों में घोर युद्ध हुआ विशाख-नन्दी का जीव सातवें नर्क गया।

त्रिपृष्ठ के जीव ने नारायण बासी अर्धचक्री सम्राट पद के अहंकार व विकराल क्रोधवश राज आज्ञा उल्लंघन के अपराध में अपने शैयापाल के कानों में अति उष्ण पिघला हुआ शीशा डलवा दिया। तीव्र प्रतिशोध की भावना बांध इस भयंकर वेदना में शय्यापाल का प्राणान्त हो गया। त्रिपृष्ठ को पद अहंकार व विकराल क्रोधवश किये ऐसे घोर पापों के फलस्वरूप मरकर सातवें नर्क जा 33 सागर तक वर्णनातीत दारुण दुःख भोगने पड़े व महावीर भगवान के भव में भी इस वैर का किस प्रकार बदला चुकाना पड़ा वह आगे पढ़िये। सातवें नर्क से वह जीव सिंह का जन्म पा घोर हिंसा कर फिर नर्क पहुंचा व वहां से मरणकर हिमवान पर्वत पर विकराल सिंह बन हिंसा करने लगा।

पुनः उत्थान—

शुभकाल लब्धि आने पर हिंसक सिंह ज्योंही शिकार को मुंह में दबाये, जंगल में ध्यानारूढ़ शांत मुद्रा मुनि महाराज के ऊपर झपटा शांतिमुद्रा मुनि-महाराज ने उसे 'सिंहराज' शांत कहकर उपशांत कर दिया और उसे पूर्व भवों में किए हुए सारे दुष्कार्य याद दिलाये तो वह निश्चल खड़ा हो गया व घोर पश्चाताप में उसके आंसु बहने लगे। मुनि-राज से धर्मोपदेश व दसवें भव में तीर्थंकर बनने की भवितव्यता सुन और सम्यक्त्व ग्रहण कर लिया जिनदेव गुरु, शास्त्र, का पूर्ण श्रद्धान कर व हिंसा अभिमान, क्रोध, मायाचार, लोभ का पूर्ण त्याग कर आहार छोड़ दिया व समता संयम से आत्म-ध्यान में रत हो प्राण त्याग कर सौधर्म स्वर्ग में सिंह केतुदेव उत्पन्न हो दो सागर की आयु भोगी। वहां से मानव देव गति के छः भव लेकर व हर मानव भव में मुनि बन घोर तपस्या द्वारा निरन्तर आत्मोत्थान कर वह जीव राजा नन्दीवर्धन के नन्द-राज नामक पुत्र हुआ। उसने राजत्याग जैन मुनि बन घोर तपश्चर्या की व जैन शास्त्रानुसार तीर्थंकर बनाने वाली सोलहकारण भावनाओं का मन वचन व काय से पूर्ण पालन कर व उसही पूर्ण आत्म-ध्यानावस्था में समाधिमरण कर 16वें स्वर्ग में इन्द्र उत्पन्न हुआ जहां उसकी आयु 22 सागर की हुई। उस ही इन्द्र के जीव का कुण्डलपुर में राजा सिद्धार्थ के पुत्र रूप में 'महावीर' भगवान का अवतरण ढाई हजार वर्ष पूर्व इस भारतवर्ष के बिहार प्रान्त में हुआ।

अब श्री महावीर राज त्याग व संसार से वैराग्य ले जैन मुनि या साधु हो बिहार के जंगलों में एक शिला पर पाषाण मूर्तिवत बैठे हुए आत्मध्यान में ध्यानारूढ़ हो रहे थे और केवलज्ञान प्राप्त करने को अग्रसर थे उस समय इनके जीव का अन्तिम बैरी यानि त्रिपृष्ठ नारायण के भव को शैयापाल का जीव जिसका मरण कानों में गर्म शीशा डलवा दिये जाने के कारण इनसे बैर बांधकर हुआ था और जो नर्क, पशु, मानव देव गति को बहुत सी योनियां भोगकर उस समय किसान के रूप में मानव बना था, वह अपने खोये हुए बैलों की तलाश में वहां पहुंचा, बैलों के खोज इनके पास देखकर व वहां बैलों को न देखकर उसने इनसे पूछा कि अरे मेरा बैल कहां है। ये आत्मध्यान में लीन होने के कारण मौन थे। बार:बार पूछने पर व न बताने पर और हर तरह की सजा दिये जाने कि धमकी दिये जाने पर भी जब ये कुछ न बोले तो वह लोहे की तीखी नोक का बड़ा कीला व हथोड़ा ले आया और कहने लगा, अरे बतलाता है या यह कीला कानों में ठोक दूं। इतने पर भी जब इन्होंने उत्तर न दिया तो उसने वह कीला इनके कान में इतना ठोका कि वह उस पार दूसरे कान से जा निकला। इस तरह उसने अपने पूर्व जन्म के बैर का बदला इनसे केवल ज्ञान होने के पहले ही चुका। यह घटना सिखलाती है कि जीव को किसी भी जीव के प्रति कोई क्रूरता

कर वैर नहीं बांधना चाहिये, यदि बुराई कर वैर बांधेगा तो किसी न किसी जन्म में कभी न कभी बदला चुकाना ही पड़ेगा ।

इस प्रकार श्री वीर जिनेश्वर की अमर जीवनी का अध्ययन हमें सिखलाता है कि इस जीव का पतन क्यों होता है और फिर शुभकाल लबध्यनुसार यह जीव अपने कारनामों पुरुषार्थ से सन्मार्ग में चलकर अपना उत्थान करते-करते स्वयं सिद्ध परमात्मा कैसे हो जाता है ? आत्मा का स्वराज्य प्राप्त कर हर जीव में भगवान बनने की शक्ति निहित है इसे अपने सिवाय अन्य कोई बनना बिगाड़ने वाला नहीं है । हर जीव स्वयं का स्वयं ही मित्र है । स्वयं का स्वयं ही शत्रु है स्वयं का स्वयं ही डुबोने वाला है और चाहे तो स्वयं का स्वयं ही उद्धारक बन सकता है । इस तरह संसार के सब प्राणियों को 'जिन शास्त्र पूर्ण लगन से अध्ययन व मनन कर जैन आगम आदेशानुसार चरित्र धारण व पालन कर स्वयं सिद्ध परमात्मा बन स्व पर कल्याण करते रहना चाहिये । अन्त समय का किसी को किसी का व स्वयं का स्वयं को भी ज्ञात नहीं है इसलिए हम अपना उद्धार चाहते हैं तो सबसे वैरभाव रागद्वेष त्याग अपनी पूर्ण शक्ति के साथ मन वचन कार्य की शुद्धता में लगाना चाहिए ।

जिन प्रतिमा दर्शन सिखलाता है—सम्यक् दर्शन ज्ञान चरित्र से भये सिद्ध भगवान, सोही करनी तुम करो, फिर हम तुम एक समान ।

वीर—वचन

णाया वीरा महावीहिं

वीर पुरुष महामार्ग की ओर अग्रसर होते हैं ।

अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं ।

कर्म विमुक्त आत्मा ही परमात्मा है ।

चत्तारि धम्मदारा—खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे ।

धर्म के चार द्वार हैं—क्षमा, संतोष, सरलता और विनय ।

सीलगुणवज्जिदाणं निरत्थयं माणुसं जम्म ।

आचार (शील) हीन मनुष्य का जन्म निरर्थक है ।

सीलं मोक्खस्स सोपाणं ।

ब्रह्मचर्य मोक्ष की सीढ़ी है ।

जह ते ण पियं दुक्खं, तहेव तेसिंपि जाण जीवाणं ।

जैसे तुझे दुःख प्रिय नहीं है, वैसे अन्य जीवों के विषय में भी समझो ।

वर्तमान में जो साहित्य दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध है उसके बारे में सबसे बड़ा विवाद यह है कि क्या वह उसी रूप में आज तक हमारे समक्ष समुपस्थित है जैसा कि उसे महावीर ने कहा था। दिगम्बर इससे इन्कार और श्वेताम्बर स्वीकार करते हैं। चाहे कुछ भी मानें किन्तु यह बात अन्तः परीक्षा से निर्विवाद सी सिद्ध है कि उनमें मिश्रण अवश्य हुआ है और उसका परीक्षा करके उसे अलग कर देना बड़ी टेढ़ी खीर है। इसलिए आचार्यों को सच्चे देव और सच्चे गुरु के साथ सच्चे शास्त्र का भी लक्षण करना पड़ा है जिसमें मुख्य बात यह है कि वह प्रत्यक्ष और तर्क से बाधित न हो। अगर ऐसे विवादास्पद तत्वों की ओर कोई ध्यान न दें तो निश्चय ही दोनों सम्प्रदाय के ग्रंथो में जीवन निर्माण के तत्व भरे पड़े है। उनके संबंध में मुख्य महत्व की बात यह नहीं है कि उन्हें किसने कहा अपितु, यह है कि वे आत्मोत्थान में सहायक हैं या नहीं।

प्र० सम्पादक

भगवान महावीर के उपदेशांकित ग्रन्थ और प्रमुख उपदेश

□ डा० रमा जैन
न्यायतीर्थ—छतरपुर

भगवान महावीर के उपदेशों को उनके शिष्य गणधरों ने बारह विभागों में विषय क्रम से वर्गीकृत करके संगृहीत किया। ये संग्रह या संकलन द्वादशांग के नाम से प्रसिद्ध है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार इस संग्रह कार्य का श्रेय प्रथम गौतम गणधर को दिया जाता है। श्वेताम्बर परम्परा में पंचम गणधर सुधर्मस्वामी द्वारा उनके शिष्य जम्बूस्वामी को दिये गये उपदेशों के रूप में ये ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। अस्तु विवरण इस प्रकार है :—

(1) आचारांग :—इसमें मुनियों के आदर्श आचरण, और नियमोपनियमों का वर्णन किया गया।

(2) सूत्रकृतांग :—इसमें महावीर के समय प्रचलित विविध दार्शनिक विचार धारा के साथ जैन सिद्धान्तों का प्ररूपण किया गया।

(3) स्थानांग :—इसमें क्रमशः वस्तुओं के भेदोपभेदों का वर्णन किया गया।

(4) समवायांग :—इसमें पदार्थों का निरूपण उनके भेदोपभेदों की संख्या के अनुसार किया गया।

(5) व्याख्या प्रज्ञप्ति अंग :—इसमें प्रश्नोत्तर रूप से जीवदर्शन व आचार विषयक बातों की चर्चा की गई।

(6) ज्ञातृधर्म कथा ग्रंथ :— इसमें धार्मिक कथाओं का समावेश किया गया।

(7) उपासकाध्ययनांग :— इसमें धर्मानुयायी गृहस्थों व श्रावकों के व्रतों का उनके पालने वाले पुरुषों के चरित्र की कथाओं द्वारा समझाने का प्रयत्न किया गया।

(8) अन्तकृत दशांग : इसमें उन दश मुनियों का वर्णन किया गया प्रतीत होता है जिन्होंने उग्र तपस्या करके घोर उपसर्ग सहते हुए अपने जन्म-मरण रूपी संसार का अन्त करके निर्वाण प्राप्त किया।

(9) अनुत्तरोपपातिक दशांग :-इसमें उन दस महामुनियों व अनुत्तर स्वर्गवासियों के चरित्र का विवरण प्रस्तुत किया गया जो उन उच्च स्वर्गों से च्युत होकर केवल एक बार पुनः मनुष्य योनि में आते और अपनी धार्मिक वृत्ति द्वारा उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

(10) प्रश्न व्याकरणांग :-इसमें उसके नाना-मुर्स र मत-मतान्तरों व सिद्धान्तों सम्बन्धी प्रश्नोत्तरों का समावेश किया गया।

(11 विपाक सूत्रांग :-इसमें कर्म सिद्धान्त के अनुसार सत्कर्मों का फल सुख प्राप्ति और असत्कर्मों का फल दुखद होता है उसी बात को दृष्टान्तों द्वारा समझाया गया।

(12) दृष्टिवाद अंग :-इसके 5 भाग थे। परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका। परिकर्म में गणित शास्त्र का तथा सूत्र में मतों और सिद्धान्तों का समावेश था। पूर्वगत के 14 प्रभेद गिनाये गये हैं जो चौदह पूर्व नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके नाम इस प्रकार है 1 उत्पादपूर्व, 2 अग्रायणीय, 3 वीर्यानुवाद, 4 अस्तिनास्ति प्रवाद, 5 ज्ञान प्रवाद, 6 सत्यप्रवाद 7 आत्मप्रवाद, 8 कर्म प्रवाद, 9 प्रत्याख्यान, 10 विद्यानुवाद, 11 कल्याणवाद, 12 प्राणवाद, 13 क्रियाविशाल और 14 लोकबिन्दुसार। इन सभी में अपने-अपने नाम के अनुसार सिद्धान्तों व तत्वों का विवेचन किया गया था। इनमें से आठवें कर्मप्रवाद पूर्व पर ही महावीर द्वारा प्रचारित जैन धर्म का कर्म सिद्धान्त आधारित होने से यह विशेष महत्व का माना जाता है। जिसे आज प्रथमानुयोग कहा जाता है ये समस्त पौराणिक वृतान्त धार्मिक चरित्र एवं आख्यानात्मक कथाएं इसी बारहवें दृष्टिवाद अंग के चतुर्थ भेद के अन्तर्गत आते है अतः इसका भी विशेष महत्व है। दृष्टिवाद के पांचवें भेद 'चूलिका' के पांच भेद बताये गये हैं—जलगत, स्थलगत, मायागत, रूपगत और आकाशगत। इन नामों से प्रतीत होता है कि उनमें जल, थल, आकाश आदि विषयों का भौगोलिक व तात्विक विवेचन किया गया होगा और यह भी संभव है कि उन पर अधिकार प्राप्त करने के तन्त्र-मन्त्रादि द्वारा की जाने वाली रिद्धि सिद्धियों तथा अहिंसात्मक क्रियाओं द्वारा साध्य साधनाओं का भी वर्णन रहा हो?

दिगम्बर परम्परा के अनुसार उक्त समस्त अंग साहित्य अपने मूल रूप में विलुप्त माना जाता है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार वे अब भी सुरक्षित हैं। इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि ये संकलन पूर्णतः अपने मौलिक रूप को सुरक्षित रखते हुये नहीं पाये जाते। विषय की दृष्टि से इनमें हीनाधिकता स्पष्ट दिखायी देती है, भाषा भी महावीर कालीन अर्द्ध मागधी न होकर उनके काल से एक हजार वर्ष पश्चात् की भाषात्मक विशेषताओं से संयुक्त है। अस्तु यह समस्त साहित्य 'अंग प्रविष्ट' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त जो साहित्य मिलता है उसे अंग बाह्य' कहा जाता है। दोनों प्रकार के अर्द्धमागधी आगम ग्रन्थों की संख्या 45 हो गई जिसे श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा धार्मिक मान्यता प्राप्त है। यह समस्त साहित्य अपनी भाषा व शैली तथा दार्शनिक व ऐतिहासिक सामग्री के लिये पाली साहित्य के समान ही महत्वपूर्ण माना गया है।

इस विशाल उपदेश भंडार को दृष्टिगत रखते हुए यही कहा जाता है कि संसार का ऐसा कोई भी विषय नहीं था जिसके सम्बन्ध में महावीर ने अपने धर्मोपदेशों में प्रकाश न डाला हो क्योंकि वे सर्वज्ञ थे सभी विषयों के ज्ञाता थे। उनकी वाणी पर समस्त जैन साहित्य की परम्परा आधारित है सभी के मूलग्रन्थकर्ता सर्वज्ञ देव हैं। उनके उपदेशों में 5 बातों की प्रधानता थी।

(१) अहिंसा

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता अतः किसी को मत मारो। (दश० 6/10) जो व्यक्ति प्राणियों की हिंसा करता है, दूसरे से हिंसा करवाता है और हिंसा करने वालों का अनुमोदन करता है वह संसार में अपने लिये वैरभाव की वृद्धि करता है (सूत्र० 1/1/1/3) इसलिये सम्यग्दृष्टि जीवों पर समता भाव रखे (उत्त० 19/25, सूत्र० 1/11/3) किसी को प्रिय और किसी को अप्रिय न बने (सत्र० 1/10/7)। हिंसा बन्धन है–मोह है, मृत्यु है, यहां तक कि साक्षात् नरक है (आचा० 1/1/2) अतः किसी प्राणी की हिंसा न करना, यही ज्ञानी होने का सार है–(सूत्र० 1/10/11) तात्पर्य यह कि अपने विरुद्ध पड़ने वाले (हृदय विदारक) कोई असद् व्यवहार भी दूसरों के प्रति मत करो।

(२) सत्य

असत्य वचन बोलने से अपयश फैलता है, परस्पर वैर बढ़ता है और मन में संक्लेश की अभिवृद्धि होती है (प्रश्न० 1/2) इसके विपरीत सत्य स्वयं भगवान है (प्रश्न० 2/2) अतः सदा हितकारी सत्य वचन बोलना चाहिये (उत्त० 19/26) परन्तु इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिये जिससे किसी प्रकार अनर्थ होता है (दश० 7/11) अपने स्वार्थ या परार्थ के लिये पाप युक्त, निरर्थक और मर्मभेदी वचन भी नहीं बोलना चाहिये (उत्त० 1/25) सत्यानुरक्त बुद्धिमान व्यक्ति सभी पाप कर्मों को नष्ट कर देता है (आचा० 1/3/2) अतः जो मतिमान साधक सत्य की आज्ञा में तत्पर रहता है वह मृत्यु के प्रवाह के पार हो जाता है (आचा० 1/3/3) तात्पर्य यह कि वही वचन बोलो जो हित, मित, प्रिय, एवं सत्य हो।

(३) अस्तेय

दूसरों का धन हरण करने वाले मनुष्य निर्दय एवं परभव की उपेक्षा करने वाले होते हैं (प्रश्न० 2/3) अतः परवस्तु का उसके स्वामी की आज्ञा बिना न तो ग्रहण करे न ग्रहण करने का अनुमोदन ही करे दश० 6/13/14) चोरी का माल लेना, स्वयं व्यापार में छिपने–छिपाने रूप जैसे तस्कर प्रयोग करना, राजाज्ञा का उल्लंघन करना, नाप तोल की गड़बड़ या मिलावट आदि सब चोरी के तुल्य हैं (श्रावक–पण्णत्ति 268) अतः इनका भी त्याग करें।

(४) ब्रह्मचर्य

समस्त लोक में दुःख का कारण एक मात्र काम भोगों की वासना है। (उत्त० 32।19) अतः जिन पुरुषों ने स्त्री-संसर्ग और शरीर शोभा को तिलाञ्जलि दे दी है वे सभी विघ्नों पर विजय प्राप्त कर सुसमाधि स्थान में वास करते हैं। (सूत्र० 1/3/4/17) ब्रह्मचर्य उत्तम, तप, नियम ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय का मूल है। (प्रश्न० 2/4) स्वयं भगवान भी है (प्रश्न० 2/4) इसलिये ब्रह्मचारी के चरणों में देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सभी नमस्कार करते हैं (उत्त० 16/16)

(५) अपरिग्रह

पर पदार्थों के प्रति आसक्ति परिग्रह है (दश० 6/20) विश्व के समस्त प्राणियों के लिये परिग्रह ही महान बन्धन है (प्रश्न० 1/15) संग्रह वृत्ति–अन्तर में रहने वाले लोभ की झलक है (दश० 6/18) संग्रह वृत्ति में व्यस्त व्यक्ति अपने वैर की

ही अभिवृद्धि करते हैं। (सूत्र० 1/9/3) परिग्रही व्यक्ति धन के द्वारा न तो इस लोक में अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोक में ही (उत्त० 4/5) अत. संसार की समस्त वस्तुओं से ममभाव तोड़कर उतना ही परिग्रह रखना उचित है जितना कि जीवन निर्वाह के सिद्धान्त के अनुसार आवश्यक है।

श्रमण भगवान महावीर के समग्र जीवन और उपदेश का संक्षिप्त रहस्य दो वाक्यों में आ जाता है—"आचार में पूर्ण अहिंसा" और "तत्वज्ञान में अनेकान्त।" इनके सम्प्रदाय के आचार को और शास्त्र के विचार को इन तत्वों का भाष्य मात्र ही समझा जाना चाहिये।

आचार में पूर्ण अहिंसा से तात्पर्य है-गृहस्थ या श्रावक धर्म के अन्तर्गत 5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत और 4 शिक्षाव्रतों का भली प्रकार परिपालन जिससे कि श्रावक अपने क्रमिक विकास के लिये 11 सीढ़ियों का (ग्यारह-प्रतिमाओं) का अवलम्बन लेकर मुनिदीक्षा धारण करने की योग्यता प्राप्त कर सके। और मुनि दीक्षा लेकर अपनी प्रतिज्ञा के परिपालन के लिये पांच महाव्रत आदि का परिपालन करते हुए अन्त में समाधिमरण पूर्वक शरीर छोड़ने की सक्षमता प्राप्त कर सके।

"तत्व ज्ञान में अनेकान्त" से तात्पर्य है दूर दृष्टि या "चतुर्मुखी दृष्टि"। हमारे वचन मृदु और दृष्टि ऐसी व्यापक और सार्वदेशिक हो जिसके कारण हम दुराग्रही न कहे जा सकें, जो कुछ हम कहते हैं वही सत्य है, शेष असत्य है, ऐसा हमारा आग्रह न हो। कारण कि वस्तु में अनेक धर्म होते हैं, अनेक गुण और तज्जन्य विशेषताएं होती हैं जिनका एक साथ कथन, कठिन ही नहीं असंभव भी है। अतः ऐसे समय में सापेक्ष वृत्ति का सहारा लेना आवश्यक है। उदाहरण के लिये एक महिला भाई की अपेक्षा बहन है, पुत्र की अपेक्षा माता है, पति की अपेक्षा पत्नी है। उस महिला को बहन ही है, माता ही है या पत्नी ही है, ऐसा दुराग्रह के साथ नहीं कहा जा सकता, अन्यथा अनर्थ ही होगा। स्याद्वाद वाणी के द्वारा ऐसी अनेक धर्मात्मक वस्तुओं का सापेक्ष कथन संभव है। 'अनेकान्त' वाच्य है और स्याद्वाद वाचक है। महावीर की यह दूसरी देन है। भारत के पूर्व राष्ट्रपति सुप्रसिद्ध दार्शनिक डा० सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने कहा था कि "भारतीय नीति जैनधर्म के सिद्धान्तों पर आधारित है। भगवान महावीर स्वामी की शिक्षाएं धर्म निरपेक्षता और स्याद्वाद पर आधारित हैं, उनमें संदेहवादिता नहीं है।"

भगवान महावीर समन्वय के स्वयंभू अवतार थे। अतः सभी की सुखद कल्याण कामना को क्रियात्मक रूप देने के लिये उन्होंने अपना सर्वस्व त्याग कर लोक मंगल के लिये कठोर साधना का पथ स्वीकार किया था। महावीर ऐसे आत्म-शास्ता और लोक द्रष्टा थे जिन्होंने विश्व कल्याण के लिये समता मूलक समन्वय संस्कृति का महान सन्देश दिया। समन्वय की भावना को जन जीवन में सार्थक करने के लिये उन्होंने अहिंसा संयम और तप को एक उत्कृष्ट मंगल धर्म बताया। इस मंगल धर्म के परिपालन के लिये उन्होंने एक सम्बोधन मंत्र दिया—"संबुज्झह ! किं न बुज्झह ? (समझो इतना भी क्यों नहीं समझते ?)" कि जन्मान्तर में सम्यक् बोधिका प्राप्त होना बड़ा कठिन है। जैसे बीती रात्रियां कभी नहीं लौटती, वैसे ही पुनः मनुष्य जीवन पाना बड़ा कठिन है। (सूत्रकृ० श्रु०अ०2उ०1 गा० 10,

संसार में प्राणी मात्र के लिये ये चार बातें मिलना अति कठिन है—

1. मनुष्य का जन्म, 2. अच्छे अच्छे वचनों का सुनना, 3. सुने हुए सद् वचनों में श्रद्धा, और 4. संयम में प्रवृत्ति के लिये पुरुषार्थ। इन चारों बातों की प्राप्ति दुर्लभ जानकर उनके प्राप्त होने पर संयम का मार्ग स्वीकार करना चाहिए।

पथानुगामी–पुष्पक (२)

□ श्री निहालचन्द जैन

मगध का 'कुल' नरेश वह,
प्रणत श्रद्धा को समर्पित आर्यजन।
योग्य विधि का योग पाकर दे आहार,
तृप्ति का सब इष्ट लेकर मुदित मन ।।

आत्मरस में लीन अन्तर्लीन हो,
साधना पथ के व्रती वे मौन साधक।
धूल में रजते चरण शुभ लाक्षणों के,
चिन्ह को अभिरेखते बढ़ते अबाधक ।।

पारगामी ज्योतिषी सामुद्रिकी,
ठिठकता सा रह गया यह देखकर।
कौन नंगे पैर यह सम्राट है,
भूल पथ को है गया कैसे अहो ?

राह के भूले सुश्री-सम्राट को,
राज महलों की दिशा दिखलाऊंगा।
चिर नियोगिन दीनता को दे विदा,
कोष का वरदान फिर मैं पाऊंगा ।।

पोथियों का गर्व मुस्काने लगा,
आया स्वयं सौभाग्य मेरे गेह पर।
सुखों के सौ सौ अशीष निछार होंगे,
कान्ति सी झलकेगी कंचन देह पर ।।

चरण चिन्हों को निहारे रजत रज में
खोजता आगे बढ़ा उनके सहारे।
प्राप्ति के आशीष की अभिलालसा–
लगी गढ़ने कल्पना की भाव भाषा ।।

देखता क्या ? सघन तरु की गोद में,
वीर योगी ध्यान मुद्रा योग में।
शिला सिंहासन बना आरूढ़ था,
तप निरत वातावरण कुछ गूढ़ था।

सम्राट के बदले यहाँ कैसा श्रमण ?
निर्वसन कैसा तपस्वी यह दिगम्बर ?

फलित ज्योतिष क्या अधूरी रह गयी ?
पोथियों की व्यर्थता यह कह गयी ।।

दूसरे क्षण आस्था मन की जगी,
भगी प्रज्ञा-क्षुद्रता मन से भगी ।

साधु में निश्चित कहीं सम्राट है,
आत्म-वैभव का यहाँ कुछ ठाठ है ।।

देख चिन्मय शान्त मुद्रा की प्रभा–
प्रायश्चित के द्वार से प्रतिशोध निकला ।

हो चला रूपान्तरित वह प्रेम में
विनत श्रद्धा में समर्पित हो चला ।।

प्रेम करुणा सत्य की जीवन्तता,
क्षीण मोह-राग की ढहती अहन्ता ।

अनन्त दर्शन ज्ञान बल के वीर्यवन्ता,
अरिहन्त पद को प्राप्त करने धीरवन्ता ।।

हाँ ! भ्रमण संसार पथ भूला हुआ था,
यह सोचता पुष्पक प्रणत था ।

जो न पाया था-अभी तक अलभ्य था,
उस प्राप्ति में संकल्प-कृत था ।

धूल के पदचाप के अनुशीलने से,
मिली चिन्मयता सहज निःसीमता ।

यदि चले पथ आपके बन निर्भयी,
कौन अक्षय सुख, रहेगा फिर अछूता ।।

और फिर उद्दाम इच्छा वासनायें,
निर्जरित निःशेष होतीं जा रहीं थीं ।

पोथियों के ज्ञानधारी व्यक्ति की,
ज्ञान की भाषा बदलती जा रही थी ।।

गीत गाना बन्द कर महावीर के,
वीर के पथ का करें यदि अनुशरण ।

भक्त से भगवान हम बन जायेगें,
कर्म से निर्भर उपटन भव-भ्रमण ।।

महावीर की दृष्टि में : शिक्षा, शिक्षक और शिक्षार्थी

प्राचीन ग्रंथकारों की यह परम्परा रही है कि कोई भी ग्रन्थ आरम्भ करने से पूर्व उन्होंने वक्ता और श्रोता का लक्षण किया है। आज के संदर्भ में उसका बहुत बड़ा महत्त्व है। शिक्षा कैसी हो, शिक्षक कैसा हो और शिक्षार्थी भी कैसा हो यह प्रश्न आज राष्ट्र का एक ज्वलन्त प्रश्न है। भगवान महावीर की दृष्टि में इसका क्या समाधान है इसे यहां प्रस्तुत किया है राजस्थान के ही एक शिक्षाशास्त्री एवं पुराने राजनैतिक कार्यकर्ता ने। हमारे विचार में पाठकों के लिए उनकी यह रचना पर्याप्त ज्ञानवर्धक एवं समस्या के समाधान में सहायक होगी।

—प्र० सम्पादक

☐ श्री पं० उदय जैन, कानोड

वर्धमान महावीर की सर्वज्ञ दृष्टि और अनेकांत सृष्टि विश्व के लिये अमूल्य देन है। मैं महावीर की दृष्टि से किसी भी विषय का वर्णन करने में सर्वथा असमर्थ हूं, लेकिन अनेकांत दृष्टि की सर्जना का अनन्तवां भाग जो मुझे प्राप्त हुआ है उसी दृष्टि को महावीर की देन रूप मान कर महावीर दृष्टि मानने को बाध्य हुआ हूं। चूंकि मुझे अपनी दृष्टि में वीर की दृष्टि जिस प्रकार भी भासित हुई है, वही तो मैं लिख बता सकता हूं।

शिक्षा, प्राणि जगत का चैतन्य का विश्व विदित प्रकट रूप है। ज्ञान को ही शिक्षा शब्द से व्यवहृत किया जाता है। अन्तर यह है कि ज्ञान स्वतः भी संपादन किया जा सकता है लेकिन शिक्षा परतः प्राप्त होती है। जो ज्ञान, गुरु, पुस्तक, ग्रन्थ, सूत्र, आगम, दृश्य, श्रव्य एवं जगत के अन्य सभी प्रकार के जड़ और जीव पदार्थों से प्राप्त किया जाता है, शिक्षा बन जाती है। शिक्षा साधनों से प्राप्त की जाती है जब कि ज्ञान आत्मा और साधन दोनों से प्राप्त होता है। साधनों का ज्ञान सीमित होता है। सारे विश्व के तमाम साधनों से प्राप्त ज्ञान का अंत आ सकता है लेकिन स्वात्म भासित ज्ञान अमित और अनन्त होता है। शिक्षा ग्रहण की जाती है जब कि ज्ञान ग्रहण भी किया जाता है और स्वतः भी प्राप्त होता है। तत्वार्थ सूत्र में स्पष्ट कहा है :—"तन्निसर्गादधिगमाद्वा"।

शिक्षा क्यों और कैसी देना चाहिये ? यही प्रथम विचारणीय है। क्या सभी सर्वज्ञक प्राणियों के लिये शिक्षा आवश्यक है ? द्वितीय स्थान पर आता है।

जब प्राणी गर्भस्थ स्थिति में आता है तभी से उसके गर्भ धारण करने वाले प्राणि चाहे वह पशु-पक्षी, मानव हो, अथवा मक्खी, मच्छर आदि अन्य प्राणि हों,

शिक्षा देना प्रारम्भ कर देते हैं या उनकी प्रक्रियाओं से शिक्षा मिलती जाती है। उसके आहार, व्यवहार एवं अन्य सभी क्रियाओं का असर गर्भस्थ पिण्ड पर पड़ता है। जब वह जगत के सन्मुख या उपस्थित होता है, गर्भ से बाहर निकल कर नई सृष्टि का विधान करता है तो उसको गर्भ धारण करने वाली माता सर्व प्रथम उसको लालन पालन की क्रिया से शिक्षा देना प्रारम्भ कर देती है ताकि वह जैसा चाहे वैसा बन सके। सारे उसके प्राप्त संस्कार उस छोटे शिशु प्राणि में जमते जाते हैं। यदि माता यह प्रक्रिया न करे तो आगे जाकर वह प्राणि उस प्राणि समाज की प्रक्रिया में सम्मिलित होकर जीने में बहुत कठिनाई अनुभव करता है या उस प्राणि-समाज से भिन्न स्थिति में पहुंच जाता है जैसे—भंवरा अपने अण्डे देने पर उस पर गुंजार करता रहता है और उन अण्डों से कीड़े बनने में परिवर्तन करने को शिक्षा द्वारा अग्रसर करता है और बाद कीड़े से भंवरे रूप में परिणत कर देता है। वैसे ही भैंस, गाय, शेर, रींछ, मानव, बंदर आदि के किस्से हैं। मानव के गर्भस्थ पिण्ड मादा मानव और नर मानव द्वारा संस्कारों एवं व्यवहारों से शिक्षित किये जाते हैं तभी वे मानव रूप में अपनी सर्जना करने में सफल हो सकते हैं।

वीर, दानी, सुज्ञ, उत्तम पुरुष या अभिमानी जैसा भी मानव या मानवी हम बनाना चाहते हैं उसे गर्भस्थ स्थिति में वैसे ही खाने, पीने, रहने, बसने, निबहने और व्यवहार करने के माता के आसपास में साधन जुटाने पड़ते हैं और गर्भ के बाहर निकलने पर भी वे ही साधन और परिस्थितियां पैदा की जाना परमावश्यक है। अतः प्राणि-निर्माण में शिक्षा का बड़ा महत्व है। आज जो विकास का स्तर है वह शिक्षा का ही कारण है। मानव जैसा विज्ञ प्राणि जितना अधिक विकसित हुआ है वह सभी शिक्षा एवं शैक्षणिक प्रक्रिया से ही सम्भव है। शिक्षा वैसी देनी चाहिये जैसी सर्जना की आवश्यकता है। समय, स्थिति, द्रव्य, क्षेत्र और भाव का ध्यान रखना परम उत्तम है। यदि इनका ध्यान नहीं रखा गया तो जैसा समाज चाहते हैं उसका निर्माण नहीं होगा। अतः यह स्पष्ट है कि सभी प्राणियों के विकास में शिक्षा की परमावश्यकता है।

सबसे विकसित प्राणि मानव और मानवों में दिव्य देव हैं। उनकी शिक्षा कैसी होनी चाहिये और महावीर की देन उनकी शिक्षा के लिये वर्तमान के अनुकूल परिस्थिति क्या हो सकती है? इस मुद्दे पर विचार करने पर हमें विश्व कल्याण की भावना को प्रमुखता देना होगा। मानव जैसा विकसित प्राणि यदि नृशंस एवं क्रूर समाज का निर्माण करता है तो व्यवस्था और शांति का आह्वान कैसे किया जा सकता है? मानव समाज में जिस शिक्षा से व्यवस्था और शांति बनी रहे और मानव स्व-पर का निरंतर विकास करता रहे। वही शिक्षा उत्तम है। जिस शिक्षा से आध्यात्मिक विकास करने में भौतिक विकास बाधक न बने वही शिक्षा ग्राह्य है। भौतिक ज्ञान और भौतिक विकास अपने जीवन व्यवहार के लिये परम ग्राह्य है। आत्म विकास के लिये इन साधनों की भी परमावश्यकता है। सुदृढ़ शरीर में सशक्त आत्मा का वास होता है। साधन संपन्न समाज में कोई दीन हीन नहीं रहता। अतः आत्म विकास में बाह्य साधन भी उपयोगी होते हैं। जो भौतिक विकास की शिक्षाएं विश्व शांति में साधक है, विश्व कल्याण में उपयोगी हैं, वे सभी ग्राह्य हैं। सबसे उत्तम कसौटी किसी भी शिक्षा की यही होनी चाहिये कि "सा विद्या या विमुक्तये" शिक्षा वही जो मुक्ति के लिये हो। बंधन रहित करे। मानव को बंधन का दुःख बहुत बुरा मालूम होता है, वह चाहे भौतिक परिग्रहजात बंधन हो और चाहे वह कर्म बंधन हो, मानव जब अपने चेतन प्रकाश को समझ लेता है तो उसे पाने के लिये सतत प्रयत्नशील

रहता है। प्रयत्न करने में साधक और बाह्य विश्व संरचना पूर्ण सहयोग करती है अतः बाह्य जगत की परिस्थितियां अनुकूल होनी चाहिये और साधन आत्मानुग होने चाहिये। इनकी व्यवस्था बिना सत्समाज संरचना के दुर्लभ है।

मानव सुख की खोज में असंख्य अन्वेषण करता जा रहा है लेकिन लालसाएं बढ़ती जा रही हैं। आवश्यकताएं वृद्धिगत हो रही हैं और आविष्कार भी बढ़ते जा रहे हैं मानव को सच्चे सुख की प्राप्ति हो नहीं पा रही है। इसका प्रमुख कारण सत्य एवं शिव-मंगलकारी शिक्षा का अभाव। महावीर ने जो मुक्ति के लिए शिक्षा का समुज्ज्वल उपदेश दिया। वह विश्व संरचना, सुव्यवस्था और कल्याण के लिए परम ग्राह्य है। *मानव सदुपदेशमय शिक्षा* एव सदवर्तनमय शिक्षा को विशेष प्रशस्त करे। प्राज्ञ पुरुषों को चाहिये कि अपनी आवश्यकताओं की सृष्टि में विश्व कल्याण का प्रथम खयाल रखें। शिक्षा का उद्देश्य आत्म कल्याण और विश्व शांति का होना चाहिए। शिक्षा चाहे पुस्तकीय हो, उपदेशीय हो, श्रव्य हो, भौतिक हो, दृश्यमयी हों, भौगोलिक हों, खगोलिक ऐतिहासिक हों, शारीरिक हों, वैज्ञानिक हों या व्यापारिक हों, जीवन को सानन्द व्यतीत करने में उपयुक्त हों। अभाव अभियोग से दूर हो। व्यवस्था और शांति के निकट हो तथा विकास के अनुकूल हो वैसी शिक्षाएं उपयुक्त हैं। सिनेमा, व्यापार, अभिचार, युद्ध, उद्योग, कृषि, औषधोपचार, न्याय, अभिनय, अथवा अन्य सभी तरह की शिक्षाएं बुरी नहीं होतीं, यदि उनमें आत्म विकास, समाज शांति और विश्व कल्याण की भावना का संपुट लगा हुआ हो। शिक्षा, सदैव वर्तमान रहेगी, जब तक विश्व चलता रहेगा। शिक्षा का होना, शिक्षा का देना और शिक्षा प्रसार करना विश्व संचालन करना है। सभी प्राणियों में अपने-अपने समाज संरचना की शिक्षा का प्रचार है और इसीलिए मानव जैसे विकसित प्राणी—का समाज विशेष स्वस्थ, सुन्दर और कल्याणकारी हो; ऐसी शिक्षा का प्रसार होते रहना चाहिये।

"णाणस्स सव्वस्स पगासणाए"

ज्ञान सर्व प्रकाशक होता है। महावीर ने सीखने के लिए और ज्ञान संपादन के लिये प्रमुख साधन आत्मा के अनुकूल परिस्थिति को माना है। शिक्षा आत्मा में स्वयं निवास करती है उसे जागृत करने के लिये जो प्रयास किया जाता है वही शिक्षा साधन और उपकरण तथा उपाय हैं। शिक्षा इसीलिये आवश्यक है कि साधनों और प्रसाधनों द्वारा आत्मा में रहे हुए ज्ञान कण प्रकट हो जायं। अनंत ज्ञान का पुंज चेतन तत्व है उस चेतना को जागृत करना ही सच्ची शिक्षा है। जीविकोपार्जन करना शिक्षा का लक्ष्य नहीं अपितु जीवन जीना शिक्षा का उद्देश्य है। जीवन जीने में आजीविका आवश्यक है लेकिन आजीविका के लिये शिक्षा लेना जीवन को आजीविका के समर्पण करना है। आजीविका जीवन का साधन है न कि साध्य। महावीर सदा कहते रहे है कि सत्य शिवं सुन्दर की उपलब्धि ही जीवन है। जिस शिक्षा से सत्य और कल्याण तथा सुन्दरता मिलती है वह शिक्षा जीवन को आनंदमयी बनाती है।

गृहस्थ जीवन को चलाने के लिये भी उपयुक्त वस्तुएं आवश्यक हैं। वह व्यापार, उद्योग, सेवा, कला, श्रम, कृषि आदि किन्हीं साधनों से आजीविका उपार्जन करे और उसके निमित्त शिक्षा ग्रहण करे लेकिन उसका सर्वस्व समर्पण आत्म विकास के लिये, जगत की शांति के लिये और विश्व कल्याण के लिये हो।

"ईशावास्यमिद सर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत।
त्येन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यचिद्धनम्॥

यह सम्पूर्ण विश्व और विश्व की वस्तुएं ऐश्वर्यमय जगत की ही हैं। उन्हीं से हम इच्छित

वस्तु प्राप्त कर भोगें लेकिन किसी के मन में दुःख न हों। सभी वस्तुएं सबके लिये हैं। अपने अनुकूल साधनों को आवश्यकतानुसार ग्रहण करें। सभी पर अपना ममत्व न रखें या संग्रहमयी भावना का त्याग कर जीवन व्यवहार करें। यही शिक्षा का मूल उद्देश्य होना चाहिये। शिक्षा यदि परिग्रह बढ़ाती है और दुःख का कारणभूत होती है तो वह सच्ची शिक्षा नहीं।

शिक्षा, साहित्य, संगीत, कला और कृषि आदि सभी प्रकार की होनी चाहिये। शिक्षा जीवन को जीने के लिये होनी चाहिए। शिक्षा से समर्पण भावना पैदा हो ऐसी होनी चाहिये। शिक्षा से संग्रह वृत्ति का विनाश होना चाहिये। जहां यह भावना है वहां सभी शिक्षाएं उत्तम हैं। ऐसी शिक्षा संसार में धर्म की मूल होती हैं। शांति और व्यवस्था की प्रसारक होती हैं। और उत्कर्ष की जननी होती हैं।

वर्तमान की शिक्षा प्रणाली विनय को नाश करती है। ज्ञान संपादन के पवित्र उद्देश्य-समर्पण और मुक्ति से विमुख करती है। स्वयं को आत्म-बोध से वंचित करती है। तड़क भड़क और अंधानुकरण, अनुशासनहीनता और भोग विलास, पारस्परिक कलह और गुटबंदी बढ़ाती हैं और राष्ट्रीय भावना और आपसी प्रेम का नाश करती है। शिक्षा का आज का मूल उद्देश्य आजीविकोपार्जन करना या भोगविलास की ओर गति करना मात्र रह गया है। स्त्री पुरुष का सहशिक्षण बुरा नहीं है। वह स्वात्म ज्ञान से पूरित हो जाय तो सह शिक्षा समाजोत्कर्ष धर्मोत्कर्ष और राष्ट्रोत्कर्ष में बड़ी साधक होती है। इससे आत्मोत्कर्ष भी वृद्धि पाता है।

शिक्षक :

वर्तमान युग में यदि शिक्षा दाता गुरु अपने आपमें पूर्ण विकसित हो जाय तो इस युग की काया पलट ही जाय। किसी भी विषय का निष्णात यदि अपने ज्ञान को वितरण करने की भावना से प्रसार करता है और जीवन में समर्पण भावना को कायम रखता है तो वह सच्ची शिक्षा का दाता शिक्षक कहलाता है। पैसे कमाने की दृष्टि से ज्ञान का वितरण करने वाला अपने आप में अपूर्ण है। वह शिक्षक नहीं, वह तो अभी शिक्षार्थी है। "स्वान्तः सुखाय" का शिक्षक स्व-पर का कल्याणकारी होता है। जो अपने अन्तर हृदय को विकसित करने की भावना रखता है वह दूसरों का अनिष्ट नहीं कर सकता। आजीविकोपार्जन करने का लक्ष्य रखने वाला शिक्षक अनेक दुर्गुणों का भण्डार बन जाता है। यही कारण है कि आज का शिक्षक न तो तुष्ट है और न ज्ञान से पुष्ट है। खाली कमाने जितना ज्ञान का ज्ञाता भार वाहक है।

महावीर की दृष्टि में शिक्षक, ज्ञान और क्रिया का पुतला होना चाहिये। चारित्र और व्यवहार का प्रतीक होना चाहिये। उपाध्याय शब्द का प्रयोग महावीर ने शिक्षक के लिये किया है। जो पास बैठ कर और पास रह कर पढ़ावे। दो घंटे पढ़ाकर या 6 घटे पढ़ाकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मानने वाला शिक्षक नहीं। वह अर्थ भिक्षुक है। पैसों के पीछे बिका हुआ सेवक है। शिक्षार्थी के जीवन की उन्नति का श्रेय अध्यापक को है। शिक्षार्थी को बनाने का श्रेय शिक्षक को है। कुम्भकार जैसे चाहे वैसे बर्तन तैयार करता है उसी तरह शिक्षक जैसे चाहे, वैसे मानव तैयार करता है। जीवन निर्माण की सारी जिम्मेवारी प्रायः शिक्षक की ही होती है।

प्रथम शिक्षक माता, दूसरा शिक्षक पिता, तीसरे शिक्षक आस पास का जगत और जगत के प्राप्त तमाम साधन और चौथा शिक्षक विधिवत जीवन यापन कला का ज्ञान देने वाला होता है। प्रथम और अंतिम शिक्षक की सम्पूर्ण जिम्मेवारी होती है कि वह कैसा मानव शिष्य तैयार करे।

बहत्तर कला में दो ही शिक्षक पूर्ण निष्णात होते हैं। माता और गुरु। अतः मातृ-शिक्षा और शिक्षक शिक्षा का मुख्य ध्येय मानव समाज का नव निर्माण होना चाहिये। मानव समाज का निर्माता ही शिक्षक होना चाहिये।

आत्म ज्ञान का धनी और व्यवहार ज्ञान की परख करने वाला अनुभवी शिक्षक सच्चा शिक्षक है। पुस्तकीय ज्ञान और क्रियात्मक ज्ञान का वर्तमान शिक्षा शालाओं से प्रमाण पत्र प्राप्त कर उससे अपनी आजीविका चलाने के निमित्त पाठन कार्य करने वाला शिक्षक सच्चा शिक्षक कैसे बन सकता है? शिक्षक में निम्न गुण होना आवश्यक है:— 1. अपने आप का ज्ञाता। 2. संसार के सभी विषयों का विज्ञाता। 3. व्यवहार कुशल। 4. धर्म निष्णात। 5. स्वोपजीवी। 6. कुशल प्रशास्ता। 7. समर्पण भावी-त्यागी। 8. विश्वास पात्र। 9. कार्यकुशल। 10. शिष्यों पर पालक वृत्ति। 11. संयमी। 12. अनेकांती। 13. समयाचारी 14. चारित्र सम्पन्न और 15. सेवा भावी।

शिक्षा वितरक शिक्षक अनुभवी बनता जाता है। अपनी विद्याओं को छिपाकर रखने वाला अनुभव हीन हो प्रभाव को खो बैठता है। अतः शिक्षक को अपना ज्ञान सदा फैलाते रहना चाहिये। उसके ये विचार होने चाहिये कि मेरा ज्ञान संसार में व्याप्त हो जाय। जो ऐसे विचार से कार्य करता है वह विश्व-विख्यात बन जाता है।

शिक्षा का अर्थ तालीम, विद्या और इल्म कहलाता है। तालीम प्राप्त विद्यावान और इल्म का धनी विद्वान, शिक्षक उस्ताद, गुरु और मास्टर कहलाता है। आज के शिक्षक का व्यावहारिक अर्थ इतना मात्र है। अतः शिक्षा की परिपाटी में बड़ी तब्दीली और तंगदिली आई है। इसी तंगदिली का परिणाम आज का संपूर्ण विश्व का संचालन है जो प्रगतिकारक होते हुए भी विनाशकारी है। शिक्षा पालने में भी शिक्षक का अर्थ उपयुक्त होता है। अनुशासन चलाने में शिक्षा की अर्थात दंड दिया उलाहना दी, समझाया, इंगित किया, ताड़ना की और तर्जना दी। शिक्षा खाली पढ़ाने के लिये ही होती तो द्वितीय अर्थ शोभनीय नहीं रहता। अतः मैं कहता हूं शिक्षक खाली पढ़ाने और सिखाने के लिये नहीं, अपितु सीख का अर्थ शिक्षा और समझाइश करने के लिए भी है। शिक्षक, नव-शिशुओं, नव बालकों और नवयुवकों को भावी पिता, प्रशास्ता, शिक्षक, कृषक, व्यापारी, डाक्टर, विद्वान, तैराक, योद्धा, ज्योतिषी, खगोलज्ञ आदि बनाता है। निर्माता ही सच्चा शिक्षक है। वह चाहे अनपढ़ पिता और अज्ञ माता के रूप में ही क्यों न हो। पठित पिता और शिक्षित माता के रूप में भी निर्माता ही कहलाता है। दोनों के निर्माण में अन्तर है फिर भी अपने कार्य का बोध पाने वाला शिक्षक इन दोनों में विशेष सबल है। राष्ट्र और विश्व का सच्चा निर्माता सफल शिक्षक है। युग निर्माता भी शिक्षक है। उपदेश को भी शिक्षा कहते हैं। धर्मोपदेशक, धर्म-प्रवर्तक, धर्म गुरु और और धर्माध्यापक भी शिक्षक कहलाते हैं। वे संसार में व्यवस्था और शांति प्रतिष्ठान के लिये मानवों को उपदेश देते हैं।

शिक्षक का उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है। उसे रोजी के बदले अपने उत्तरदायित्व को भुला देना ही शिक्षक का अपराध है। गैर जिम्मेदारी का जो असर शिक्षक समाज में आया है वह शासन की शिक्षा व्यवस्था और नौकरशाही की शिक्षा ही प्रमुख कारण है। सेवक बनाना जहां शिक्षा का उद्देश्य हो वहां शिक्षक कैसे तैयार हो सकते हैं। वहां पैसों के बदले नौकर ही तैयार होंगे। सच्चे गुरु नहीं मिल सकते।

माता का स्नेह और पिता का प्रेम तथा कुटुम्ब का वातावरण देने वाला शिक्षक ही सच्चा शिक्षक होता है। इसीलिए गुरुकुलीय जीवन सदा उत्तम

है। वहीं बच्चे संस्कार संपन्न और पूर्ण निष्णात शिक्षक तैयार हो सकते हैं। "बसे गुरुकुले णिच्चं" शिक्षार्थी के लिये अत्यतावश्यक है और शिक्षक भी कुलपतिलुल्य होने जरूरी हैं।

शिक्षार्थी :

कैसा हो ? इस प्रश्न का उत्तर महावीर के वाङ्मय में निम्न प्रकार है :–

अट्ठहिं ठाणेहिं सिक्खा सीलित्ति वुच्चइ।
अहस्सि रे सयादंते न य मम्ममुदाहरे ॥
नासीले न विसीले, न सया अइलोलुए।
अकोहणे सच्चरए सिक्खा सीलित्ति वुच्चई ॥

शिक्षाशील शिक्षार्थी हर समय हंसी करने वाला न हो गंभीर हो, इन्द्रिय निग्रही हो, मर्मभेदी वचन बोलने वाला न हो, शीलहीन न हो, दुराचारी न हो, चटोरा न हों, क्रोधी न हो, और सत्यानुरत हो। शिक्षार्थी पांच कारणों से शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता।

अह पंचेहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थमा कोहा पमाएणं रोगेणालस्सएणया ॥

अभिमान से, क्रोध से, प्रमाद से, रोग से और आलस्य से। और भी शिक्षार्थी का गुण कहा है।

"जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे
तस्संतिए वेणइयंपउजे।

जिस गुरु के पास शिक्षा ग्रहण करे उसके साथ सतत विनयशील रहे।

न या विमोक्खो गुरू हिलणाए

गुरुजनों की हिलना, निंदा, अवहेलना करने वाले का कल्याण नहीं होता।

महावीर के युग में और आज के युग में गुरु और शिष्य, शिक्षक और शिक्षार्थी की व्याख्या में कोई अन्तर नहीं है। शिक्षक और शिक्षार्थी के जो कर्तव्य पहले थे वे आज भी हैं।

काक चेष्टा, बकोध्यानं, श्वाननिद्रा तथैव च।
अल्पाहारी, विषयत्यागी विद्यार्थी पंचलक्षणम् ॥

नीति वाक्य भी विद्यार्थी के लक्षण को जाहिर करता है। अन्वेषणा में विषय की खोज में काग के समान चेष्टा होनी चाहिये। बगुले की तरह से विषय ग्रहण के लिये ध्यानस्थ रहना चाहिये। और कुत्ते के समान निद्रारत होना चाहिये। जिस तरह काग इधर उधर से आहार गवेषणा की कोशिश करता है सतत प्रयत्नशील रहता है उसी तरह शिक्षार्थी शिक्षा की खोज में निरंतर प्रयत्नशील रहे। जैसे बगुला मच्छी पकड़ने के लिए एक पैर बिना इधर उधर दृष्टि और मन डुलाये खड़ा रहता है उसी तरह शिक्षार्थी एक ध्यान से पढ़ने में दत्तचित्त होना चाहिये विद्या तभी ग्रहण की जा सकती है। इधर उधर दिमाग दौड़ाने वाले को शिक्षा नहीं आ सकती। जिस तरह कुत्ता सोया हुआ भी अनसोया रहता है। जरासी आहट से कान खड़े कर सावधान हो जाता है उसी तरह शिक्षार्थी चमक नींद वाला होना चाहिए अल्पाहारी होना चाहिये। अधिक पेटु नहीं होना चाहिये। अधिक खाने वाला शिक्षार्थी आलसी और रोगी होता है अत विद्या ग्रहण नहीं कर सकता। विषय वासना का त्यागी होना भी परमावश्यक है। चटोरा, लंपटी, कामी, व्यसनी और अन्य विषय-वासना का लोलुपी नहीं होना चाहिये। ऐसा व्यक्ति शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता।

आज का शिक्षार्थी प्रायः इन गुणों से परे है। अधिक दत्त चित्त हो शिक्षा ग्रहण नहीं करना चाहता लेकिन उत्तीर्ण होकर बिना पढ़े, बिना परीक्षा के प्रश्न हल किये प्रमाण पत्र लेना चाहता है। प्रमाण पत्र भी अपने शरीर और आत्मा को परतंत्र बना सुखोपभोग के लिये अर्थोपार्जन हित लेना चाहता है। यही बड़ी बिडम्बना आज के शिक्षार्थी में है। आज का शिक्षार्थी पढ़ने में चेष्टा नहीं करता पार्टी बाजी में लगा रहता है। पढ़ाते समय ध्यान से ग्रहण नहीं करता शिक्षकों की

चक्कियाँ उड़ाता है। पढ़ने में चुस्त नहीं रहता जब मन में आया चोड़ फोड़ में भाग लेता है। सोता है तो ढोल बजाने पर भी नहीं जगता। जगता है तो रात भर सिनेमा, महफिलों, यार दोस्तों की धींगा मस्तियों या नवयुवतियों की छेड़ छाड़ में समय व्यतीत करता है। दिन चढ़े तक सोता है। रात को 1–2 बजे तक सोता है अंग्रेजों की "Early to bed and early to rise, Makes a man healthy, wealthy and Wise". कहावत को भी चरितार्थ करने में अपने आपको पूर्ण असमर्थ पाता है। खाता है तो खाने का ध्यान नहीं रहता है और जो हाथ लगे सभी विषयों और व्यसनों का दास बन जाता है।

अतः महावीर का उद्घोष है कि "छठिए नो पमाइए और समयं गोयम ! मा पमायए। उठो प्रमाद मत करो और एक समय का भी प्रमाद मत करो। तुम चाहे शिशु हो, बालक हो, नवयुवक हो, युवक हो, प्रौढ़ हो और वृद्ध हो सदा शिक्षार्थी की तरह रहो। विश्व से, गुरु से, परिवार से, परि-स्थिति से, और प्रकृति से कुछ सीखो। सदा सीखते रहो। सतत अध्ययनशील रहो। जब तक शरीर में आत्मा है तब तक एक समय भी व्यर्थ न खोओ। अपने भीतर के देव को जगाओ। अपने भीतर की शक्ति को प्रकट करो और विश्व के कण कण में अपने चेतन प्रकाश को फैला दो। पूर्ण बन जाओ।

काल पुरुष महावीर

मदनलाल 'कमल'
(गुना म० प्र०)

हे, तपःपूत !
दुर्द्धर-तप से अनुतापित, तुम्हारी आत्मा,
सहस्र-पुटी भस्मि की तरह
निर्मल से निर्मल तम होगई,
शैथिल्य की काल-रात्रि
आसक्ति के आवरण में सो गई;
तुम,
सामान्य से विशिष्ट,
साधारण से असाधारण,
नर से नारायण,
आत्मा से परमात्मा हो गये,
बाह्य से मुड़कर,
अन्तर में खो गये,

हे, जगत् जयी !
तुमने अष्ट कर्मों की
अनन्त-अक्षौहिणी-सैन्य को पराजित कर,
जन्म, जरा, मृत्यु को जीत लिया,
शाश्वत सुख के सुकुमार-अधरों को
एक नया गीत दिया,
तुमने दुराग्रह के सधि-पत्रों को फाड़ दिया
महा-मुक्ति नगरी में अपना ध्वज गाड़ दिया,
अमृतेश !
तुमने,
श्रद्धा-ज्ञान-आचरण की त्रिवेणी से,
सत्यं-शिवं-सुन्दरम् के अमृत-घट भर दिये,
तीनों लोकों में प्रस्थापित घाटों पर–

सुसज्जित कर दिये
कुण्ड ग्राम से पावा,
देवगढ़ से देलवाड़ा-सबके सब-
उन्हीं घाटों में जड़ दिये,
तुम्हारे कृतित्व की अमरगाथा के प्रतीक
बिम्ब-प्रतिबिम्बों में मढ़ दिये,
हे, कामञ्जयी !
ऋतुओं की वासंती उपत्यकाओं से निकलते,
स्वर्णाभा से आपूर्य,
मृदु कर्णिकाओं से निनादित,
सौन्दर्य की ध्वजा-पताकाओं से युक्त,
मोह के घोड़े जुते,
अति देदीप्यमान रथ में आरूढ़,
पीले परिधान में सुशोभित,
यौवन-मद का दण्ड धारण किये,
अभिसार की शत-सहस्र-चांदनी रातों की–
नाग-पाशों को, अंक में समेटे·कामदेव !
जब तुमसे टकराया,
तब तुमने ब्रह्म में चरण रख
आत्म-तूणीर के एक ही वीतराग
बाण से,
उसका छेदन कर दिया,
लोकालोक को मोद से भर दिया,
हे, काल पुरुष !
संसार के सभी आश्चर्य बौने से लगते हैं,
अपनी ही जड़ता से खुद को ही ठगते हैं,
क्योंकि,
तुम्हारी वाणी से हस्ताक्षरित-कालपात्र,
आज भी,
रंग-बिरंगे-वस्त्रों में रेशमी डोरी से बंधे-
पुकार-पुकार कर कह रहे हैं—
हे, संसार-यात्रा के यात्रियो !
रुको, विराम लो, सुनो,
विभिन्न दृष्टियों के समन्वय के अनेकान्त-सेतु पर
अडिगता से खड़े होकर,
ज्ञान-दर्शन-चारित्र की त्रिवेणी का
आकण्ठ आचमन करो,
अहिंसा, सत्य, अचौर्य,
शील और अपरिग्रह की मणि-मुक्ताओं से-
हृदय को सजाओ,
शुचिता और संयम का-
पाथेय ले जाओ,
कैवल्य की किरणों में-
मुक्ति-मार्ग पाओ,
फिर, आगे जाओ,
तुम-
सामान्य से विशिष्ट
साधारण से असाधरण
नर से नारायण
आत्मा से परमात्मा हो जाओ,

स्वतंत्रता बोध और महावीर

भगवान् महावीर की दृष्टि में स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ क्या था। क्या भगवान् महावीर ने केवल आध्यात्मिक स्वतन्त्रता अथवा मुक्ति पर ही जोर दिया था। शेष स्वतंत्रताएं क्या उनकी दृष्टि में गौण थीं? आज भारत की २७ वर्ष की आजादी का उपभोग करने के बाद भी जो चारों ओर हिंसा और विषमता का जो वातावरण व्याप्त है उसको समाप्त करने में महावीर के सिद्धान्त आज कहां तक कार्यकारी हो सकते हैं। ये हैं ऐसे कुछ प्रश्न जिन पर समुचित चिन्तन आप पायेंगे विद्वान् लेखक की इस रचना में।

प्र० सम्पादक

□ डा० नरेन्द्र भानावत
जयपुर

भगवान् महावीर ने जिस स्वातंत्र्य बोध का अनुभव और निरूपण किया वह सार्वकालिक और सार्वजनीन है। उसे न किसी दिशा में बांधा जा सकता है और न किसी काल में। आत्मकृतित्व और समता भाव उसका मूल आधार होने से वह प्राणिमात्र के लिये मंगलदायी और कल्याणकारी है।

महावीर की स्वतंत्रता विषयक धारणा :

आज हम स्वतंत्रता का जो अर्थ लेते हैं वह सामान्यतः राजनैतिक स्वाधीनता से है। यदि व्यक्ति को अपनी शासन-प्रणाली और शासनाधिकारी के चयन का अधिकार है तो वह स्वतंत्र माना जाता है, पर महावीर ने स्वतंत्रता का यह स्थूल अर्थ ही नहीं लिया। उनकी स्वतंत्रता का अर्थ बहुत सूक्ष्म और गहरा है। समस्त विषय-विकारों से, राग-द्वेष से, कर्मबंध से मुक्त होना ही उनकी दृष्टि में वास्तविक स्वतंत्रता है। महावीर ने अन्तर्मुखी होकर, कठोर साधना कर, यह चिन्तन दिया कि व्यक्ति अपने कर्म और पुरुषार्थ में स्वतंत्र है। उन्होंने कहा—यह आत्मा न तो किसी परमात्म शक्ति की कृपा पर निर्भर है और न उससे भिन्न है। जब वह यह महसूस करती है कि मेरा सुख-दुख किसी दूसरे के अधीन है, किसी की कृपा और क्रोध पर वह अवलम्बित है, तब चाहे वह किसी भी गणराज्य में, किसी भी स्वाधीन शासनप्रणाली में, विचरण करे, वह परतंत्र है।

यह परतंत्रता आत्मा से परे किसी अन्य को अपने भाग्य का नियंता मान लेने पर बनी रहती है। अतः महावीर ने कहा—ईश्वर आत्मा से परे कोई अलग शक्ति नहीं है। आत्मा जब जागरूक होकर अपने कर्ममल को सर्वथा नष्ट कर देती है, अपने में निहित अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त बल का

साक्षात्कार कर लेती है, तब वह स्वयं परमात्मा बन जाती है। परमात्म दशा प्राप्त कर लेने पर भी वह किसी परम शक्ति में मिल नहीं जाती वरन् अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखती है। परमात्मा बनने की इस प्रक्रिया में उसकी अपनी साधना और उसका पुरुषार्थ ही मूलतः काम आता है। इस प्रकार ईश्वर निर्भरता से मुक्त कर भगवान् महावीर ने लोगों को आत्मनिर्भरता की सीख दी।

कर्माधीनता बनाम पुरुषार्थवाद :

कुछ लोगों का कहना है कि महावीर द्वारा प्रस्थापित आत्मनिर्भरता का सिद्धान्त स्वतंत्रता का पूरी तौर से अनुभव नहीं करता। क्योंकि वह एक प्रकार से आत्मा को कर्माधीन बना देता है। पर सच बात तो यह है कि महावीर की कर्माधीनता भाग्य द्वारा नियंत्रित न होकर पुरुषार्थ द्वारा संचालित है। महावीर स्पष्ट कहते हैं-हे आत्मन्! तू स्वयं ही अपना निग्रह कर। ऐसा करने से तू दुखों से मुक्त हो जायगा। यह सही है कि आत्मा अपने कृत कर्मों को भोगने के लिये बाध्य है पर वह इतनी बाध्य नहीं कि वह उसमें परिवर्तन न ला सके। महावीर की दृष्टि में आत्मा को कर्मबंध में जितनी स्वतंत्रता है, उतनी ही स्वतंत्रता उसे कर्मफल के भोगने की भी है। आत्मा अपने पुरुषार्थ के बल पर कर्मफल में परिवर्तन ला सकती है। इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर के कर्म-परिवर्तन के निम्नलिखित चार सिद्धान्त विशेष महत्वपूर्ण हैं—

(1) उदीरणा—नियत अवधि से पहले कर्म का उदय में आना।

(2) उद्वर्तन—कर्म की अवधि और फल देने की शक्ति में अभिवृद्धि होना।

(3) अपवर्तन—कर्म की अवधि और फल देने की शक्ति में कमी होना।

(4) संक्रमण—एक कर्म प्रकृति का दूसरी कर्म प्रकृति में संक्रमण होना।

उक्त सिद्धान्त के आधार पर भगवान् महावीर ने प्रतिपादित किया कि मनुष्य अपने पुरुषार्थ के बल से बंधे हुए कर्मों की अवधि को घटा-बढ़ा सकता है और कर्मफल की शक्ति को मन्द अथवा तीव्र कर सकता है। इस प्रकार नियत अवधि से पहले कर्म भोगा जा सकता है और तीव्र फल वाला कर्म मन्द फल वाले कर्म के रूप में, मन्द फल वाला कर्म तीव्र फल वाले कर्म के रूप में बदला जा सकता है। यही नहीं, पुण्य कर्म के परमाणु को पाप के रूप में और पाप कर्म के परमाणु को पुण्य के रूप में संक्रान्त करने की क्षमता भी मनुष्य के स्वयं के पुरुषार्थ में है। निष्कर्ष यह कि महावीर मनुष्य को इस बात की स्वतंत्रता देते हैं कि यदि वह जागरूक है, अपने पुरुषार्थ के प्रति सच्चा है और विवेकपूर्वक अप्रमत्त भाव से अपने कार्य सम्पादित करता है, तो वह कर्म की, अधीनता से मुक्त हो सकता है, परमात्मदशा (पूर्ण स्वतंत्रता) को प्राप्त कर सकता है।

अहिंसा और स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार :

महावीर ने अपने इस आत्म स्वातंत्र्य को मात्र मनुष्य तक सीमित नहीं रक्खा। उन्होंने प्राणी मात्र को यह स्वतंत्रता प्रदान की। अपने अहिंसा सिद्धांत के निरूपण में उन्होंने स्पष्ट कहा कि प्रमत्त योग द्वारा किसी के प्राणों को क्षति पहुंचाना या उस पर प्रतिबंध लगाना हिंसा है। उनकी दृष्टि में पांच इन्द्रियां, मन, वाणी, शरीर, श्वास और आयु ये दस प्राण हैं। इनमें से यदि किसी एक भी प्राणी की स्वतंत्रता में बाधा पहुंचाई जाती है तो वह हिंसा है। स्वतंत्रता का यह अहिंसक आधार कितना व्यापक और लोक मांगलिक है। जब हम किसी दूसरे के चलने-फिरने पर रोक लगाते हैं तो यह कार्य जीव के शरीर बल प्राण की हिंसा है। जब

सब कहां बरदाश्त था ? समाज में पददलित और उपेक्षित समझी जाने वाली नारी जाति के उद्धार के लिये ही तो उन्होंने अपने साधनाकाल के बारहवें वर्ष में एक कठोर अभिग्रह धारण किया था, कोई राजकुमारी दासी बनी हुई हो, उसके हाथों में सूप हो, जिसके कोने में उड़द के बाकुले पड़े हों, वह देहली के बीच खड़ी हो, हाथों में हथकड़ियां और पैरों में बेड़ियां पड़ी हों, सिर मुण्डित हो, आंखों में अश्रु और ओठों पर मुस्कान हो, वह स्वयं तीन दिन की भूखी हो, भिक्षा का समय बीत गया हो। ऐसी स्थिति में यदि कोई राजकुमारी मुझे भिक्षा देगी तभी मैं आहार ग्रहण करूंगा, अन्यथा भूखा ही रहूंगा।

महावीर को इसी संकल्प में निराहार विचरण करते करते पांच माह पच्चीस दिन बीत गये। इस बीच अनेक राजाओं ने उनकी षटरस व्यंजन की खूब मनुहार की पर उन्हें सिर्फ उदर पूर्ति ही नहीं करनी थी। वे तो पददलित समझी जाने वाली नारी से भिक्षा लेकर उसके पद को गौरवान्वित करना चाहते थे।

महावीर का यह अभिग्रह दासी बनी राजकुमारी चन्दनबाला के हाथों पूरा हुआ। फिर प्रभु महावीर से प्रतिबोध पाकर चन्दनबाला ने दीक्षा अंगीकार की। प्रभु महावीर ने अपने धर्म संघ में पुरुष की भांति नारी को भी सम्मिलित किया। उन्होंने कहा—नारी व पुरुष की आत्मा एक है। पुरुषों की भांति नारियों को भी अपने विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता है। नारी को पुरुष से हेय समझना, अज्ञान, अधर्म और अतार्किक है।

प्रभु महावीर ने कहा-वासना, विकार और कर्मजाल को काट कर नारी मोक्ष की अधिकारिणी बन सकती है। उसे भी निःसंकोच धर्मोपदेश सुनने का वैसा ही अधिकार है जैसा पुरुष को है। प्रभु महावीर की वाणी से प्रेरित हो जयन्ती श्राविका ने उनसे अनेक तात्विक प्रश्न पूछे थे। अपने प्रश्नों का सही समाधान पा जयन्ती ने महावीर के पास दीक्षा अंगीकार की।

प्रभु महावीर की वाणी से प्रभावित हो अनेक नारियों ने साधना का मार्ग अपनाया। यही कारण था कि उनके धर्मसंघ में पुरुष की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक थी। चौदह हजार साधु थे तो छत्तीस हजार साध्वियां, उनसठ हजार श्रावक थे तो तीन लाख अट्ठारह हजार श्राविकाएं।

महावीर की दृष्टि में नारी की मातृत्व शक्ति का बड़ा सम्मान था। उन्होंने माता त्रिशला के अपार वात्सल्य भाव को गर्भ काल में ही अनुभव कर लिया था। इसी कारण वे वैरागी बनकर चुपचाप घर छोड़ कर नहीं गये। अट्ठाइस वर्ष की उम्र में दीक्षा लेने की उन्होंने माता से अनुमति मांगी। जब माता ने अनुमति नहीं दी तो वे पत्नी, मां, बहन, अबोध पुत्री की मूक भावनाओं का आदर कर, दो वर्ष तक और गृहस्थ जीवन में रहे।

भगवान् महावीर ने अपने समय में, स्वातंत्र्य की दिशा में नारी को पुरुष के बराबर आत्म-कल्याण के अधिकार देकर बहुत बड़ी क्रांति की थी। पर बड़े दुख की बात है कि नारी-मुक्ति की दिशा में महावीर का किया गया प्रयत्न आगे चल कर फिर धूमिल पड़ गया। मध्ययुग तक आते-आते नारी बालविवाह, पर्दाप्रथा, अंधविश्वास, दासत्व, निरक्षरता जैसी कुरीतियों में फिर कैद हो गई और उसका व्यक्तित्व दब गया।

18–19वीं शती में नारी-सुधार की दिशा में फिर अनेक आन्दोलन गतिशील हुए। फलस्वरूप भारतीय संविधान में नारी और पुरुष के अधिकारों में किसी प्रकार का भेद नहीं रहा। उसे वयस्क मताधिकार दिया गया जो विश्व-इतिहास में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। बौद्धिक दृष्टि से भारतीय नारी पुरुष की अपेक्षा किसी भी तरह कम नहीं

संसार चक्र के स्त्री और पुरुष दो धुरे हैं । दोनों एक दूसरे के अनुपूरक हैं । एक के अभाव में दूसरा अधूरा है अतः अधिकारिक क्षेत्र में यदि नारी समानता चाहती है तो बुरा क्या है । वर्तमान वर्ष महिला वर्ष है । विश्वभर में नारी के उत्थान के सम्बन्ध में सोचा जा रहा है । युगों युगों से नारी को नर ने उत्पीड़ित किया है । उसे पांव की जूती समझा है । महावीर काल में भी नारी की कोई अच्छी स्थिति नहीं थी । उसे संपत्ति की तरह बाजारों में बेचा जाता था, नीलाम किया जाता था । भगवान महावीर ने नारी के इस क्रन्दन को सुना था और उन्होंने उसके उत्थान के लिए क्या विचार दिए थे इसका परिचय आप प्राप्त कीजिए नारी की ही इस रचना में । उससे अधिक इस विषय पर और कौन अधिकृत रूप से प्रकाश डालने का अधिकारी हो सकता है ।

—प्र० सम्पादक

महिला समाज को महावीर-दर्शन की देन

□ डा० (श्रीमती) शान्ता भानावत
जयपुर

सन् 1975 का वर्ष हम अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष के रूप में मना रहे हैं । इस के दौरान महिलाओं की पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक स्वतंत्रता की क्रियान्विति के विशेष प्रयत्न किये जायेंगे । यह हर्ष का विषय है कि आज के शिक्षित पुरुष वर्ग ने नारी स्वातन्त्र्य के इस महत्व को समझा है और वह भी इस ओर पहल कर रहा है ।

यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि इस समस्या की ओर आज से 2500 वर्ष पूर्व भगवान् महावीर का ध्यान गया था । उन्होंने नारी को केवल आर्थिक और सामाजिक स्वतंत्रता देने की बात ही नहीं कही, वरन् इससे भी आगे बढ़ कर नारी को अपने समग्र व्यक्तित्व का विकास करने के लिये आध्यात्मिक स्वतन्त्रता देने की बात भी कही ।

महावीर कालीन समाज में नारी की स्थिति बड़ी खराब थी । उसे धर्म के बोल सुनने का अधिकार नहीं था । गाजर, मूली, भेड़, बकरियों की भांति वह चौराहों पर खड़ी कर बेच दी जाती थी । बड़े-बड़े सेठ, श्रीमन्त उसे खरीद लेते और उसका उपयोग दासी की तरह करते ।

इस प्रसंग में कुमारी चंदना की उस घटना को हम विस्मृत नहीं कर सकते जब एक सारथी ने उसे चांदी के चंद टुकड़ों के खातिर एक वेश्या के हाथों सौंपा था । वेश्या के घर नित नये भरतार करने और रसीले मादक पदार्थसेवन की बात सुन कुमारी चन्दना का दिल रो पड़ा । उसने उसके साथ जाने से इन्कार कर दिया । तब वह धन्ना श्रेष्ठि के हाथों बेची गई । वहां उसे दासी का काम करना पड़ा ।

चन्दना की भांति न जाने कितनी नारियों को उस समय दासता की जंजीरों में जकड़ कर जीवन बिताना पड़ा होगा । नारी स्वातन्त्र्य के हामी महावीर को यह

(१३)

स्वप्न सुन मुदित हुए सिद्धार्थ
प्राप्त ज्यों हुआ सकल परमार्थ
स्वप्न फल अलग-अलग बतलाय
कहा प्रिय त्रिशला से समझाय

(१४)

श्वेत हस्ती से-बल युत काय
पुष्प माला से—धर्म चलाय
स्वप्न फल लक्ष्मी सुनिए नेक
मेरु पर करें देव अभिषेक

(१५)

चन्द्र फल सबको हो सुखदाय
सूर्य से—तत्सम आभा पाय
कलश द्वय निधियों की खान
मछलियों से-अनेक सुख जान

(१६)

स्वप्न फल सागर-केवल ज्ञान
'स्वर्ग से चय'—फल देव विमान
'जन्म से अवधि ज्ञान युत सोय'
भवन नागेन्द्र स्वप्न फल होय

(१७)

रत्न की राशि कहे-गुणखान
अग्नि निर्धूम सुफल यह जान
'कर्म ईंधन तप अग्नि जलाय,
जीव अति भव्य मोक्ष सुख पाय

(१८)

अन्त मुख हस्ती किया प्रवेश
स्वप्न फल इसका पुण्य विशेष
'वीर प्रभु गर्भ आपके आय,
जगत को सब प्रकार सुखदाय

(१९)

सुदी षष्ठी असाढ़ शुचि मास
गर्भ में आया पुण्य प्रकाश
हुए अतिशय प्रति दिन बेजोड़
रत्न भी बरसे लाख करोड़

(२०)

प्रफुल्लित हुईं बहुत तब मात
देर लगती नहिं दिन के जात
चैत्र शुक्ला तेरस सुखदाय
वीर प्रभु जगती तल पर आय

(२१)

बजाए बिना बज उठे साज
सिंहासन कंप हुआ सुरराज
जान कर जन्म वीर भगवान
इन्द्र ने किया नृत्य अरु गान

(२२)

भक्तिवश अति उछाह उमगाए
मेरु पर ले जा अति हर्षाय
किया क्षीरोदधि जल अभिषेक
दर्श हित नयना किए अनेक

(२३)

बुद्धि, बल युक्त वीर, गंभीर
बालपन ही से थे अति वीर
देव संगम बन आया सर्प
वीर ने तोड़ा उसका दर्प

(२४)

विजय, संजय मुनि शंका दूर
हुई तो हुए भक्ति भरपूर
दिया तब प्रभु को 'सन्मति' नाम
जयतु जय वर्धमान सुखधाम

वीर गर्भावतरण तथा जन्मोत्सव

□ श्री नन्दकिशोर जैन
लखनऊ

(१)

हुए लगभग छब्बीस सौ साल
बीतने को था चौथा काल
हमारी भारत भूमि विशाल
दुखों से पीड़ित थी बेहाल

(२)

स्वार्थपरता छल-छिद्र अपार
झूठ, हिंसा अरु मायाचार
प्राप्ति भोगों की किसी प्रकार
बने थे जीवन के आधार

(३)

पाप से पूरित थे सब कर्म
यज्ञ में पशु-बलि ही था धर्म
किसी विधि ढोते जीवन भार
दास बिकते थे बीच बजार

(४)

समझकर निज को केवल काय
तनिक से दुख में अति अकुलाय
कुदेवादिक को भजते जाय
भ्रमित जन करते व्यर्थ उपाय

(५)

दुखों से विकल हुई अति सृष्टि
हुई तब जग पर मंगल वृष्टि
स्वप्न सुन्दर सोलह मनुहार
हुए त्रिशला माँ को सुखकार

(६)

सजाए मोहक सुन्दर साज
सप्त सुंडों से युत गजराज
इन्द्र धनुषी नभ-पथ से आय
श्वेत ऐरावत अति मन भाय

(७)

दिखे फिर दो सुन्दर वृषभेष
सिंह-थे जिसके स्वर्णिम केश
कमल राजित लक्ष्मी मनुहार
ढोरते थे गज द्वय जलधार

(८)

दिखीं दो अति सुन्दर बनमाल
चन्द्र-ज्योतिर्मय, पूर्ण विशाल
मिटाता अन्धकार का जाल
सूर्य आभामय निकला लाल

(९)

कलश दो स्वर्णिम शोभायुक्त
तैरता मीन युगल हो मुक्त
सरोवर पंकज युक्त ललाम
तरंगायित सागर अभिराम

(१०)

स्वप्न पंखों पर क्रमशः चित्र
बदल कर आते रहे विचित्र
स्वर्ण सिंहासन शोभावान
और फिर अनुपम देव विमान

(११)

भवन नागेन्द्र दिव्य मनुहार
चमकती रत्न राशि सुखकार
सोलहवाँ स्वप्न अग्नि-निर्धूम
मातु की गया चेतना चूम

(१२)

अन्त इक उतरा स्वप्न विशेष
दिखा निज मुख में हस्ति प्रवेश
प्रात उठ अति उछाह मन लाए
स्वप्न-फल पूछा प्रभु ढिग जाए

सार्थकता तब है जब कि वे उपयोगिता पर आधारित हों। जिस व्यक्ति में सद्गुण स्वभाव में परिवर्तित हो जाते हैं वह बिना किसी आदेश अथवा ऊपरी नियन्त्रण के सही मार्ग पर चलने वाला बन जाता है और वह अपना ही नहीं समूचे जगत का कल्याण करने का सहायक बनता है। राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, आदि सभी के महापुरुष बनने का आधार दृढ़ प्रतिज्ञ हो कर सदाचारी जीवन व्यतीत करना ही रहा है। महात्मा गांधी का जीवन एक ऐसा उदाहरण है जिसने वर्तमान युग में भी नैतिकता और सदाचार को सुख और शान्ति के लिये जीवन का अनिवार्य अंग सिद्ध किया है।

भगवान महावीर ने धर्म के नाम पर होने वाले हिंसक कार्यों का विरोध किया तो अहिंसा दर्शन को राष्ट्रीय क्षेत्र तक सर्वव्यापी बनाने का श्रेय राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को मिला है। भगवान महावीर ने कहा था कि सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता इसलिये किसी भी प्राणी की हिंसा न करना ही ज्ञानी होने का सार है। उन्होंने अहिंसा को इसलिये भी आवश्यक बताया कि अहिंसा की प्रवृत्ति से ही हिंसक से विरक्ति हो सकती है तथा हिंसा की निवृत्ति से ही दया, करुणा और वात्सल्य आदि की ओर आकृष्ट हुआ जा सकता है।

भगवान महावीर ने अहिंसा को वीरों का भूषण और धर्मों में परमधर्म बताया है इसीलिये महावीर की अहिंसा को वीरों की अहिंसा कह कर संबोधित किया जाता है। आचार्य विनोबा ने दया-भाव, समता, तथा निर्भयता तीनों के सामूहिक स्वरूप को अहिंसा की संज्ञा दी है तो महात्मा गांधी ने भी शान्ति, संतोष तथा तृप्ति अहिंसा से ही संभव मानी है। अतः यह तो स्पष्ट है कि अहिंसा तारक है और हिंसा मारक है, अहिंसा आत्मा को परमात्मा बना सकती है तो हिंसा आत्मा का घोर पतन कर देती है।

इस प्रकार अहिंसा सिद्धान्त की उपयोगिता तो निर्विवाद है और सभी धर्मों ने इसे सिद्धान्ततः स्वीकार भी किया है लेकिन जैनाचार में इसका कुछ विशेष महत्व रहा है। इसका कारण मुख्य रूप से भगवान महावीर द्वारा दिया गया अहिंसा का भव्य स्वरूप है। जैन धर्म अनेकान्त वाद से अनुशासित है और यदि अनेकान्त की कसौटी पर हिंसा-अहिंसा की जांच की जाय तो सिद्ध होगा कि जब एक जीव जड़ चेतन विश्व से भिन्न अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है तो एक जीव हिंसक और दूसरा हिंस्य इस प्रकार का द्वैत ही उत्पन्न नहीं होता। जीव का प्रति समय का उत्पाद-व्यय ही जीवन मरण होता है और यही क्रम बना रहता है। यदि अनेकान्त के प्रकाश में वस्तु स्थिति को देखा जाय तो ऐसा लगता है कि इसका लोक-व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं है।

आज हिंसा और अहिंसा का स्वरूप केवल बाह्याचार में संकुचित हो गया है और इसी का परिणाम है कि आज अविवेक परकाष्ठा पर है। मन में चाहे कितने ही खराब विचार पैदा हों लेकिन यदि उनके परिणामस्वरूप पीड़ा नहीं हुई तो हिंसा नहीं मानी जाय। लोगों के यह विचार न केवल जैन दर्शन से अपितु भारतीय दर्शन के भी विपरीत है। मन में किसी को पीड़ा देने का विचार भी हिंसा माना जाता है और इसी से द्वेष और दम्भ भावना पैदा होती है। अहिंसा के लिये तो यह आवश्यक है कि मन, वचन, और कर्म से कोई ऐसा व्यवहार किया ही न जाय कि जिससे किसी को तनिक भी आघात पहुंचे। भारत ने अहिंसा के बल पर दासता की बेड़ियों से मुक्ति ही प्राप्त नहीं की बल्कि विश्व भर में वह सम्मान प्राप्त किया है जो किसी अन्य देश को नहीं है। विश्व में शान्ति का अग्रदूत भारत को ही माना जाता है और विश्व शान्ति की यह भावना अहिंसा के सिद्धान्त से ही प्रेरित है।

जैनाचार का प्राण अहिंसा है। अहिंसा ही वह धुरी है जिसके चारों ओर जैन आचार शास्त्र के नियम घूमते हैं। हमारे किसी भी आचार का जैनाचार शास्त्र के अनुसार मापदण्ड यह होगा कि उसमें अहिंसा या हिंसा का अंश कितना है। यहां तो हिंसा के अतिरिक्त कोई पाप है ही नहीं। राग,द्वेष और अज्ञान के वशीभूत किया गया प्रत्येक चिंतन, वचन और कार्य हिंसा ही है फिर चाहे वह चिंतन, वचन और कार्य दूसरे का अहित करे या न करे। यह ही जैन अहिंसा की परिभाषा की विशेषता है। आवश्यक है कि आज अर्थ प्रतिष्ठा के स्थान में आचार को प्रतिष्ठित किया जाय, महत्वपूर्ण समारोहों में उच्च पदों पर धनिकों को बिठाने के स्थान में आचारवान् सेवकों को बिठाया जाय।

—प्र० सम्पादक

अहिंसा और सदाचार

☐ श्री प्रकाश पाटनी

भारतीय संस्कृति में जैन संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान है। जैन संस्कृति में पांच व्रतों की व्यवस्था है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। इनमें से अहिंसा इन सब व्रतों का मूल आधार है और सभी धर्मों में चाहे वह जैन हो या मुसलमान इसे विश्व शान्ति और बन्धुत्व के लिये आवश्यक बताया गया है।

अहिंसा मनुष्य की महान साधना है और प्रत्येक साधक ने जीवन की सफलता के लिये इसे आवश्यक माना है। अहिंसा का मूल मंत्र "जीयो और जीने दो" है और इसका पालन मन, वचन और कर्म तीनों से हो तभी इसकी सार्थकता है।

अहिंसा के वैसे अनेक पहलू हैं। एक पहलू हिंसा न करने का है और दूसरा पहलू किसी भी प्राणी को स्वार्थवशीभूत होकर न सताने का है। पशुओं के प्रति करुणा और पशुहिंसा का विरोध भी अहिंसा का ही एक स्वरूप है तो आध्यात्मिक और भौतिक पहलुओं का समन्वय भी अहिंसा का ही मार्ग है।

साधारणतया अहिंसा को भगवान महावीर की देन मानते हैं लेकिन जैन संस्कृति के अध्ययन से पता चलेगा कि अहिंसा तो जैन आचार का प्रमुख अंग है। भगवान महावीर के जन्म से पहले भी अहिंसा के सिद्धान्त को धर्म में महत्वपूर्ण स्थान था लेकिन इस सिद्धान्त को शान्ति और सद्भावना का आधार बनाने की दृष्टि से उन्होंने अपने उपदेशों में अहिंसा को सर्वाधिक महत्व दिया।

विवेक, साहस, संयम तथा न्याय मानवीय चरित्र के श्रेष्ठ गुणों में माने जाते हैं और अहिंसा इन सब गुणों की जननी है। बुद्धि की स्थिरता जहां व्यक्तिगत सद्गुणों का प्रतीक है वहां नैतिकता का उच्चतम आदर्श भी है।

आचार विज्ञान के अनुसार सद्गुणों को व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है। व्यावहारिक सद्गुण जहां खराब प्रवृत्तियों को तिरस्कृत करने में सहायता देते हैं वहां सैद्धान्तिक सद्गुण व्यक्तित्व के विशुद्ध तर्कात्मक विकास के लिये सहायक होते हैं। सैद्धान्तिक सद्गुणों की

दृष्टि से ही, उसका सच्चा व समग्र ज्ञान किया जा सकता है। यह सोचकर व्यक्ति को मताग्रही होना चाहिए। उसे यह सोचना चाहिए कि वह जो कह रहा है वह सत्य है, पर दूसरे जो कहते हैं उसमें भी सत्यांश है। ऐसा समझकर दृष्टि को निर्मल, विचारों को उदार और दिल को विशाल बनाना चाहिए। हमारे संविधान में धर्मनिरपेक्षता का जो तत्व समाविष्ट हुआ है, वह इसी वैचारिक सापेक्ष चिन्तन का परिणाम प्रतीत होता है।

स्वातंत्र्य बोध और कर्तव्यनिष्ठा :

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि महावीर का स्वातंत्र्य बोध यद्यपि आत्मवादी चिन्तन पर आधारित है पर वह जीवन के सभी पक्षों-आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि-को सतेज और प्रभावी बनाता है।

स्वतंत्रता के 27 वर्षों बाद भी हम विभिन्न स्तरों पर स्वतंत्रता की सही अनुभूति नहीं कर पा रहे हैं। इसका मूल कारण स्वतंत्रता को अधिकार-प्राप्ति तक ही सीमित रखकर, समझना है आज जब हम देश की वर्तमान स्थिति पर दृष्टिपात करते हैं तो चारों ओर अशांति, हिंसा, अनुशासनहीनता, महंगाई, कालाबाजारी जैसी प्रवृत्तियां सिर उठाये खड़ी दीखती हैं और व्यक्ति जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने में भी अपने आपको समर्थ नहीं पाता है। वह स्वतंत्र होकर भी अपने आपको परवश और पराधीन महसूस करता है। यह स्थिति किसी भी राष्ट्र के लिए विस्फोटक और भयावह है।

वस्तुतः स्वतंत्रता मात्र अधिकार नहीं है। यह एक ऐसा भाव है, जो व्यक्ति को सर्वांगीण विकास के लिए उचित अवसर, साधन और कर्म करने की शक्ति प्रदान करता है। यह भाव अपने कर्तव्य के प्रति सजग और सक्रिय बने रहने से ही प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु दुःख इस बात का है कि आज हम अपना कर्तव्य किये बिना ही अधिकार का सुख भोगना चाहते हैं। इसी का परिणाम है-आज की यह दुर्व्यवस्था।

इस दुर्व्यवस्था और संकट से निपटने के लिए हमें बाहर नहीं, भीतर की ओर देखना होगा। बाहर से हम भले ही स्वतंत्र और स्वाधीन लगें, पर भीतर से हम छोटे-छोटे स्वार्थों, संकीर्णताओं और अंधविश्वासों से जकड़े हुए हैं। शरीर से हम स्वतंत्र लगते हैं पर हमारा मन स्वाधीन नहीं होता, व्यक्ति की कर्मशक्ति सही माने में जागृत नहीं होती और वह अपने कर्तव्य पथ पर निष्ठापूर्वक बढ़ नहीं पाता। मन की स्वाधीनता के लिए आवश्यक है-विषय-विकारों पर विजय पाना और यह तब तक संभव नहीं, जब तक कि व्यक्ति आत्मोन्मुखी न बने।

आज की हमारी सारी कार्यप्रणाली का केन्द्र कर्तव्य न होकर, अधिकार बना हुआ है। शक्ति का स्रोत सेवा न होकर, सत्ता है। प्रतिष्ठा का आधार गुण न होकर, परिग्रह है। जब तक यह व्यवस्था रहेगी, तब तक हम स्वतंत्रता का सही आस्वादन नहीं कर सकते। हमें इस व्यवस्था को बदलना होगा और इसके लिए चाहिए, तप, त्याग, बलिदान और कर्तव्य के प्रति अगाध निष्ठा।

हम किसी प्राणी के बोलने पर प्रतिबंध लगाते हैं तो यह वचन बल प्राण की और जब हम किसी के स्वतंत्र चिन्तन पर प्रतिबन्ध लगाते हैं तो यह मनोबल प्राण की हिंसा है। इसी प्रकार किसी के देखने-सुनने आदि पर प्रतिबंध लगाना विभिन्न प्राणों की हिंसा है। कहना नहीं होगा कि हमारे संविधान में मूल अधिकारों के अन्तर्गत लिखने बोलने, गमनागमन करने आदि के जो स्वतंत्रता के अधिकार दिये गये हैं, वे भगवान् महावीर के इसी स्वातंत्र्य बोध के परिणाम हैं।

स्वातंत्र्य बोध और सामाजिकता :

भगवान् महावीर का स्वातन्त्र्य बोध उनकी व्रत-साधना के माध्यम से सामाजिक जीवन-पद्धति से जुड़ता है। अहिंसा के साथ-साथ सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, इच्छा परिमाण आदि व्रत व्यक्ति को संयमित और अनुशासित बनाने के साथ-साथ दूसरों के अधिकारों की रक्षा और उनके प्रति आदर भाव को बढ़ावा देते हैं। अचौर्य और इच्छा परिमाण व्रतों की आज के युग में बड़ी सार्थकता है। अचौर्य व्रत व्यवहार-शुद्धि पर विशेष बल देता है। इस व्रत में व्यापार करते समय अच्छी वस्तु दिखाकर घटिया दे देना, किसी प्रकार की मिलावट करना, झूठा नाप तौल तथा राज-व्यवस्था के विरुद्ध आचरण करना निषिद्ध है। यहां किसी प्रकार की चोरी करना तो वर्जित है ही, किन्तु चोर को किसी प्रकार की सहायता देना या चुराई हुई वस्तु को खरीदना भी वर्जित है। आज की बढ़ती हुई तस्कर वृत्ति, चोरबाजारी, रिश्वतखोरी, टैक्स-चोरी आदि सब महावीर की दृष्टि से व्यक्ति को पाप की ओर ले जाते हैं, उसे पराधीन बनाते हैं। इन सबकी रोक से ही व्यक्ति स्वतंत्रता का सही अनुभव कर सकता है।

महावीर की दृष्टि में राजनैतिक स्वतंत्रता ही मुख्य नहीं है। उन्होंने सामाजिक व आर्थिक स्वतंत्रता पर भी बल दिया। उन्होंने किसी भी स्तर पर सामाजिक विषमता को महत्व नहीं दिया। उनकी दृष्टि में कोई जन्म से ऊंचा-नीचा नहीं होता। व्यक्ति को उसके कर्म ही ऊंचा-नीचा बनाते हैं। उन्होंने परमात्म-दशा तक पहुंचने के लिये सब लोगों के लिये साधना के द्वार खोल दिये। उनके धर्म संघ में कुम्हार, माली, चाण्डाल आदि सभी वर्ग के लोग थे। उन्होंने चन्दनबाला जैसी साध्वी को अपने साध्वी संघ की प्रमुख बनाकर नारी जाति को सामाजिक स्तर पर ही नहीं, आध्यात्मिक साधना के स्तर पर भी पूर्ण स्वतंत्रता का भान कराया।

गृहस्थों के लिए महावीर ने आवश्यकताओं का निषेध नहीं किया। उनका बल इस बात पर था कि कोई आवश्यकता से अधिक संचय संग्रह न करे क्योंकि जहां संग्रह है, आवश्यकता से अधिक है, वहां इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कहीं आवश्यकता भी पूरी नहीं हो रही है। लोग दुखी और अभावग्रस्त हैं। अतः सब स्वतंत्रता पूर्वक जीवनयापन कर सकें इसके लिए इच्छाओं का संयम आवश्यक है। यह संयमन व्यक्ति स्तर पर भी हो, सामाजिक स्तर पर भी हो और राष्ट्र-स्तर पर भी हो। इसे उन्होंने परिग्रह की मर्यादा या इच्छा का परिमाण करना कहा। इससे अनावश्यक रूप से धन कमाने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगेगा और राष्ट्रों की आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता रुकेगी। शोषण और उपनिवेशवाद की प्रवृत्ति पर प्रतिबंध लगेगा।

महावीर ने कहा जैसे सम्पत्ति आदि परिग्रह हैं वैसे ही हठवादिता, विचारों का दुराग्रह आदि भी परिग्रह है। इससे व्यक्ति का दिल छोटा और दृष्टि अनुदार बनती है। इस उदारता के अभाव में न व्यक्ति स्वयं स्वतंत्रता की अनुभूति कर पाता है और न दूसरों को वह स्वतंत्र वातावरण दे पाता है। अतः उन्होंने कहा–प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है। उसे अपेक्षा से देखने पर ही, सापेक्ष

रही। आज हमारे देश में प्रधान मन्त्री एक महिला है। यहां स्त्रियां राजदूत, राज्यपाल रह चुकी हैं। वे मंत्री, संसद सदस्य, इंजीनियर, पायलेट, छातावारी सैनिक, सभी कुछ हैं, रोजगार के सभी क्षेत्र उसके लिये खुले हैं। भारतीय नारी परिश्रम से भी चुराने वाली भी नहीं है। प्रतियोगी परीक्षाओं में वे पुरुषों से भी आगे बढ़ रही हैं।

इतना होने पर भी आज जब हम अपने पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन पर दृष्टि डालते हैं तो हमें चारों ओर अशांति, अनैतिकता, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, भाई भतीजावाद के दर्शन होते हैं। आज के मानव का लक्ष्य येन-केन प्रकारेण धन कमाना ही बन गया है। धन की तृष्णा उसके मन में दिनरात बढ़ती जा रही है। वह हजारपति है तो लखपति बनना चाहता है और लखपति है तो करोड़पति। व्यक्ति की ये बढ़ती हुई इच्छाएं उसे अनैतिक कार्य करने की ओर प्रवृत्त करती हैं। उन्हीं के वशीभूत हो वह गरीबों का पेट काट कर अपना घर भरता है। देश में बढ़ती हुई जनसंख्या, मंहगाई, बेकारी विलासप्रियता, फैशनप्रियता आदि ने व्यक्ति को पथभ्रष्ट कर दिया है। आज मानव की दृष्टि भी विकारग्रस्त बन गई है। उसे गन्दे अश्लील चित्र देखने में आनन्द आता है। आज व्यक्ति के विचार भी विकारग्रस्त बनते जा रहे हैं। वह स्वयं खाना, पीना और मौज करना चाहता है। दूसरे को खाते पीते देख वह स्वयं उससे ईर्ष्या करता है। वृद्ध मातापिता की सेवा-सुश्रूषा में उसे लज्जा की अनुभूति होती है। आज का व्यक्ति विनय को तिलांजलि दे, उच्छृंखल बनता जा रहा है।

इन सब दुष्प्रवृत्तियों का परिणाम यह हो रहा है कि हमारे जीवन में घोर निराशाएं, कुण्ठाएं व्याप्त हो गई हैं। बौद्धिक और आर्थिक जगत् में हमने आशातीत प्रगति की है जिससे हमें काफी भौतिक सुख-सुविधाएं मिलने लगी हैं। पर हमारे विवेक, श्रद्धा और चारित्र का स्रोत सूख जाने से मानसिक शान्ति नष्ट हो गई है। मानसिक शांति ही सब सुखों का मूल है। दुनिया की समस्त भोगसामग्री व्यक्ति को उपलब्ध है पर यदि उसकी आत्मा को शांति नहीं तो वह विपुल सामग्री उसके लिए क्लेशकारी होगी। इसी मानसिक शांति को प्राप्त करने के लिये परिवार, समाज और राष्ट्र में व्याप्त सभी कुरीतियों को दूर करना होगा।

इन कुरीतियों को दूर करने में नारी ही विशेष पहल कर सकती है। वही परिवार और समाज की केन्द्र है। प्रकृति से उसका कार्यक्षेत्र बाहरी नहीं, भीतरी है। वही घर की आंतरिक समस्याओं को सुलझाती है। यदि उसकी दृष्टि सम्यक् होगी तो वह कम आमदनी में घर का खर्च चला लेगी। वह फैशन और विलास की सामग्री तथा अनैतिक तरीके से कमाये गये धन का स्वागत नहीं कर, भ्रष्टाचार की बाढ़ को रोकने का प्रयत्न करेगी। परिवार को उच्छृंखल नहीं बनने देगी। पारिवारिक सदस्यों में विनय, क्षमा, प्रेम, धृति, जैसे गुणों का विकास करेगी। इन गुणों का विकास वह भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह परिमाण व्रत से कर सकती है।

यहां संक्षेप में उनका परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—

(1) अहिंसा :

नारी को अहिंसा में पूरा विश्वास रखना चाहिये। अहिंसा शब्द का अर्थ है-किसी की हिंसा नहीं करना, किसी को नहीं मारना। हिंसा का मुख्य कारण प्रमाद है। ये प्रमाद पांच प्रकार के होते हैं-(1) इन्द्रियों की विषयासक्ति, (2) क्रोध, मान माया आदि मनोवेग (3) आलस्य व असावधानी (4) निन्दा, (5) मोह-राग-द्वेष आदि। ये पांचों प्रमाद हृदय को विकृत बनाते हैं जिससे अमैत्री और

कलह की वृद्धि होती है। इसलिये नारी को सदैव इन प्रमादों से दूर रहना चाहिये उसे सोचना चाहिये-सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं। जैसा व्यवहार मुझे अपने लिये पसन्द नहीं है, वैसा व्यवहार मुझे दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिये।

क्रोध में आकर बिना कारण बच्चों को मारना-पीटना, दंड देना, गाली देना, उनके प्राणों को कष्ट पहुंचाना भी हिंसा है। अपने को दूसरों से बड़ा मान कर घमण्ड करना, किसी का अपमान करना, किसी के गुप्त रहस्य को प्रकट करना, कपटपूर्वक व्यवहार करना, विषय-भोग की वस्तुओं का संग्रह करना, आमोद और स्वाद के वशीभूत होकर शराब, मांस, आदि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करना या सेवन करने वाले की सराहना करना भी हिंसा है।

मुसीबत में घबराकर, या क्रोध में आकर आत्मघात करना भी हिंसा है, क्यों कि आत्मघाती भय, क्रोध, अपमान, लोभ, कायरता आदि दुर्गुणों से प्रेरित होकर हिंसा करता है। ये दुर्गुण सद्गुणों का नाश करते हैं। इसलिये महिलाओं को ऐसे कुकर्म से बचना चाहिये।

(2) सत्य :

महिलाओं को सत्य में पूर्ण निष्ठा रखनी चाहिये। घर में किसी सदस्य की झूठी प्रशंसा करना, जाली हस्ताक्षर करना, घर में किसी दूसरे की वस्तु रखकर उसे देने से इन्कार करना, किसी की झूठी बात बनाना जैसी दुष्प्रवृत्तियों से नारी को बचना चाहिये। परिवार को झूठे आचरण से बचाने के लिये स्वयं के जीवन को पूर्ण सत्यनिष्ठ बनाना उसका प्रथम कर्तव्य है।

(3) अचौर्य :

महिलाओं को किसी प्रकार के चौर्य कर्म में सहायक नहीं बनना चाहिये। चोरी ही समस्त बुराइयों की जड़ है। इसी से समाज में अनैतिकता फैलती है। किसी पड़ोसी या अन्य किसी की चीज बिना उससे पूछे चोर वृत्ति से लेना, चोरी का माल खरीदना, चोर को चोरी करने में किसी प्रकार की मदद देना, नकली वस्तु को असली बताना, मिलावट करना, नाप-तोल में धोखे बाजी करना, टैक्स चोरी करना ये सब चोरी है। यदि परिवार के व्यक्ति मिलावट या धोखाधड़ी का कार्य करते हों तो उनकी इस वृत्ति को रोकना नारी का प्रथम कर्तव्य है। इस व्रत के पालन से सम्पत्ति का अपहरण मिटकर न्याय-नीति का प्रसार होता है।

आज महिलाओं में तस्करवृत्ति से लाई गई विदेशी वस्तुएं खरीदने की प्रवृत्ति बहुत ज्यादा बढ़ गई है। यह भी बहुत बड़ी राष्ट्रीय चोरी है। इस चोरी से स्वावलम्बन की भावना को ठेस पहुंचती है। अतः इसकी रोकथाम में महिलाओं को प्रभावकारी भूमिका निभानी चाहिए।

(4) ब्रह्मचर्य :

नारी को ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए स्वपति संतोष रखना चाहिये। आज पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव में हमारे देश की नारियों में भी सेक्स को खुली छूट की मांग बढ़ती जा रही है। सस्ते प्रेम के नाम पर कई घृणित और कुत्सित व्यापार चलते हैं। फलस्वरूप समाज और राष्ट्र में अनैतिकता पनप रही है। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाली नारी नग्न नृत्य, अश्लील गायन, वेश्यावृत्ति तथा अन्य कुत्सित चेष्टाओं से सदैव दूर रहती है। उसका एक मात्र लक्ष्य रहता है-प्राण जाय पर शील धर्म न जाय शील धर्म की रक्षार्थ उसे प्राण भी गवाने पड़े तो वह हिचकती नहीं। नारी के शील और संयम-पालन से पूरे परिवार को संस्कारशील बनाने में बड़ी मदद मिलती है। अपने चरित्र से वह पूरी पीढ़ी को प्रभावित करती है।

(5) परिग्रह-परिमाण :

इस व्रत की पालना करने वाली नारी में धन के प्रति आसक्ति नहीं होती। वह धन-धान्य की निश्चित मर्यादा कर लेती है। उससे अधिक धन का संग्रह वह नहीं करती। यों तो इच्छाएं आकाश के समान अनन्त होती हैं पर धन, धान्य, सोना-चांदी आदि की निश्चित मर्यादा कर वह बढ़ती हुई इच्छाओं पर अंकुश लगा लेती है। इस के पालन से समाज में आर्थिक विषमता मिट कर समता व शांति का प्रसार होता है। समाज में व्याप्त अपहरण, शोषण, चोरी आदि बुराइयां इससे रुकती हैं।

इस प्रकार जीवन में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-परिमाण आदि व्रत धारण करने से परिवार और समाज में प्रेम, आत्मीयता, सहृदयता, विश्वास, प्रामाणिकता, नैतिकता, समता आदि सद्गुणों की भावना का प्रचार प्रसार होता है। जीवन अनुशासित, नियमित और कर्त्तव्यनिष्ठ बनता जाता है।

नारी सदा से सेवा परायण, सहनशील और त्याग की मूर्ति रही है। इस महिला वर्ष में जहां हमें नारी को बाह्य कुरीतियों से मुक्त करना है, वहां उसके आंतरिक जगत् को विकसित करने के भी सुनियोजित प्रयत्न करने आवश्यक हैं। क्योंकि सदाचार, नैतिकता, ईमानदारी, कर्त्तव्यपरायणता जैसे गुण उसके आंतरिक जगत् में ही स्थिर रहते हैं। और उसीसे विकसित होकर उन्हें बाह्य जगत् में अन्यत्र फैलने-पनपने का अवसर मिलता है। इसके लिये महिला स्वाध्याय केन्द्र, महिला नैतिक शिक्षण शिविर, महिला साहित्य परिषद जैसे सांस्कृतिक संगठन खड़े किये जाने चाहिये।

माया की बाढ़ स्वरूप पावे

☐ श्री मोतीलाल सुराना इन्दौर

बाढ़ आई
बह गया सब

क्या कहें
किससे कहें
शोक है हर क्षेत्र में
नुकसान भारी
हो गया।

माया की बाढ़ ने
होश ही गुमा दिया
निरर्थक पाप करते रहे
आत्म-भान भुला दिया।

खोज खोज कर
थक लिये
दूध में मक्खन
न दिखा, न दिखा।
जानकार ने
विधि बताई
गरम दूध कर
दही जमाया,
मथ मथ कर
मक्खन पाया।
जिनवाणी नित
राह बतावे
तप-ताप से
स्वरूप पावे।

हे वीर प्रभो !

□ श्री गुलाबचन्द जैन वैद्य
डाना

हे वीर प्रभो फिर एक बार, भारत में तुम्हें बुलाना है ।
क्या दशा हो रही है इसकी, वह हाल तुम्हें दिखलाना है ।।

बलिदान यहां होते मानव, विकराल क्षुधा की वेदी पर ।
उस शस्य श्यामला भूमि की, हालत भी तुम्हें बताना है ।।

था इतना सुख समृद्ध, दूध, घी के बहते थे परनाले ।
दुर्लभ है वह औषधियों में वह दृश्य तुम्हें दिखलाना है ।।

जिस रत्न भूमि के धान्यों से बहुसंख्य विदेशी पलते थे ।
फिरते अगणित कंकाल वहां जीना भी एक बहाना है ।।

जिस हिंसा डायन के खिलाफ आवाज उठायी थी तुमने ।
कटते असंख्य पशु रोज वहां जीने का नहीं ठिकाना है ।।

मानव मानव के प्राणों की नृशंस खेलते हैं होली ।
सत्त्वेषु मैत्री का तुमको फिर आकर पाठ पढ़ाना है ।।

बिहार की महान् देन : तीर्थंकर महावीर और गौतम

भगवान् महावीर के ११ गणधरों में निःसन्देह गौतम का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। उन्हें मंगलश्लोक में भगवान् महावीर के पश्चात् मंगलस्वरूप बताया है। वे अपने समय के महान् वैदिक विद्वान् थे किन्तु वैदिक सम्प्रदाय के किसी ग्रंथ में किसी तरह का कोई उल्लेख उनके संबंध में नहीं पाया जाता। साम्प्रदायिक विद्वेष ही शायद इसका कारण है। भारत का बिहार प्रान्त जैनों की दृष्टि से बड़ा पावन है। कुछ अपवादों को छोड़कर उनके अधिकांश तीर्थंकरों का संबन्ध इस प्रदेश से रहा है। भगवान् महावीर और गौतम का संक्षिप्त इतिहास एवं बिहार प्रान्त के इस महत्व की जानकारी इन पंक्तियों में प्रदर्शित की गई है।

—प्र० सम्पादक

□ डा० दरबारीलाल कोठिया
वाराणसी

बिहार की माटी बड़ी पावन है। उसने संस्कृति के निर्माताओं को जन्म देकर अपना और सारे भारत का उज्ज्वल इतिहास निर्माण किया है। सांस्कृतिक और राजनैतिक दोनों दृष्टियों से भारत के इतिहास में बिहार का नाम शीर्ष और अमर रहेगा। बिहार ने ही सर्वप्रथम गणतन्त्र को जन्म दिया और राजनैतिक क्रान्ति की। यद्यपि वैशाली का वह गणतन्त्र आज के भारतीय गणतन्त्र की तुलना में बहुत छोटा था किन्तु चिरकाल से चले आये राजतन्त्र के मुकाबले में वैशाली-गणतन्त्र की कल्पना और उसकी स्थापना निश्चय ही बहुत बड़े साहसपूर्ण जनवादी कदम और बिहारियों की असाधारण सूझबूझ की बात थी। इसी तरह सांस्कृतिक चेतना में जो कुण्ठा, विकृति और जड़ता आ गयी थी, उसे दूर कर उसमें नये प्राणों का संचार करते हुए उसे सर्वजनोपयोगी बनाने का महान् कार्य भी बिहार ने ही किया, जिसका प्रभाव समग्र भारत पर पड़ा। बुद्ध कपिलवस्तु (उत्तर प्रदेश) में जन्मे। पर कार्यक्षेत्र उन्होंने बिहार को, खासकर वैशाली और उसके आसपास के राजगृह आदि को ही चुना। यह सकारण है। महावीर और इन्द्रभूति तो बिहार की ही देन हैं, जिन्होंने संस्कृति को संवारा, निखारा और सर्वोदयी बनाया। प्रस्तुत निबन्ध में हम इन दोनों महान् व्यक्तित्वों के विषय में ही विचार करेंगे और उनके कार्यकलापों का दिशा-निर्देश करेंगे।

इन्द्रभूति

इन्द्रभूति उस समय के महान् पण्डित और वैदिक विद्वान् थे। जैन साहित्यकारों द्वारा इनका जो और जितना परिचय दिया गया है, उस पर से इनका महान् व्यक्तित्व प्रकट होता है। आचार्य यतिवृषभ (विक्रम की 5वीं शती) के 1 उल्लेखा-

नुसार इन्द्रभूति निर्मल गौतम गोत्र में पैदा हुए थे और वे चारों वेदों के पारगामी तथा विशुद्ध शील के धारक थे। धवला और जयधवला टीकाओं के रचयिता आचार्य वीरसेन (विक्रम की 9वीं शती) के [2] अनुसार इन्द्रभूति क्षायोपशमिक चार निर्मल ज्ञानों से सम्पन्न थे। वर्ण से ब्राह्मण थे, गौतमगोत्री थे, सम्पूर्ण दुश्रुतियों के पारंगत थे और जीव-अजीव विषयक सन्देह को लेकर वर्धमान तीर्थंकर के पादमूल में पहुंचे थे।

वीरसेन [3] ने इन्द्रभूति के परिचय-विषयक एक प्राचीन गाथा भी उद्धृत की है। गाथा में पूर्वोक्त परिचय ही निबद्ध है। इतना उसमें विशेष कहा गया है कि वे ब्राह्मणोत्तम थे।

वीरसेन के शिष्य और आदिपुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन (विक्रम की 9वीं शती) [4] ने 'इन्द्रभूति' और 'गौतम' पदों की व्युत्पत्ति भी दिखाई है। बतलाया है कि इन्द्र ने आकर उनकी पूजा की थी, इससे वे इन्द्रभूति' और गौ-सर्वज्ञ भारतीय को उन्होंने जाना-पढ़ा, इससे वे 'गौतम' कहे गये।

जैन साहित्य के अन्य स्रोतों से [5] अवगत होता है कि आर्य सोमिल ने मध्यमा पावा में जो महान् यज्ञ आयोजित किया था, उसका नेतृत्व इन्द्रभूति गौतम के हाथ में था। इस यज्ञ में बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् शिष्य-परिवार सहित आमंत्रित थे। इससे यह प्रकट है कि इन्द्रभूति निःसन्देह प्रकाण्ड वैदिक विद्वान् थे और उनका अप्रतिम प्रभाव था।

आश्चर्य है कि इतने महान् प्रभावशाली वैदिक विद्वान् का वैदिक साहित्य में न उल्लेख मिलता है और न परिचय। इसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि इन्द्रभूति तीर्थंकर महावीर के शिष्य हो गये थे और वैदिक विचार-धारा का उन्होंने परित्याग कर दिया था। ऐसी स्थिति में उनका वैदिक साहित्य में कोई उल्लेख एवं परिचय न मिले, तो कोई आश्चर्य नहीं है।

महावीर का शिष्यत्व

जैन साहित्य के उल्लेखों से स्पष्ट है कि तीर्थंकर महावीर को कैवल्य प्राप्त हो जाने पर भी 65 दिन तक उनका उपदेश नहीं हुआ। इसका कारण था उनके अव्यर्थ उपदेशों को संकलन-अवधारण करने की योग्यता रखने वाले असामान्य व्यक्ति का अभाव। इन्द्र ने अपने विशिष्ट ज्ञान से ज्ञात किया कि तीर्थंकर महावीर की वाणी को अवधारण करने की क्षमता इन्द्रभूति में है। पर वह वैदिक है और महाभिमानी है। इन्द्र ने विप्र-बटु का स्वयं वेश बनाया और इन्द्रभूति के चरण-सान्निध्य में पहुंचा। उस समय इन्द्रभूति अपने 500 शिष्यों से घिरे हुए थे और वेदाध्ययनाध्यापन में रत थे। विप्रबटु वेशधारी इन्द्र प्रणाम करके इन्द्रभूति से बोला—गुरुदेव, मैं बहुत बड़ी जिज्ञासा लेकर आपके पादमूल में आया हूं। आशा है आप मेरी जिज्ञासा पूरी करेंगे और मुझे निराश नहीं लौटना पड़ेगा। इन्द्र के विनम्र निवेदन पर इन्द्रभूति ने त्वरित ध्यान दिया और कहा कि बटो! अपनी जिज्ञासा व्यक्त करो। मैं उसकी पूर्ति करूंगा। इन्द्र ने निम्न गाथा पढ़कर उसका अर्थ स्पष्ट करने का अनुरोध किया:—

पंचेव अत्थिकाया छज्जीव-णिकाया महव्वया पंच।
अट्ठ य पवयणमादा सहेउओ बंध-मोक्खो य॥
—धवला, पु. 9, पृ. 129 में उद्धृत

इन्द्रभूति इस गाथा का अर्थ और उसमें निरूपित पारिभाषिक विषयों को बहुत सोचने पर भी समझ न सके। तब वे बटु से बोले—कि यह गाथा तुमने किससे पढ़ी और किस ग्रन्थ की है? ब्राह्मण बटुवेशधारी इन्द्र ने कहा-गुरुदेव! उक्त गाथा जिनसे पढ़ी है वे विपुलगिरि पर मौनावस्थित हैं और कब तक मौन रहेंगे, कहा नहीं जा सकता। अतएव श्रीचरणों में उसका अर्थ अवगत करने के लिए उपस्थित हुआ हूं। पर इन्द्रभूति उसका अर्थ बताने में असमर्थ थे। इस असमर्थता को प्रकट

करना भी उनके स्वाभिमान और प्रकाण्ड विद्वत्ता के प्रतिकूल था। फलतः वे ब्राह्मणबहुवेशधारी इन्द्र के साथ उनके गुरु से शास्त्रार्थ करने की इच्छा से चल दिये और पीछे-पीछे उनके शिष्य भी चल पड़े। महावीर विपुलगिरि पर एक समास्थल में ऊंचे आसन पर विराजमान थे। समास्थल के समक्ष मानस्तम्भ था। इन्द्रभूति ने ज्यों ही समास्थल में प्रवेश किया त्यों ही मानस्तम्भ के देखते ही उनका अहंकार दूर हो गया और सारा ज्ञान निर्मल हो गया। सम्यक्त्व की प्राप्ति होते ही चार ज्ञान और उत्कृष्ट संयम के धारक वे कुछ क्षणों में बन गये। महावीर के पादमूल में निर्ग्रन्थ दीक्षा ले ली और उनके प्रथम गणधर (पट्टशिष्य) हो गये। उनके अहंकार-जन्य सारे विचार बदल गये और निर्मल-चित्त हो गये। इस तरह इन्द्रभूति महावीर के ऐसे महान् प्रभावशाली प्रथम शिष्य हैं, जिनके द्वारा उनके 30 वर्ष व्यापी सारे उपदेश द्वादशांगश्रुत के रूप में निबद्ध किये गये। महावीर के मंगल के बाद ही उनका मंगल बोला जाता है। मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी"। अतः जैन वाङ्मय में इन्द्रभूति का अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर महावीर के उपरान्त दूसरा स्थान है। अन्त में इन्द्रभूति ने अपना समग्र श्रुत-ज्ञान महावीर के दूसरे शिष्य सुधर्मस्वामी को देकर 12 वर्ष तक केवली रह कर निर्वाण-लाभ लिया।

महावीर

महावीर तीर्थंकर-परम्परा की अन्तिम कड़ी और चौबीसवें तीर्थंकर थे। आज से 2573 वर्ष पूर्व वैशाली के निकट कुण्डपुर में राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला के उदर से चैत्र शुक्ला 13 को इनका जन्म हुआ था। इसमें सन्देह नहीं, महावीर को अपनी संसार-यात्रा में बड़े-बड़े धक्के लगे, कष्ट उठाना पड़े, उत्थान और पतन के झूले में झूलना पड़ा। पर, पुरुषार्थ के बल पर वे महा-मानव तीर्थंकर हुए। उनके पवित्र उपदेशों और उज्ज्वल जीवन का तत्कालीन वातावरण पर जो प्रभाव पड़ा वह भारत के इतिहास में उल्लेखनीय रहेगा। संस्कृति में व्याप्त कुण्ठा और जड़ता को दूर करने के लिए उन्हें भागीरथी प्रयत्न करना पड़ा। पशुबलि का बड़ा जोर था और वह भी धर्म के नाम पर। महावीर ने अहिंसा का शंखनाद फूंका, जिसे प्रबुद्ध वर्ग ने ही नहीं, कट्टर विरोधियों ने भी सुना और उसका लोहा माना। इन्द्रभूति और उनके सहस्रों अनुगामी अपने विरोध भाव को भूल कर अहिंसा के पुजारी हो गये और पशुबलि का उन्होंने स्वयं विरोध किया। वैदिक यज्ञों में होने वाली अपार हिंसा पर महावीर की अहिंसक विचार-धारा का अद्भुत प्रभाव पड़ा। महावीर ने न केवल पशुबलि का ही निषेध किया, अपितु मनुष्य की भी बलि का विरोध किया तथा मांस-भक्षण को निंद्य एवं निषिद्ध बतलाया। मांस-भक्षण करने पर अहिंसा का पालन कदापि नहीं हो सकता। लगता है कि उस समय यज्ञों में हुत पशुओं की बलि से उत्पन्न मांस को धर्म-विहित, शास्त्र विहित मान कर भक्षण किया जाता था और उसका आगम वाक्य दिखा कर समर्थन किया जाता था। महावीर ने इसे भूल और मूढ़ता बतलाया। दूसरे जीवों को दुःख देकर एवं उन्हें मार कर उनका मांस खाने से धर्म कदापि नहीं हो सकता। धर्म इन्द्रिय निग्रह, दया, त्याग और समाधि (आत्मध्यान) से प्राप्त होता है। धर्म प्रकाश है जो अपने आत्मा के भीतर से ही प्रकट होता है और भीतर तथा बाहर के अन्धकार को मिटाता हुआ अभय प्रदान करता है। हिंसा अन्धकार है और वह अविवेक से उपजती है। विचार और आचार में लोग जितने अधिक अप्रमत्त—सावधान—विवेकवान होंगे उतनी ही अधिक अहिंसा, निर्भयता और सम्यक् बुद्धि आयेगी। महावीर ने पूर्ण अहिंसा की प्राप्ति तभी बतलायी, जब मन, वाणी और क्रिया तीनों को अप्रमत्त रख,

जाए। इसी से उन्होंने स्पष्ट कहा कि प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा। —त० सू० 6–11

महावीर की दृष्टि बहुत सुलझी प्रतीत होती है। उन्होंने सबसे पहले आत्मकल्याण की ओर कदम उठाया था। गृहत्याग कर 12 वर्ष तक निरन्तर साधना में लगे रहे, कठोर तपश्चर्यायें कीं, साधना-काल में आये कष्टों, परीषहों और उपसर्गों को बड़ी धीरता से सहन किया। फलतः उन्हें पूर्ण आत्मबल और पूर्ण आत्मज्ञान प्राप्त हुआ। आत्मा का पूर्ण साक्षात्कार हुआ और अपने निरावरणज्ञान से समस्त पदार्थों को स्पष्ट जाना। इस तरह सर्वज्ञ और वीतराग बन जाने के उपरान्त जनकल्याण के लिए कदम बढ़ाया और 30 वर्ष तक जनकल्याण में निरत रहे। इस अवधि में उन्होंने जो उपदेश दिये वे मुक्ति को चरम लक्ष्य बना कर दिये आचार को उच्च और प्रशस्त बनाने के लिए अहिंसा तथा विचारको उत्तम एवं स्व पर हितकारी बनाने के लिए अनेकान्तात्मक वस्तु की स्वीकृति और वाणी को निर्मल एवं सत्य बनाने के लिए स्याद्वाद की सरणि को अपनाने पर उन्होंने बल दिया। महावीर के इन उपदेशों का बहुत प्रभाव पड़ा। उच्च वर्ग और निम्न वर्ग सभी को उनके उपदेशों का लाभ हुआ। राजन्यवर्ग के और निम्नवर्ग के कितने ही लोगों ने उनका आश्रय लिया।

समाज–संघटन

महावीर ने अपने अनुयायियों को संघटित कर उन्हें चार भागों में विभक्त किया। श्रावक, श्राविका, मुनि और आर्यिका। इन प्रत्येक का संचालन करने के लिए उनका एक-एक प्रमुख भी बनाया। फलतः उनकी संघ-व्यवस्था बड़ी सुगठित ढंग से चली और आज तक चलती आ रही है। तत्कालीन धर्म-प्रचारकों ने भी उनकी इस व्यवस्था से लाभ लिया था। बुद्ध ने आरम्भ में स्त्रियों को दीक्षा देना निषिद्ध कर दिया था, किन्तु आनन्द के माध्यम से महावीर की व्यवस्था को अवगत कर स्त्रियों को भी दीक्षित किया तथा उनके संघ की संघटना की।

अन्त में महावीर ने मध्यमा पावा से निर्वाण लाभ लिया। यह मध्यमा पावा भी बिहार में ही है। महावीर और इन्द्रभूति के अतिरिक्त बिहार ने कई अन्य पुष्पदन्त, वासुपूज्य आदि तीर्थंकरों को जन्म दिया। सम्मेदशिखर बिहार की पावन भूमि में ही है जहां से 20 तीर्थंकर मोक्ष गये हैं। उस पावन भूमि को शतशः नमन।

---

1. विमले गोदमगोत्ते जादेणं इंदभूदिणामेणं।
चउवेदपारगेणं सिस्सेण विसुद्धसीलेण॥ —ति० प० 1–78
2. "—खओवसम-जणिद-चउरमल-बुद्धि-संपण्णेण बम्हणेण गोदमगोत्तेण सयल-दुस्सुदि-पारएण जीवाजीव-विसय-संदेह-विणासणट्ठमुवगय-वड्ढमाण-पाद-मूलेण इंदभूदिणावहारिदो।
—धव० पु० 1, पृ० 64
3. गोत्तेण गोदमो विप्पो चाउव्वेय-सडंग वि।
णामेण इंदभूदि त्ति सीलवं बह्मणुत्तमो॥ —वही, पु० 1, पृ० 65
4. (क) इन्द्रेण प्राप्तपूजर्द्धिरिन्द्रभूतिस्त्वमिष्यते।
(ख) गौतमा गोः प्रकृष्टा स्यात् सा च सर्वज्ञभारती।
तां वेत्सि तामधीष्टे च त्वमतो गौतमो मतः॥ —आ० पु० 2/52–54
5. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड 1, परि० 7 पृ० 185

अतीत के पृष्ठ

तृतीय खण्ड

आंग्ल भाषीय निबन्ध

मंगलाचरणम्

पंच-परमेट्ठि-वंदणम्

(धवलान्तर्गतम्)

(१)

सिद्धा दड्ढमला विसुद्ध-
बुद्धी य लद्ध-सव्वत्था ।
तिहुवण - सिर - सेहरया,
पसियंतु भडारया सव्वे ॥१॥

(२)

तिहुवण - भवणप्पसरिय -,
पच्चक्खवबोह-किरण-परिवेढो
उइओ वि अणत्थवणो,
अरंहत - दिवायरो जयऊ ॥२॥

(३)

ति - रयण - खग्ग - णिहा-,
एणुत्तारिय-मोह-सेण्ण-सिर-णिवहो ।
आइरिय - राउ पसियउ,
परिवालिय-भविय-जिय-लोओ ॥३॥

(४)

अण्णाणयंधयारे अणो-
र पारे भमंत - भवियाणं ।
उज्जोओ जेहि कओ
पसियंतु सया उवज्झाया ॥४॥

(५)

संधारिय-सीलहरा उत्तारिय,
चिरपमाद - दुस्सीलभरा ।
साहू जयंतु सव्वे सिव-सुह-,
पह-संठिया हु णिग्गलिय भया ॥५ ।

और यहां है आज से १५०० वर्ष पूर्व निर्मित एक अत्यन्त सुन्दर, भव्य एवं कलापूर्ण भगवान् महावीर की पुरातत्व संग्रहालय लखनऊ में सुरक्षित मूर्ति का सरस वर्णन, वहां ही के अधिकारी, द्वारा लिखित इस कारण अधिकृत भी। ऐसी रचनाओं से भारत की प्राचीन जैन मूर्तिकला पर विशद प्रकाश पड़ता है जो इस क्षेत्र में अध्ययन-रत विद्यार्थियों के लिए बड़े काम का है।

—प्र. सम्पादक

□श्री शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी
पुरातत्व संग्रहालय, लखनऊ

आलोच्य प्रतिमा (जे--118) को देखते ही कितने ही विद्वज्जन, कलामर्मज्ञ एवं पुराविद् इस प्रतिमा के प्रणेता को हृदय से नमन कर उठते हैं जिसने इतनी मनोहारी प्रतिमा का सृजन किया है। एक झलक में तो यह विश्व-विख्यात सारनाथ के बुद्ध प्रतिमा से टक्कर लेती है। इसका प्रभा-मण्डल इतना कलात्मक है कि उपरोक्त प्रतिमा का प्रभामण्डल (Halo) निस्तेज हो जाता है। परिचय पट्ट पर 'तीर्थंकर, 510 ई०, कंकाली टीला मथुरा' लिखा देख कर दर्शक भी उस प्रतिमा को देखते आगे बढ़ जाता है। जापान, यूरोप एवं अमेरिका में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनियों में इस प्रतिमा को भेजा गया जहां इसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली है।

तीर्थंकर तो चौबीस हैं यहां पर किस तीर्थंकर को रूपायित किया गया है-यह प्रश्न उठता है। सर्वप्रथम हम देखते हैं कि आयागपट्ट (जे-253) पर भगवान पार्श्वनाथ को सर्प फणों सहित बनाया गया। नेमिनाथ के साथ में श्रीकृष्ण एवं बलराम को हाथ जोड़े बगल में खड़े दर्शाया जाता था। ऋषभनाथ के केशों को कंधों पर लहराते बनाया जाता था। ये सभी लक्षण हमको कुषाणगुप्तकालीन मथुरा से ही प्राप्त उपरोक्त तीर्थंकर प्रतिमाओं पर प्राप्त होते हैं। इस प्रतिमा में ऐसा कुछ नहीं है। दो आयोगपट्ट (जे-248 व जे० 250) प्रथम में चक्र है तथा लेख है "नमो अरहता महावीर........"तथा दूसरा अति खण्डित है मत्स्य तथा कमलों का अंकन है तथा अभिलेख 'नमो अरहतो वरध मानस्य........" लिपि के आधार पर दोनों ही आयागपट्ट प्रथम शती ई० कुषाणकालीन अर्थात आज से 1800 वर्ष पूर्व के हैं। इसके लगभग चार सौ वर्ष बाद इस कृति को गढ़ा गया है।

अस्तु, यह स्पष्ट हो जाता है कि चक्र को मध्य में बनाया गया तथा आगे

चल कर सिंह को महावीर प्रतिमा के मध्य बनाया जाने लगा। यहां पर दो सिंहों को आसन के दोनों कोनों पर बनाया गया। मध्यकाल में दो हिरण या दो हाथी शांतिनाथ एवं अजितनाथ के साथ अंकित पाते हैं। ये प्रतिमाएं मथुरेतर हैं। चूंकि चक्र के साथ ही अभिलिखित आयागपट्ट पर महावीर के प्रति अभ्यर्थना निवेदित की गई है। इस प्रमाण के आधार पर यह सहज ही स्वीकारा जा सकता है कि यह 'तीर्थंकर' महावीर भगवान का ही निरूपण है।

यहां पर वर्द्धमान को पद्मासन में ध्यानस्थ बैठाया गया है। वक्ष स्थल पर श्रीवत्स, केश घुंघराले, लम्बे कान हैं। पीठ के पीछे सिंहासन की पट्टी है तथा इसके नीचे दोनों तरफ सिंह बनाये गये। यह अंकन अनुपम है। अन्यत्र अभी तक मैंने ऐसा नहीं देखा है। पीछे प्रभामण्डल है जिसको विकच कमल, बेल, पुष्प, मनकावलि एवं हस्तनख के अंकन द्वारा संवारा गया है। प्रतिमा विज्ञान के अन्तर्गत इसे "हस्तनख प्रभामण्डल" की संज्ञा प्रदान की गई है। प्रभामण्डल के शेषभाग को कमल-बल्लरी से समलंकृत किया गया है। बायीं तथा दायीं तरफ एक-एक विद्याधर अर्द्धमाला लिए उड़ते बनाये गये हैं। नीचे दोनों तरफ सिंह गर्दन मोड़े हैं, बीच में चक्र तथा चक्र के दोनों तरफ उपासक अपने दोनों हाथों में पुष्प गुच्छ लिए चक्र की ओर उन्मुख बैठे हैं। मूल प्रतिमा श्रीवत्स, प्रशान्त, विवस्त्र, तरुण एवं रूपवान है।[2] अर्थात अर्हंतोचित ढंग गढ़ा गया। यहां पर यह विचारणीय है कि वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में लक्षण बाद को दिये किन्तु प्रतिमा उससे पहले की है। भगवान वर्द्धमान की प्रस्तुत प्रतिमा के मुख श्री की तेजस्विता क्या—

"सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ
सदाममात्मा विदधातु देव॥

अर्थात् सत्व से मित्रता, गुणों में आनंद, कष्ट में पड़े जीवों पर दया के भावों को नहीं सूचित करती है? इतना ही क्यों अपने समय की समाज की बुराईयों यथा पशु हिंसा, स्त्रियों की निम्न-स्थिति, ब्राह्मणों की प्रमुखता, अनुचित आहार-विहार आदि-आदि ने उनके प्रबुद्ध मस्तिष्क को बुरी तरह से झकझोरा था। उन्होंने अपने पूर्व तीर्थंकरों के मान्य चार अहिंसा, सत्य, अस्तेय एवं अपरिग्रह को स्वीकारते हुए ब्रह्मचर्य को और जोड़ दिया था। स्त्रियों को सम्माननीय स्थान दिया। शिष्या चंदना सुप्रसिद्ध ही है। इस प्रकार जनता के हेतु उपदेश उन्होंने अर्द्ध मागधी जो सर्वजन सुलभ थी उसमें ही दिये थे। जननायक के रूप में वर्द्धमान को अक्षुण्ण रखने के हेतु ही इस कृति को रचा गया था। जन चेतस्क की इस प्रतिमा को देखकर लखनऊ के स्वर्गीय कवि पुष्पेन्दु[4] जी की निम्न पंक्तियां हृदय को छू जाती हैं "अपने सुख के अपने दुख के एक मात्र निर्माता तुम हो। अपने जीवने के संचालक, अपने भाग्य विधाता तुम हो।' और भी—

'जग पर न्योछावर हो जाना स्वर्ग यही निर्वाण यही है।

सबको अपना बन्धु समझना सबसे ऊंचा ज्ञान यही है।'

1–महावीर जयन्ती स्मारिका, 1974 खण्ड-2 पृ० 9।

2–आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्साङ्कः प्रशान्त मूर्तिश्च।
दिग्वासास्तरुणोरूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः॥ वराहमिहिर बृहत्संहिता अ. 58 श्लो० 45।

3–सामायिक पाठ नं0 1–अमितगति

4–भगवान महावीर आराधना-पुष्पेन्दु।

एक शिल्पावशेष, जिसकी पहचान शेष है

खजुराहो में मूर्तिकला अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंची है। तीर्थंकर कला ही नहीं जैन कला का भी चरमोत्कर्ष यहां मिलता है। यहां की मूर्तियां आज हजारों वर्ष बाद भी सावों जागती बोलती प्रतीत होती हैं। ऐसी ही एक मूर्ति का परिचय विद्वान् लेखक यहां प्रस्तुत कर रहे हैं। सारे भारतवर्ष में यह अपने ढंग की अनूठी ही मूर्ति है जिसकी समता करने वाली भारत में अन्य मूर्ति शायद ही कहीं मिले। हमारे इस कथन की सत्यता पाठक संलग्न चित्र को देखकर भली प्रकार आंक सकते हैं।

—प्र० सम्पादक

□ श्री नीरज जैन
सतना

मध्ययुग की चन्देलकला का यह अद्भुत अवशेष खजुराहो के एक अर्वाचीन जैन मंदिर की दालान में लगा था। पहली बार जब उस पर दृष्टि गयी तो अध्ययन-रत साधु समूह का साधारण चित्र मानकर उस पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी। कुछ समय बाद किसी ने सुझाया कि ये भगवान महावीर के समवशरण में विराजमान गौतम गणधर की प्रतिमा है। दीवार में चुनते समय भक्तों ने भगवान् को चूना लगाने में ऐसी उदारता से काम लिया था कि चारों तरफ का सूक्ष्म अंकन आंखों से ओझल सा हो गया था। इस बार कुछ ध्यान से देखने का प्रयत्न किया। ऊपर तीन तीर्थंकर विराजमान हैं। बीच में एक पद्मासन और अगल बगल में दो खड्गासन। नीचे प्रधानता देकर दो दिगम्बर साधु आमने-सामने बैठे हुए अंकित हैं। उनके पार्श्व में काष्ठ रहल पर जिनवाणी रखी हुई है। साधु ध्यानस्थ नहीं हैं और उनके एक-एक हाथ में वस्त्र खण्ड जैसा कोई पदार्थ है। नीचे कुछ आकृतियां दिखायी दे रहीं थीं परन्तु चूने के भार में उनकी पहचान असंभव थी। कई बार सोचता रहा यदि ये गौतम गणधर हैं तो महावीर की अर्हन्तता के अतिशय इस फलक पर अंकित क्यों नहीं है? यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक था कि गणधर के सामने इतनी ही प्रधानता से विराजमान यह दूसरे महात्मा कौन हो सकते हैं?

एक बार इसी फलक की चर्चा स्व० डा० हीरालाल जी से चली। उस दिन चित्र सामने नहीं था और मेरे शाब्दिक वर्णन के आधार पर ही बात हो रही थी। डा० साहब ने एक अच्छा सुझाव दिया कि संभवतः यह गौतम-केशी संवाद का अंकन हो। तीर्थंकर पार्श्वनाथ के प्रधान शिष्य महात्मा केशी और महावीर के गणधर गौतम के बीच कोई शास्त्र चर्चा होने का प्रसंग किसी शास्त्र में डा० साहब ने देखा था।

पुनः खजुराहो जाकर उस दृष्टि से जब इस फलक को देखा तो असहमति ही हाथ लगी। गौतम-केशी संवाद तो चर्या से लौटते समय उपवन में हुआ था, महावीर के समक्ष नहीं हुआ। वहां तो शास्त्र भी नहीं था। केशी तो दिगम्बर नहीं थे। सारी असंगतियां एक-एक कर सामने आयीं तब इस मौलिक शिल्पावशेष को पहचान लेने की उत्कण्ठा तीव्र हो गयी। संयोग की बात किसी मंदिर में मरम्मत का काम चल रहा था अतः कारीगर को पुकार कर इस प्रतिमा को चूने की छाप से मुक्त कराने में अधिक विलम्ब नहीं लगा। साफ सफाई में अवश्य पूरा दिन लग गया।

अब इस अद्भुत फलक का जो रूप निखरा उसके दर्शन से मन नाच उठा। पहले जो विवरण समझ में आया था उसमें इतना और जुड़ा कि— साधुओं के हाथ में कोई वस्त्र खण्ड नहीं वरन् ताड़पत्र पर लिखे जिनवाणी के पन्ने हैं और नीचे पीठिका में उनकी मयूरपिच्छियां तथा कमण्डल रखे दिखाये गये हैं। साधुओं के चरणों में हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए दो दम्पति भी दोनों ओर बैठे हैं। नीचे एक पंक्ति का अस्पष्ट लेख भी दिखायी देता है। फलक अत्यन्त सुरक्षित है और कला की दृष्टि से उसका निर्माणकाल ईसा की ९वीं-१०वीं शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है।

तब से कई बार इस फलक की शाब्दिक व्याख्या का प्रसंग उठाया। कहीं मैंने लिखा कि ये भगवान् महावीर के शासन में जिनवाणी का आधार लेकर धर्म के स्वरूप का विवेचन करते हुए दिगम्बर आचार्य हैं। कहीं यह समझाया कि देव-शास्त्र-गुरु का यह एकत्र विधान नित्य पूजा के अभिप्राय से अंकित किया गया होगा और कई बार ऐसा लगा कि धवला के टीकाकार आचार्य वीरसेन जैसे उदार सरस्वती-पुत्रों की वैचारिक उदारता का ही कहीं यह अंकन न हो, जिसमें सारे दृष्टिकोण अनेकान्त और स्याद्वाद की गरिमा में अनुकूल अपेक्षा के पुञ्ज में समन्वित दिखायी देते हैं जहां न किसी का खण्डन है, न विरोध और न मण्डन की आवश्यकता है।

कई बार ऐसा भी लगा कि भगवान् अर्हन्त के अनुशासन में, जिनवाणी की सीमाओं के भीतर, शास्त्र का प्रमाण सामने रखकर, श्रावक-श्राविकाओं के अर्थात् जिज्ञासु समाज के सम्मुख बैठकर जिस प्रकार ये दो आचार्य वस्तुस्वरूप का निर्णय कर रहे हैं, उस समन्वित और समतापूर्ण सर्वमान्य पद्धति से यदि आज निश्चय और व्यवहार, निमित्त और उपादान तथा द्रव्य और पर्याय के तथाकथित झगड़ों को निपटाने की कोशिश की जाय तो क्या सफलता नहीं मिलेगी ? कल्पना से ही उत्तर साकार हो उठता है कि यदि जिनेन्द्र के अनुशासन और जिनवाणी के प्रमाण की जो छवि इस अनुपम पाषाणफलक पर अंकित है वैसी छवि हमारे अन्तरंग में भी अंकित हो जाय तो कोई ऐसा विवाद शेष नहीं रहेगा जिसका शमन न हो जाय।

खजुराहो के जैन संग्रहालय में रखा हुआ यह फलक हमें और भी न जाने क्या-क्या सन्देश देता है। हम सुन पावें या नहीं।

दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान कितना महत्वपूर्ण है यह इसीसे पता चल सकता है कि 'मंगलं भगवान् वीरो..............' वाले मंगलाचरण में भगवान् महावीर और गौतमगणधर के बाद मंगलरूप में उनका स्मरण वन्दन किया जाता है। आज भी उनका विस्तृत इतिहास अज्ञात ही है। कुछ वर्षों पूर्व तक तो हमें उनके जन्मस्थान का भी निश्चित पता नहीं था। अपने महान् उपकारी आचार्यों के प्रति हम कितने अकृतज्ञ एवं असंवेदनशील हैं यह इससे प्रकट है। उन्हीं भगवान् कुन्दकुन्द के जन्मस्थान आदि के संबंध में प्रामाणिक जानकारी आपको विद्वान् लेखक की इस रचना में मिलेगी।

प्र० सम्पादक

कोण्डकुन्द[1] और उनका जन्मस्थान

☐ मूल लेखक – श्री पी० बी० देसाई
अनुवाद : डा० कन्हैयालाल अग्रवाल

सामान्य रूप में जैन धर्म और प्रमुख रूप में दक्षिण भारतीय जैन धर्म महान् आचार्य कोण्डकुन्दाचार्य का अत्यधिक ऋणी है जिन्होंने अपने विशाल व्यक्तित्व से उसके विकास में बहुत अधिक योगदान दिया। आध्यात्मिक ख्याति प्राप्त, एक नई वैहारिक व्यवस्था के श्रेष्ठ संघटनकर्त्ता और इन सबसे अधिक जैन आगमों पर उत्कृष्ट टीकाओं के सुप्रसिद्ध लेखक, उन्होने सम्पूर्ण जैन धर्म और दर्शन के क्षेत्र में अपनी उपलब्धियों की अमिट छाप छोड़ी है।

दुर्भाग्य से उनके जीवन के बारे में बहुत कम जानकारी है, लेकिन उनके सम्बन्ध में जो थोड़ी बहुत जानकारी है भी वह आख्यानों और अनुमानों के रूप में है। यहाँ तक कि उनके नाम या नामों का स्वरूप और प्रकार भी विभिन्न कल्पनाओं पर आधारित है। ऐसी स्थिति में राजाराम महाविद्यालय, कोल्हापुर के डा. ए. एन. उपाध्ये[2] ने सम्पूर्ण उपलब्ध सामग्री को एकत्र करने और इस आचार्य के जीवन सम्बन्धी पक्ष को भलीभांति समझने के लिये मार्ग प्रशस्त करने का स्तुत्य प्रयास किया है। मैंने अपने ग्रन्थ 'दक्षिण भारत में जैनधर्म' के लिये पुरातात्त्विक और आभिलेखिक स्रोतों का अध्ययन करते समय कोण्डकुन्दाचार्य से सम्बन्धित अनेक सन्तोषजनक तथ्यों का अवलोकन किया है। विषय की प्रथम श्रेणी की सामग्री संकलित करने के विचार से मैंने इस आचार्य से सम्बन्धित एक स्थान का भ्रमण किया और सेतु स्थित पुरावशेषों का परीक्षण किया। इस व्यक्तिगत छानबीन के कारण अब मैं ऐसी स्थिति में हूं कि कोण्डकुन्दाचार्य और विशेष रूप से उनके जन्म-स्थान के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाल सकूँ।

आचार्य का वास्तविक नाम पद्मनन्दी था और ऐसा प्रतीत होता है कि अपने

निवास स्थान के कारण उन्होंने कोण्डकुन्दाचार्य का लोकप्रिय विरुद धारण कर लिया था। इस सूचना का स्पष्ट संकेत इन्द्रनन्दी के श्रुतावतार में मिलता है। इस लेखक के अनुसार आचार्य का निवास स्थान कुन्दकुन्दपुर में था।[3] इस तथ्य की पुष्टि अभिलेखिक साक्ष्यों से होती है। 1133 ई के मैसूर राज्य (अब कर्नाटक) के हसन जिला स्थित बस्तिहल्ली अभिलेख[4] प्रख्यात मुनि कोण्डकुन्द के चतुर्दिक यश का उल्लेख करता है जो शान्ति की भावना का मानों उद्गम स्थान था और कोण्डकुन्दे से आया था और चारणों से वन्दित था। मल्लिषेण के श्रवणबेलगोल अभिलेख[5] में इस आचार्य का उल्लेख कोण्डकुन्द के रूप में किया गया है जिससे संकेत मिलता है कि उसकी उत्पत्ति कोण्डकुन्द या कुण्डकुन्द से हुई। जैसा कि हम बाद में देखेंगे कोण्डकुन्द (कुन्दे) स्थान का मूल नाम है। कालान्तर में उसका संस्कृत निष्ठ रूप कुन्दकुन्द हो गया।

आज भी, आंध्रप्रदेश के अनन्तपुर जिलान्तर्गत गूटी तालुका में एक गांव ऐसा है जो इस नाम की समस्या को हल कर देता है। पहले यह क्षेत्र कर्नाटक प्रदेश का अंग था। आंध्रों के प्रभाव में आने पर आजकल यह गांव कोनकोण्डला कहलाता है। लेकिन इसका सही नाम कोण्डकुन्दी है। स्थान नाम का यह रूप आज भी स्थानीय जनता और बोलचाल की भाषा में प्रचलित है। जैसा कि इस ग्राम से 1071 ई. के एक आद्य अभिलेख[6] से जिसमें उसका नाम कोण्डकुन्दे बताया गया है, विदित होता है कि यही इस स्थान का मूल नाम होना चाहिये। इस सन्दर्भ में एक स्थानीय परम्परा को भी ध्यान में रखना उपयुक्त होगा जिससे यह प्रमाणित होता है कि यह ग्राम कोण्डकुन्दाचार्य का निवास स्थान था।[7] लगभग दो हजार सालों से इन क्षेत्रों में प्रचलित परम्परा से न केवल यह विश्वसनीय रूप से प्रमाणित हो जाता है अपितु वह यहाँ उद्धृत अन्य साक्ष्यों को भी पुष्ट करता है।

संयोग से आचार्य के निवास स्थान का पता मिल जाने पर अब हम स्वयं उक्त स्थान पर ध्यान देंगे और वहाँ के प्राचीन अवशेषों[8] का विश्लेषण करेंगे जिसमें जिन मूर्तियां और जैन अभिलेख सम्मिलित हैं। कोण्डकोण्डला या कोण्डकुन्दी ग्राम के बहुसंख्यक जैन पुरावशेष रसासिद्धुल गुट्ट नामक पहाड़ी पर ढूंढ़े जा सकते हैं जो ग्राम के उत्तर में दो फर्लांग की दूरी पर स्थित है। रसासिद्धुल गुट्ट, जो एक तामिल नाम है, का अर्थ है रसासिद्ध की पहाड़ी और प्रतीत होता है कि इस नाम ने अलौकिक महत्व प्राप्त कर लिया। इस पहाड़ी की चोटी पर एक जिनालय है जिसके तीनों ओर की दीवारें पहाड़ी काटकर बनायी गयी हैं जिस पर छत नहीं है। इस जिनालय में तीर्थंकरों की दो खड्गासन प्रतिमाएं प्रतिष्ठित है जिनके साथ तिहरे छत्र और सेवा में शासन देवता हैं। मूर्तियां लाल ग्रेनाइट की बनी हैं और लगभग दो फुट छः इंच ऊंची है। सामान्य रूप से उन्हें 13वीं शती ई. का कहा जा सकता है। लोक विश्वास के अनुसार ये प्रतिमाएं रससिद्ध या अलौकिक मुनियों का प्रतिनिधित्व करती हैं जिन्हें रससिद्धि के रहस्य ज्ञात थे। इस जिनालय के पीछे एक चट्टान पर कमल पर खड़ी एक बड़ी जिन प्रतिमा बनी है। समीपवर्ती एक अन्य चट्टान पर एक वर्त्तुलाकार यन्त्र की रेखाकृति उत्कीर्ण है जिसमें अलौकिक महत्व सन्निहित है।

उक्त जिनालय से थोड़ी ही दूर के शिलाखण्डों के चट्टानी पार्श्वों पर अनेक अभिलेख उत्कीर्ण हैं। उनमें से कुछ सातवीं शती के अपरिष्कृत अक्षरों से युक्त हैं और अन्य दसवीं और ग्यारहवीं शती के हैं। इनमें से अनेक में जैन आचार्यों के नाम लिखे हैं। उनमें से कुछ का यहां उल्लेख किया जायेगा। प्रथम वर्ग के एक लेख में 'सिंगनन्दि द्वारा सम्मानित' का वर्णन है। निश्चितरूप से यह सम्मानित व्यक्ति इस अभिलेख के लेखक सिंगनन्दि का गुरु

होना चाहिये। बारहवीं शती का एक अन्य अभिलेख[10] निषधि स्मारक है जो आचार्य नागसेन देव के सम्मान में उत्कीर्ण किया गया।

विभिन्न स्थानों से प्राप्त दो अन्य अभिलेख अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनमें से पहला कैलासप्प गुट्ट[11] नामक एक दूसरी पहाड़ी के एक शिलाफलक पर उत्कीर्ण है। इनमें से चट्ट जिनालय नामक मंदिर को प्रदत्त भूमि और अन्य वस्तुओं के दिये जाने का उल्लेख है। इस मंदिर का निर्माण नालिकब्बे नामक महिला द्वारा अपने स्वर्गीय पति की स्मृति में कोण्डकुन्देय तीर्थ में कराया गया था। उक्त दान महामण्डलेश्वर जोयिमय्यरस द्वारा जो पश्चिमी चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठ के राज्यकाल में 1081 ई0 में सिंगवाड़ी क्षेत्र पर शासन कर रहा था, दिया गया। इस अभिलेख से दो महत्वपूर्ण सूचनायें मिलती हैं, पहली यह कि इस स्थान का नाम कोण्डकुन्दे था[12] और दूसरी कि यह एक तीर्थक्षेत्र या जैनों द्वारा मान्य धार्मिक क्षेत्र था।

दूसरा अभिलेख[13] उसी गांव के आदिचन्न केशव मंदिर के अग्रभाग पर स्थापित शिलाफलक पर उत्कीर्ण है। दुर्भाग्य से यह अभिलेख क्षतिग्रस्त हो गया और कहीं कहीं कट गया है। इसलिये इसका सम्पूर्ण वर्ण्य विषय हमें प्राप्त नहीं है। यह एक जैन अभिलेख है। जिन शासन की परिचित शैली से प्रारम्भ होकर यह अभिलेख इस स्थान की प्रसिद्धि का वर्णन निम्नांकित पंक्तियों में करता है। जैसा कि अभिलेख से विदित होता है यह स्थान महान् आचार्य पद्मनन्दि भट्टारक का जन्म स्थान होने के कारण संसार में विख्यात था। उन्होंने अनेकान्त सिद्धान्त से, जो भवसागर पार करने का वास्तविक जहाज है, सम्पूर्ण विश्व को जीत लिया था। वर्णन में पद्मनन्दि का नाम दो बार और चारणों का अस्पष्ट संकेत मिलता है जो महत्वपूर्ण है। यहां हम उपरिवर्णित बस्तिहल्ली का वर्णन स्मरण कराना चाहेंगे। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं पद्मनन्दि कोण्डकुन्दाचार्य का नाम था और कुछ अभिलेखों में चारणों से आचार्य को सम्बन्धित करते हुए उल्लेख किया गया है।[14] इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि प्रस्तुत अभिलेख के पद्मनन्दि का तादात्म्य कोण्डकुन्दाचार्य से स्थापित करने में हम उचित मार्ग पर हैं पुनः अभिलेख कोण्डकुन्द अन्वय का उल्लेख करता है। यह अभिलेख स्वतः पश्चिमी चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठ के शासन का उल्लेख करता है जिसने 1076 ई० से 1126 ई० तक शासन किया। लेकिन अभिलेख का वह भाग जिसमें वास्तविक तिथि अंकित थी, नष्ट हो गया है। तो भी, हम इसे लगभग 11 वीं शती के अन्त का मान सकते हैं।

इस अभिलेख का महत्व त्रिकोणीय है। पहला वह इस कथन के समर्थन में आभिलेखिक साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि पद्मनन्दि कोण्डकुन्दाचार्य का दूसरा नाम था। दूसरा, यह साक्ष्य प्राचीनतम है क्योंकि कोण्डकुन्दाचार्य के प्रथम टीकाकार जयसेन, जिन्होंने पद्मनन्दि के साथ उनकी पहली बार पहचान की, का समय 12वीं शती का उत्तरार्द्ध निर्धारित किया गया है।[15] तीसरा, आचार्य के जन्मस्थान के सम्बन्ध में, यह अतिरिक्त प्रमाण प्रस्तुत करता है कि आधुनिक कोनकोण्डल या कोण्डकुन्दी कोण्डकुन्दाचार्य का जन्मस्थान था।

हम यहां कुछ और तथ्यों का उल्लेख करेंगे। रसासिद्धल पहाड़ी पर के एक अन्य अभिलेख में भी विद्यानन्द स्वामी का उल्लेख है। संभवतः इसकी पहचान महान् जैन विद्वान वादी विद्यानन्द से की जा सकती है जो 16 वीं शती में हुए। वादी विद्यानन्द के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उन्होंने कोपण और अन्य तीर्थों में महान् उत्सव कराये।[17] जैसा कि पहले कहा जा चुका है कोण्डकुन्दे एक तीर्थ था और कोण्डकुन्दाचार्य का उससे सम्बन्ध होने के कारण निश्चित रूप से श्रद्धा की दृष्टि से

देखा जाता था। अतः यह बिल्कुल संभव है कि वादी विद्यानन्द ने इस स्थान का भ्रमण किया हो और वहां भी किसी प्रकार का धार्मिक समारोह सम्पन्न किया। तीसरा, यह कहा जाता है कि पहले इस ग्राम में अनेक जैन परिवार रहते थे जिनमें से कुछ अभी हाल तक विद्यमान थे।

इस स्थान से प्राप्त पुरावशेषों के मौलिक अध्ययन से हमारा विश्वास है कि कोनकोण्डला या कोण्डकुन्दी प्रारम्भिक समय से लेकर आधुनिक काल तक जैनधर्म का एक केन्द्र था और कोण्ड-कुन्दाचार्य का जन्मस्थान था। डा. उपाध्ये[18] इस आचार्य का समय लगभग पहली शती ई० निर्धारित करते हैं। तो भी, यह शंका करने के संकेत हैं कि यह स्थान इस आचार्य के, जो इस नाम के कारण प्रसिद्ध हुआ, जन्म से पहले भी जैनधर्म का केन्द्र था।[19] हम यह भी सम्भावना व्यक्त कर सकते हैं कि इस स्थान की महत्तर ख्याति का कारण इस महान् आचार्य की ख्याति थी।

अपने उपर्युक्त अध्ययन के समय हमने यह उल्लेख किया है कि कोणकुन्दे या कोण्डकुन्दी स्थान का मूल नाम था और यह कर्नाटक प्रदेश में था। इस स्थान से प्राप्त अधिकांश अभिलेख कन्नड़ भाषा में हैं। कुन्दे, कुन्द या गुण्ड से अन्त होने वाले नाम सामान्यतः कन्नड़ देश में मिलते हैं यथा मेल-कुन्दे, ग्रोक-कुंदे, नर गुण्ड, नविल-गुण्ड आदि। बेलारी जिला में बज्र-कुन्दि नाम का एक गांव है। इस नाम के उत्तरार्द्ध का अभिज्ञान कोण्ड कुन्दि से किया गया है। यह उल्लेख करना मनोरंजक है कि इस गांव का मूल नाम बल्ल कुन्दे था जो निश्चित रूप से कोण्ड-कुन्दे से समाप्त होता था। शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से कोण्ड और कुन्द नाम के दो कन्नड़ भाग हैं जिनका प्रायः वही अर्थ है अर्थात पहाड़ी। कन्नड़ कुन्द शब्द तामिल के कुण्रम् का समानवाची है। इस प्रकार कोण्ड कुन्दे शब्द का अर्थ पहाड़ी बस्ती या ऐसा स्थान होगा जो पहाड़ी पर स्थित हो।[20] शब्द का यह शाब्दिक भावार्थ कोण्डकुन्द ग्राम, जो पहाड़ी श्रृंखला के समीप है, की स्थिति के सर्वथा अनुरूप है।

उपर्युक्त विवेचन से हमें आचार्य के सच्चे और सही नाम को, जो कोण्डकुन्द रहा होगा, पहचानने में मदद मिलती है। संस्कृत लेखकों द्वारा यह कुन्दकुन्द में परिवर्तित कर दिया गया। यहीं यह भी विचारणीय है कि कन्नड़ प्रदेश के अभिलेखों में सामान्य रूप से आचार्य का उल्लेख कोण्डकुन्द के ही रूप में किया गया है। परवर्ती लेखकों ने आचार्य के संस्कृत नाम विरुद कुन्दकुन्द की व्याख्या हेतु कई आख्यान गढ़ लिये। उदाहरणार्थ, रत्नत्रय बसदि, बीलिगि, उत्तरी कनारा जिला, बम्बई राज्य के सोलहवीं शती के अभिलेख[21] में निम्नांकित विशिष्ट कहानी मिलती है। एक बार एक दुष्ट मनुष्य ने, जो आचार्य से शत्रुभाव रखता था, आचार्य की कोठरी में एक सुरापात्र छिपाकर रख दिया और राजा के समक्ष उसके निन्द्य चरित्र की शिकायत की। आचार्य को पात्र के साथ दरबार में बुलाया गया और आश्चर्य अपने पवित्र मन्त्रयोग से उसने उसे चमेली के फूलों से युक्त पात्र में बदल दिया।- तब से मुनि कुन्दकुन्द अर्थात् चमेली का पात्र के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

---

1. यह शोधपत्र आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेन्स, अहमदाबाद 1953, के सत्रहवें सत्र के प्राकृत और जैनधर्म विभाग में पढ़ा गया था।
2. प्रवचनसार (श्री रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई, 1935), भूमिका, पृ. 1 तथा आगे।
3. प्रवचनसार, भूमिका, पृ. 5.
4. एपिग्राफिया कर्नाटिका, खण्ड 5, बेलूर, 124,
5. एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 3, पृ. 190.

यह स्थान गुण्टकल रेल्वे स्टेशन से चार या पांच मील की दूरी पर स्थित है। (अनुवादक)

6. साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स, खण्ड 9, अंक 1, क्र. 136.

7. एन्युअल रिपोर्ट ऑन इण्डियन एपिग्राफी, 1916, पृ. 134.

8. कोनकोण्डला ग्राम का भ्रमण मद्रास एपिग्राफिस्ट आफिस के सदस्यों द्वारा 1912, 1915, 1920 और 1941 ई. में किया गया। यहां से प्रतिलिपि किये गये अभिलेख एन्यूअल रिपोर्ट्स आन साउथ इण्डियन एपिग्राफी की सम्बन्धित वार्षिक रपटों में सूचीबद्ध किये गये हैं। उनमें से कुछ अभिलेख साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स खण्ड 9 अंक 1 में विधिवत प्रकाशित किये गये हैं। उक्त एपिग्राफिकल ब्रांच का सदस्य होने के नाते मैंने 1950 ई. में यह स्थान देखा और उसके पुरावशेषों का निरीक्षण किया। मैं वहां कुछ नये अभिलेख ढूंढने में सफल हुआ। लेकिन उनकी प्रतिलिपि नहीं की जा सकी या मौसम से प्रभावित होने के कारण वे ठीक से नहीं पढ़े जा सके। इस स्थान के पुरावशेषों का संक्षिप्त वर्णन आंध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी, खण्ड 17, पृ. 164–65 में भी उपलब्ध है।

9 एन्युअल रिपोर्ट्स आन साउथ इण्डियन एपिग्राफी, 1939-40, 1942-43, परिशिष्ट बी, 1940-41 का क्र० 453

10 वही, क्र० ४51

11 साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स, खण्ड 9, अंक 1, पूर्वोक्त क्र० 150

12 जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि कोण्डकुन्दे नाम इसी स्थान के 1071 ई० के अभिलेख में भी मिलता है।

13 साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स, खण्ड 9, अंक 1, पूर्वोक्त, क्र० 288

14 प्रवचनसार, भूमिका, पृ० 7-8

15 वही, भूमिका पृ० 104

16 एन्युअल रिपोर्ट्स आन साउथ इण्डियन एपिग्राफी, 1939-40 से 1942-43, परिशिष्ट बी क्र० 1940-41 का क्र० 452। मैंने इस अभिलेख की मूल छाप का परीक्षण किया है और मेरा विचार है कि तिथिहीन होने के कारण, लिपि के आधार पर इसका समय 16वीं शती निर्धारित किया जा सकता है।

17 एपिग्राफी कर्नाटिका, खण्ड 8, नगर 46,

18. प्रवचनसार, भूमिका, पृ० 22

19. नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृ० 11–12

20. प्रतीत होता है कि कन्नड़ में कुन्द या गुन्द और तामिल में कुण्ड्रम् से अन्त होने वाले नाम मूलरूप से पहाड़ी से सम्बन्धित होने के कारण या उत्तुंग क्षेत्र में स्थित होने के कारण बने।

21 यह अभिलेख मेरे अप्रकाशित व्यक्तिगत अभिलेख संग्रह में है। इस अभिलेख का पाठ प्रसिद्ध कन्नड़ वैयाकरण भट्टाकलंक द्वारा रचा गया था।

हम अहिंसक हैं मगर कायर नहीं हैं।

□ श्री शर्मनलाल "सरस" सरस साहित्य कुटीर 'सकरार' झांसी

सत्य की अर्थी सजाई जा रही है,
झूठ इतना हर अधर पर छा गया है।
प्यार को दो क्षण शरण मिलना कठिन है,
हर दिलों में दम्भ इतना आ गया है।
पुण्य ने करवट बदल ली, आज खुद ही,
पाप अब सर्वत्र जय पाने लगा है।
सभ्यता के शब्द अब शान्ति न देते,
आदमी को आदमी-खाने लगा है ॥१॥
इसलिए महावीर के संदेश द्वारा,
दानवों को अब मनुजता की शकल दें।
पापियों को हनन से सौ बार अच्छा,
हम उन्हें सत मार्ग के पथ पर बदल दें।
दे रही इतिहास की स्याही गवाही,
प्यार का तलवार, लोहा मानती है।
बल परखने के प्रथम, जग जान जाये,
यह धरा महावीर, जनना जानती है ॥२॥
युग भले बारूद की खेती उगले,
किन्तु उसके पास वह शक्ति नहीं है।
आस्था जब तक अहिंसा में न होगी,
अणुबमों से शान्ति, हो सकती नहीं है।
इसलिए विद्वेष की परतें हटालो,
हम तुम्हारे साथ हैं, बाहर नहीं हैं।
जग हमारे लक्ष को, दुर्बल न समझे,
हम अहिंसक हैं, मगर कायर नहीं हैं ॥३॥
क्या कहा? उत्कर्ष पर है यह जमाना,
कल नहीं देगी, कभी ऐसी कला है।
रौंद कर छाती क्षितिज की आज मानव,
चन्द्रमा से और, अब आगे चला है।
किन्तु जब तक साथ न चारित्र देगा,
ज्ञान और विज्ञान कोरा भार होगा।
कर न पाये इन्द्रियों पर जो नियंत्रण,
बन्धु भौतिक सुख, नरक का द्वार होगा ॥४॥

क्या वर्तमान में जैन शब्द से अभिहित संस्कृति ही वह संस्कृति है जो प्राचीन काल में श्रमण संस्कृति के नाम से अभिहित की जाती थी? विद्वान् लेखक ने कई पुष्ट प्रमाण और तर्क देकर इस प्रश्न का उत्तर हां में दिया है। उनके विचार के अनुसार श्रमण संस्कृति आर्य संस्कृति से किसी भी अवस्था में नवीन नहीं हो सकती उससे प्राचीनतर ही हो सकती है।

—प्र. सम्पादक

जैन विचारधारा—प्राचीनता का सवाल

✿ श्री जवाहर नाहटा
जोधपुर

जैनधर्म एवं दर्शन के प्रति आम धारणा यही रही है कि इसकी स्थापना महात्मा महावीर ने की थी जबकि इस बात के पर्याप्त ऐतिहासिक प्रमाण हमारे पास हैं कि महावीर जैन धर्म के संस्थापक न होकर केवल प्रवर्तक अथवा व्याख्या-कार थे।

तीर्थंकर शृंखला और महावीर

महावीर तीर्थंकर शृंखला के 24 वें एवं अन्तिम तीर्थंकर थे। जैन विचार-धारा के अनुसार तीर्थंकर वे होते हैं जो धर्म मार्ग को प्रशस्त करते हैं। महावीर पूर्व प्रचलित पार्श्वनाथ मत के व्याख्याकार थे क्योंकि महावीर का 'पंचमहाव्रत' का उपदेश पार्श्वनाथ मत के 'चातुर्याम-संवर-संवाद' का ही एक विकसित रूप है जिसमें 'हिंसा का त्याग' 'असत्य का त्याग' 'स्तेय का त्याग' 'परिग्रह का त्याग' के साथ साथ महावीर ने एक और आयाम 'अब्रह्मचर्य का त्याग' जोड़ दिया। पार्श्वनाथ 23वें तीर्थंकर थे जो महावीर से 250 वर्ष पूर्व एवं 776 ई पू हुए थे, जिन्हें सभी इतिहासकार ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं।

जैन परम्परा एवं जैन पुराणों के अनुसार जैन धर्म का उद्भव 'ऋषभदेव' से हुआ है जो जैनियों के प्रथम तीर्थंकर हैं। वे ही इस संसार के आदिदेव हैं और सृष्टि की आदिम अवस्था में हुए थे। कुछ तीर्थंकरों के नामों का स्पष्ट उल्लेख वेदों में भी मिलता है। जिनमें ऋषभदेव, अजितनाथ एवं अरिष्टनेमि मुख्य हैं। भागवत पुराण इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैन मत के संस्थापक थे।

आर्यों की भोगवादी दृष्टि और निवृत्ति आन्दोलन—

निवृत्ति और प्रवृत्ति की भावनाओं के विकास के साथ-साथ भारत का एक

निराला सांस्कृतिक इतिहास बनाया जा सकता है। इस देश में जीवन की भोगवादी विचारधारा के मध्य निवृत्ति और इन्द्रिय-निग्रह की विचारधारा भी क्रिया प्रतिक्रिया के रूप में विकसित होती रही है।

हमारी संस्कृति विशुद्ध रूप से आर्य संस्कृति या वैदिक संस्कृति से अभिहित की जाती रही है। आज यह विचारधारा उचित इसलिए मालूम नहीं पड़ती कि सूक्ष्म आध्यात्मिकता और निवृत्ति-भावना जो भारतीय संस्कृति का मूल प्राण है-निसन्देह वैदिक संस्कृति की देन नहीं है। वैदिक आर्यों की दृष्टि बहुत कुछ स्थूल, भौतिक, आनन्दवादी और भोगवादी रही है। आर्यों ने सूक्ष्म आध्यात्मिकता और निवृत्ति के तत्व श्रमण-संस्कृति से ग्रहण किये हैं जो उनसे भी पूर्व भारत में प्रचलित थी। इस संस्कृति की मुख्य विशेषताएं थी निवृत्ति भावना, इन्द्रिय शमन, परम आध्यात्मिक तत्वों की खोज, जन्म और मरण से मोक्ष की इच्छा।

उपनिषदों का रचना काल वैदिक संस्कृति और श्रमण-संस्कृति के पूर्ण समन्वय का युग था। उपनिषदों में निवृत्ति की भावना बहुत स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई है, जो वेदों की आनन्द, उल्लास व आत्मवादी धारा के बिल्कुल विपरीत है। वैदिक आर्यों का दृष्टिकोण स्थूल भौतिक था। यद्यपि वेदों में कर्म और ज्ञान दोनों मार्गों का प्रतिपादन हुआ है, किन्तु आर्यों का जीवन प्रमुखतः कर्ममय और यज्ञमय था। जीवन के समस्त कार्यों का सम्पादन वे यज्ञों द्वारा करते थे। उनका विश्वास था कि यज्ञ करने से देवता प्रसन्न होते हैं, इस जीवन में विजय और अगले जन्म में स्वर्ग की प्राप्ति होती है। उनके सुख और आनन्द का आधार भौतिक जीवन था। जैसा कि यजुर्वेद में एक जगह ऋषि अग्नि से प्रार्थना करता है।

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि।
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे।
यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण ।। यजुर्वेद

(हे अग्ने, तुम शरीर की रक्षा करने वाले हो, मेरे शरीर की पुष्ट करो। तुम आयु देने वाले हो, मुझे पूर्ण आयु दो। मेरे शरीरिक स्वरास्थ्य में जो भी न्यूनता हो उसे पूरा करदो)

यद्यपि वेदों की आत्म भावना और सुखवादी दृष्टिकोण लौकिक जीवन के लिए आदर्श है किन्तु उपनिषदों के आध्यात्मिक स्पर्श और परम तत्व प्राप्ति की विकलता का नितान्त अभाव है। वे प्रजापति से जब भी प्रार्थना करते हैं उनका वैयक्तिक-आत्मवादी भौतिक दृष्टिकोण ही अभिव्यक्त होता है।

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोःश्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम।
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयो प्रतिष्ठा ।।

अर्थात् मेरे अंग पूरी स्वस्थता से अपना-अपना कार्य करे, यही मैं चाहता हूं। मेरी वाणी, प्राण, आंख और कान अपना-अपना काम कर सकें। मेरे बाल काले रहें, दान्तों में कोई रोग न हो, बाहुओं में बहुत बल हो, मेरी उरुओं में ओज जांघों में वेग और पैरो में दृढ़ता हो।

किन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि वेदों का सार कही जाने वाली उपनिषदों में जीवन की इस सुखवादी विचारधारा का नितान्त अभाव है। यद्यपि उपनिषदें वेदों के प्रमाण पर चलती हैं और यह भी कहती हैं कि यज्ञ से सुख और स्वर्ग मिलते हैं किन्तु दोनों नाशवान हैं, अतएव मनुष्य को सच्चे सुख के लिए कुछ और करना चाहिये। उपनिषदों के ऋषि भोगवाद से ऊपर उठने की कोशिश बराबर करते रहे हैं। भारतीय दर्शनों में निराशावाद का जो पुट और सांसारिक सुखों को हेय समझकर निवृत्ति का प्रतिपादन किया गया है, उसका सूत्रपात वैदिक वाङ्मय में सर्व प्रथम उपनिषदों में ऋषियों ने किया है। हमारे लिए यह विचारणीय प्रश्न है कि वेदों की आनन्द और उल्लास की विचारधारा अचानक अपने ही संस्करण

ये निराशा एवं दुःखवाद में परिणत कैसे हो गई ? वस्तुतः उपनिषदें वेदों का सार तत्व नहीं बल्कि यह श्रमण संस्कृति और यति धर्म का प्रभाव है जिसे आर्यों ने उदार पूर्वक अपनी संस्कृति में स्वीकार कर लिया। इसी के परिणाम स्वरूप वेदों के प्रजापति की परिणति परम ब्रह्म में और स्वर्ग कल्पना की परिणति मोक्ष में हो जाती है। हमारे ऋषि समस्त भौतिक सुखों से निवृत्ति का सन्देश देते हुए परम तत्व की खोज में तन्मय हो जाते हैं।

ब्राह्मण संस्कृतिः बर्बर भोगवृत्ति को प्रोत्साहन

कालान्तर मूल वैदिक संस्कृति की एक विशेष धारा ब्राह्मण संस्कृति में कर्म काण्डों के रूप में विकसित होती है। यह कहा जा चुका है कि आर्यों का जीवन यज्ञमय था। यज्ञ की ही विधियों को लेकर कर्मकाण्डों का विकास हुआ। वेदों में जहाँ-जहाँ भी कर्मकाण्डों का विवेचन हुआ है उन्हीं अंशों को लेकर ब्राह्मण ग्रन्थों का निर्माण हुआ। ब्राह्मण (पुरोहित) यज्ञ इत्यादि कार्यों में बड़े निष्णात होते थे अतः सम्पूर्ण समाज पर इनका प्रभुत्व था। ग्रन्थों और शास्त्रों के निर्माण में भी इनका एकाधिकार था। अतः अपनी स्वार्थदृष्टि को लेकर यह वर्ग बड़े-बड़े यज्ञों की कल्पना करता जिनमें बड़ी-बड़ी निर्मम हत्याएँ भी होती थीं। तर्क यह दिया जाता कि यज्ञ की अग्नि में समर्पित प्राणी सीधा स्वर्ग को प्राप्त होता है। वेदों का कर्मकाण्ड धीरे-धीरे भोगवादी सभ्यता का दर्शन होने लगा। वेदों का सुखवाद स्थूल होते हुए भी जीवन की आदर्श दृष्टि लिए हुए था, जबकि ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्राह्मणों की स्वार्थ दृष्टि के साथ-साथ धर्म और कर्मकाण्ड के आवरण में केवल शारीरिक भोगवाद ही अधिक व्यक्त हुआ है। इतना ही नहीं उन्होंने वर्ण भावना को अत्यधिक कटु बनाकर अपने आभिजात्य एवं समाज पर अपने पूर्ण आधिपत्य की घोषणा भी कर दी थी।

जैन और बौद्ध धर्मः श्रमण संस्कृति की पुनर्प्रतिष्ठा

ब्राह्मणों के इस एकाधिकार और बर्बर भोगवृत्ति से समाज का वातावरण असन्तोषप्रद हो गया। परिणामस्वरूप इसी भोगवृत्ति के विरुद्ध क्षत्रियों और वैश्यों ने विद्रोह का सूत्रपात कर दिया। जैन और बौद्ध धर्म के रूप में हिंसा, यज्ञ और ब्राह्मण संस्कृति के विरुद्ध जो आन्दोलन शुरू हुआ उनके नायक महावीर और बुद्ध दोनों ही क्षत्रिय थे और उनके अनुयायी अधिकांश में वैश्य अर्थात् व्यापारी समाज था। श्रमण संस्कृति जो वैदिक संस्कृति से परास्त होकर एक बार लुप्त प्राय हो गई थी—उसे पुनर्प्रतिष्ठा का सुनहरा अवसर प्राप्त हुआ। वैदिक संस्कृति से भिन्न श्रमण संस्कृति ने अपने अस्तित्व का सबसे प्रबल परिचय इसी अवसर पर, ब्राह्मणों के बर्बर भोग से त्रस्त जनता के साथ मिलकर, एक व्यापक सांस्कृतिक विद्रोह के सूत्रपात के रूप में दिया। यही अवसर था कि निवृत्ति भावना से जनता फिर आकृष्ट हो सकती थी क्योंकि अतिभोगवाद और स्वार्थपूर्ण सुखवाद के परिणाम सामने थे।

मैंने ऊपर जो सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के संघर्ष का विवेचन किया है उसका उद्देश्य यही सिद्ध करना है कि श्रमण संस्कृति भारत की एक बहुत ही प्राचीन संस्कृति है जिसका विकास किसी संस्थाबद्ध तरीके से न होकर स्वच्छन्द रूप से जंगलों में हुआ था। इसके प्रवर्तक योगी और यति लोग हुआ करते थे जो निवृत्ति और इन्द्रिय शमन का जीवन यापन करते थे। जिन्हें श्रमण भी कहा जाता था। प्राचीन ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर महावीर को 'श्रमण भगवान महावीर' कहा गया है। इसी प्रकार गौतम बुद्ध को भी श्रमण कहा गया है। महावीर और बुद्ध दोनों ही सत्य की खोज में जंगलों में भटकते हैं और प्रारम्भ में अनेक वर्षों तक कठिन तपस्या करते हैं।

गौतम को इस अति कठिन साधना में शांति एवं मुक्ति का मार्ग नजर नहीं आया अतः उन्होंने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। किन्तु महावीर

को कैवल्य इसी साधना से हुआ अतः अपने उपदेशों को श्रमण संस्कृति की ही मूल परम्परा में विकसित किया। परिणामतः जैन संस्कृति आज भी श्रमण संस्कृति कहलाती है, उनके संघों को श्रमण संघ कहा जाता है। जैन साधुओं का आचार आज भी वैसा ही साधनापूर्ण है।

वास्तव में महावीर ने किसी नये मत की स्थापना नहीं की वरन् तीर्थंकर परम्परा में विकसित होने वाली एक प्राचीन विचारधारा का ही प्रवर्तन किया। अपने बाह्य एवं आन्तरिक स्वरूप में यह वही विचारधारा है जो प्राचीन समय में श्रमण संस्कृति के अन्तर्गत प्रचलित थी। यह संस्कृति उतनी ही प्राचीन है जितनी आर्य संस्कृति संभवतः इससे भी ज्यादा।

टिप्पणियाँ

1. 'भगवान् महावीर' के स्थान पर 'महात्मा महावीर' का प्रयोग श्रद्धालु जैनियों के लिए आपत्तिजनक हो सकता है, किन्तु विषय के अनुरूप मेरी ऐतिहासिक दृष्टि में यही ज्यादा उचित है। 'भगवान' शब्द प्रायः ईश्वर के लिए रुढ़ हो चुका है और जैन विचारधारा ईश्वर की अवधारणा का खण्डन करती है। प्राचीन जैन सूत्रों में जहाँ-जहाँ भी महावीर के लिए 'भगव' या 'भन्ते' शब्द का प्रयोग हुआ है वह मात्र एक सम्बोधन है जो 'श्रेष्ठ पुरुष'—'महान् पुरुष' का बोधक है।

वीर—वचन

अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए।

झूठ बोलने वाला सभी लोगों का विश्वास खो बैठता है, इसलिए असत्य भाषण करना उचित नहीं।

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति।

अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है।

धम्मं आयरह सया पावं दूरेण परिहरह।

धर्माचरण में प्रवृत्त रहो और पापाचरण से दूर रहो।

हिंसा पावं ति मदो, दयापहाणो जदो धम्मो।

हिंसा पाप है, क्योंकि दया सब धर्मों में प्रधान है।

भोगी भमइ संसारे अभोगी विप्पमुच्चई।

भोगी जन्म-मरण के चक्र से नहीं छूटता, अभोगी मुक्त हो जाता है।

विसोहि-मूलाणि पुण्णाणि।

पुण्य कर्म का मूल आत्म-शुद्धि है।

तं झायह ससहावं संसरणं जेण णासेह।

आत्मा के अपने (शुद्ध) स्वभाव को ध्याओ, ताकि जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पा सको।

जिस प्रान्त में हम रहते हैं यानी 'हमारा प्यारा राजस्थान' वह भारतीय संस्कृति का प्रमुख रक्षक रहा है। विदेशी आक्रमणकारियों ने जब भारत के अन्य प्रदेशों को अपने अत्याचारों से तहस नहस किया तब राजस्थान की मरुभूमि ही यहां के निवासियों की शरणस्थली बनी, हजारों लाखों अन्य प्रदेशों से आए पीड़ित मानवों को इस प्रदेश ने माता की तरह अपनी गोद में स्थान दिया, ऐसे राजस्थान में जैनधर्म की क्या स्थिति रही इस पर अभी बहुत ही कम प्रकाश डाला गया है, राजस्थान का असली इतिहास तो हमारे जैन ग्रन्थ भण्डारों में छुपा पड़ा है। जितना थोड़ा बहुत जो साहित्य प्रकाश में आया है उससे राजस्थान के इतिहास के कई अज्ञात पृष्ठों का पता चला है। खेद है यह महत्वपूर्ण शोध क्षेत्र जैनों की ओर से ही उपेक्षित है।

प्र० संपादक

राजस्थान में जैनधर्म

□ डा० तेजसिंह गौड़
उज्जैन

राजस्थान हमारे देश के प्रदेशों में एक प्रमुख प्रदेश है। जिस प्रकार भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों का अपना इतिहास है, अपनी सांस्कृतिक धरोहर है, अपने रीति-रिवाज एवं परम्पराएं हैं, अपनी-अपनी विशेषताएं हैं, ठीक उसी प्रकार राजस्थान का भी अपना गौरवशाली इतिहास, संस्कृति, रीतिरिवाज, परम्पराएं तथा विशेषताएं हैं। इस प्रदेश में सभी धर्म समान रूप से फले फूले हैं। जैन धर्म का अस्तित्व यहां ई. पूर्व पांचवी सदी से पाया जाता है। अजमेर के समीप बड़ली से प्राप्त शिलालेख भारतवर्ष का प्राचीनतम लेख है। उसमें भगवान महावीर के निर्वाण के 84वें वर्ष का उल्लेख है। इसमें चित्तौड़ के समीप मध्यमिका नामक स्थान का उल्लेख है। वर्तमान में यह "नगरी" के नाम से जाना जाता है। मध्यमिका के नाम से तीसरी सदी ईसा पूर्व में एक मुनिशाखा का उल्लेख जैन साहित्य में मिलता है।[1] श्री हीरालाल जैन बड़ली अभिलेख के विषय में कहते हैं कि यहां से एक स्तम्भ खण्ड मिला है। जिसे वहां के भैरोजी के मन्दिर का पुजारी तम्बाखू कूटने के काम में लाया करता था। यह षट्कोण स्तम्भ का खण्ड रहा है, जिसके तीन पहलू इस पाषाण खण्ड में सुरक्षित हैं और उन पर $13 \times 10\frac{1}{2}$ इंच स्थान में एक लेख खुदा हुआ है। इसकी लिपि विद्वानों के मतानुसार अशोक की लिपियों से पूर्वकालीन है। भाषा प्राकृत है और उपलब्ध लेख खण्ड पर से इतना स्पष्ट पढ़ा जाता है कि वीर भगवान के लिए अथवा भगवान के 84वें वर्ष में मध्यमिका में कुछ निर्माण कराया गया। इस पर से अनुमान होता है कि महावीर निर्वाण से 84 वर्ष पश्चात् (ई. पू. 443) में दक्षिण-पूर्वी राजपूताने की उस अति प्राचीन व इतिहास प्रसिद्ध मध्यमिका नामक नगरी में कोई मण्डप या चैत्यालय बनवाया गया था।[2] ईस्वी सन् 1276 के एक

शिलालेख में उल्लेख मिलता है कि भगवान महावीर स्वयं श्रीमाल आये थे।[3] इसका समर्थन तेरहवीं शताब्दी में रचित "श्रीमाल-महात्म्य" भी करता है। किन्तु यह एकदम विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता।

मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के विषय में सर्वविदित है कि वे अपने अन्तिम समय में जैन धर्म में दीक्षित हो गये थे। इसकी पुष्टि साहित्य तथा पुरातत्व दोनों ही साधनों द्वारा होती है। सम्राट सम्प्रति का जैन धर्म में वही स्थान है, जो बौद्धधर्म में सम्राट अशोक का। सम्प्रति ने जैन धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिए अथक प्रयास किये। इसके अतिरिक्त भी उल्लेख मिलता है कि उसके द्वारा अनेक नये जैन मन्दिरों का निर्माण तथा जीर्णोद्धार करवाया गया। ऐसा भी कहा जाता है कि उसने वी. नि. सं. 203 में आर्य सुहस्तिसूरि के द्वारा घांघणी में पद्मप्रभ की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवाई थी।[4] कर्नलटाड ने इसे दूसरी शताब्दी ई. पूर्व माना है।[5] जबकि टाड के मत का खण्डन करते हुए डा. भाण्डारकर इसे 13वीं शताब्दी के पूर्व का स्वीकार नहीं करते वरन् यह भी सम्भव है कि यह इसके भी बाद का हो।[6]

मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से अति प्राचीन स्तूप और एक दो जैन मन्दिरों के ध्वंसावशेष मिले हैं। यहां पाई गई पुरातत्व सामग्री पर से ज्ञात होता है कि ई. पूर्व की कुछ शताब्दियों से लेकर लगभग 10वीं शताब्दी तक वहां जैनधर्म का एक महान केन्द्र रहा है। मूर्तियों के सिंहासनों, आयाग पट्टों आदि पर जो लेख मिले हैं, उनमें से कुछ में कुषाण राजाओं जैसे कनिष्क, हुविष्क, वासुदेव आदि नामों और उनके राज्यकाल के अंकों का स्पष्ट उल्लेख पाया गया है, जिससे वे ई. सन् के प्रारम्भिक काल के सिद्ध होते हैं। प्राचीन जैन ग्रन्थों में इस स्तूप के सम्बन्ध में कहा गया है कि सुपार्श्वनाथ की स्मृति में इसका निर्माण तथा पार्श्वनाथ के काल में इसका उद्धार कराया गया था। उसे देवनिर्मित भी कहा गया है। आश्चर्य नहीं जो वह महावीर से भी पूर्वकालीन रहा हो। हरिषेण के कथाकोश के "वैरकुमार कथानक (श्लोक 132) में मथुरा के पांच स्तूपों का उल्लेख गुप्त संवत 159 (सन् 478) के पहाड़पुर (बंगाल) के ताम्रपट से मिला है जिसके अनुसार उस समय वट गोहाली में एक जैन विहार था, जिसमें अरहन्तों की पूजा के लिए निर्ग्रन्थ आचार्य को एक दान दिया गया। ये आचार्य बनारस की पंचस्तूप निकाय के आचार्य गुह नन्दि के शिष्य कहे गये हैं। धवलाटीका के रचयिता वीरसेन और जिनसेन (8वीं-9वीं शती) भी इसी शाखा के थे। इसी अन्वय का उल्लेख जिनसेन के शिष्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण में सेनान्वय के नाम से किया है। तब से इस अन्वय की सेनगण के नाम से प्रसिद्धि आज तक अविच्छिन्न रूप से उसकी अनेक शाखाओं व उपशाखाओं के रूप में पाई जाती है। मुगल सम्राट अकबरकालीन जैन पण्डित राजमल्ल ने अपने जम्बुस्वामी में लिखा है कि मथुरा में 515 जीर्ण स्तूप थे जिनका उद्धार टोडर सेठ ने अपरिमित व्यय से कराया था।[7]

गुप्त युग के जैनधर्म से सम्बन्धित केवल केशोराय पट्टन में एक जैन मन्दिर के अवशेष प्राप्त हुए हैं।[8] जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि जैन धर्म राजस्थान में अपनी जड़ें मजबूत कर रहा था। सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग के वर्णन से भिन्नमाल और वैराठ में जैनों का अस्तित्व प्रकट होता है।[9]

धातु की सवस्त्र जिन प्रतिमा राजपूताने में सिरोही जनपद के अन्तर्गत बसन्तगढ़ नामक स्थान से मिली है। यह ऋषभनाथ की खड्गासन प्रतिमा है, जिस पर सं. 744 (ई. 687) का लेख है। इसमें धोती का पहनावा दिखाया गया है। उसकी

धोती की सिकुड़न बांये पैर पर विशेष रूप से दिखाई गई है। इससे सम्भवतः कुछ पूर्व की वे धातु प्रतिमाएं हैं जो वलभी से प्राप्त हुई हैं और प्रिन्स आफ वेल्स संग्रहालय में सुरक्षित हैं। ये प्रतिमाएं भी सवस्त्र हैं किन्तु इनमें धोती का प्रदर्शन वैसे उग्ररूप में नहीं पाया जाता जैसा वसन्तगढ़ की प्रतिमा में। इस प्रकार की धोती का प्रदर्शन पाषाण मूर्तियों में भी किया गया पाया जाता है जिसका एक उदाहरण रोहतक (पंजाब) में पार्श्वनाथ की खड्गासन मूर्ति है।[10]

जोधपुर की पश्चिमोत्तर दिशा में 32 मील पर ओसिया रेल्वेस्टेशन के समीप ही ओसिया नामक ग्राम के बाह्य भाग में महावीर मन्दिर अब भी एक तीर्थक्षेत्र माना जाता है। यह मन्दिर एक घेरे के बीच में स्थित है। घेरे से सटे हुए अनेक कोष्ठ बने हुए हैं। मन्दिर बहुत सुन्दराकृति है। विशेषतः उसके मंडप के स्तम्भों की कारीगरी दर्शनीय है। इसकी शिखरादि की रचना नागर शैली की है। यहां एक शिलालेख भी है जिसमें उल्लेख है कि ओसिया का महावीर मन्दिर गुर्जर प्रतिहार नरेश वत्सराज (नाग भट्ट द्वितीय के पिता 770–800 ई.) के समय में विद्यमान था तथा उसका सभा मंडप ई. सन् 926 में निर्माण कराया गया था। मन्दिर में पीछे भी निर्माण कार्य होता रहा। किन्तु उसका मौलिक रूप नष्ट नहीं होने पाया। उसका कलात्मक संतुलन बना हुआ है, और ऐतिहासिक महत्व रखता है।[11] बप्पसूरी के शिष्य नन्नसूरी और गोविन्दसूरि के प्रभाव से सन् 840 में मिहिरभोज ने जैन धर्म को संरक्षण प्रदान किया। जोधपुर के पास मंडोर के राजा कक्कूक जो कि संस्कृत का विद्वान और जैन धर्म का संरक्षक था, ने नवी शताब्दी में एक जैन मन्दिर बनवाया था।[12] कोटा के पास की जैन गुफाएं 8वीं 9वीं शती की हैं तथा 8वीं से 11वीं शती के जीर्ण मन्दिर भी देखने को मिलते हैं। आघाट (उदयपुर) का पार्श्वनाथ मंदिर एक मन्त्री के द्वारा 10वीं सदी में बनवाया गया था।[13] लोदरवा (जैसलमेर) में राजा सागर के समय खरतरगच्छ के आचार्य वर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि का आगमन इस स्थान पर हुआ। जिनेश्वरसूरि की सदिच्छा एवं आशीष से राजा के यहां दो पुत्र श्रीधर एवं राजधर का जन्म हुआ और उन्होंने यहां पार्श्वनाथ का मंदिर बनवाया।[14]

पृथ्वीराज चौहान प्रथम ने बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रणथम्भौर के जैन मन्दिर पर सुवर्ण कलश चढ़ाये थे।[15] इसका पुत्र और उत्तराधिकारी यद्यपि शैव धर्मानुयायी था किन्तु जैनधर्म के प्रति उसका सौहार्द बना रहा। जैनधर्मानुयायियों को अजमेर में जैन मन्दिर बनवाने की अनुमति प्रदान की तथा एक सुवर्ण कलश पार्श्वनाथ के मन्दिर के लिये भेंट किया। यही नहीं उसने श्वेताम्बराचार्य धर्मघोषसूरि और दिगम्बराचार्य गुणचन्द्र के मध्य शास्त्रार्थ के समय निर्णायक का कार्य भी किया। इसका पुत्र और उत्तराधिकारी अर्णोराज जो कि अल्लदेव के नाम से भी जाना जाता है, जिनदत्तसूरि का समकालीन था और जिनदत्तसूरि के प्रति अपार आदरभाव रखता था। जिनदत्तसूरि बारहवीं शताब्दी में हुए थे। उनका स्वर्गगमन अजमेर में हुआ था। वे मरुधर के कल्पवृक्ष माने गए हैं। इनकी मृत्यु के उपरान्त राजस्थान में स्थान-स्थान पर दादा बाड़ियों का निर्माण इनकी स्मृति में हुआ। बीसलदेव ने एकादशी के दिन कत्लखाने बन्द रखा दिये थे।[16] पृथ्वीराज द्वितीय ने पार्श्वनाथ मन्दिर की सहायता के लिए बिजोलिया नामक गांव दान में दिया।[17] पृथ्वीराज तृतीय के दरबार में जिनपतिसूरि तथा पण्डित पद्मप्रभ के मध्य शास्त्रार्थ हुआ था और जिसमें जिनपतिसूरि विजयी हुए थे।[18] मारवाड़ के नाडोल में चौहानवंश की एक शाखा ने 960 ई. सन् से 1252 ई. सन् तक राज किया। राजा कुमारपाल सोलंकी का जागीरदार जो कि चौहान वंशी था ने भी जैन धर्म को पर्याप्त संरक्षण

किया। इसी प्रकार इसके वंशजों ने भी जैनधर्म की प्रगति में योगदान दिया।

वनराज चावड़ा ने भिन्नमाल से जैनों को बुला कर पाटन में बसाया था। हेमचन्द्र ने काल में राजस्थान में भी जैनधर्म ने पर्याप्त प्रगति की। इसने जैनाचार्य शीलगुणसूरि को अत्यन्त आदर के साथ आमन्त्रित किया था। सूरि जी के सुझाव के अनुसार इसने एक पंचासर मन्दिर बनवाकर उसमें पार्श्वनाथ की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवाई थी।[19] अन्हिलवाड़ राज्य चावड़ा वंश से मूलराज सोलंकी ने ई. सन् 942 में अपने अधीन कर लिया। यह जैन धर्म का संरक्षक था और ऐसा लगता है कि इसने मूलराज वंशिका नामक मन्दिर बनवाया था।[20] इसके उपरान्त जयसिंह और कुमारपाल के राजत्वकाल में जैन धर्म खूब फला फूला। यद्यपि जयसिंह शैव था किन्तु फिर भी उसके समय में दिगम्बर मुनि कुमुदचन्द्र और श्वेताम्बर-मुनि देवसूरि के मध्य ई. सन् 1125 में शास्त्रार्थ हुआ था।[21] कुमारपाल जयसिंह का उत्तराधिकारी हुआ। जो धीरे-धीरे हेमचन्द्र के प्रभाव में आ गया। इसने पाली के ब्राह्मणों को यज्ञ में मांस के बदले अनाज का उपयोग करने के लिए बाध्य किया था। कुमारपाल साहित्य का भी संरक्षक था। उसने अपने राज्य में 21 शास्त्र भंडारों की विभिन्न स्थानों पर स्थापना की थी।[22] मेरुतुंग के अनुसार कुमारपाल ने 1440 मन्दिरों का निर्माण विभिन्न प्रांतों में करवाया था।[23] उसने जालौर में एक जैन मन्दिर बनवाया था। आबू के जैन मंदिर भी उसी के काल में बने थे तथा सिरोही का दवाणी गांव उनकी सहायतार्थ दान में दिया था।[24]

आबू के जैन मंदिरों में न केवल जैन कला किन्तु भारतीय वास्तुकला अपने सर्वोत्कृष्ट विकसित रूप में पाई जाती है। आबूरोड स्टेशन से 18 मील तथा आबू कैम्प से सवा मील पर देलवाड़ा नामक स्थान है, जहां ये जैन मंदिर पाये जाते हैं। ग्राम के समीप समुद्रतल से चार पांच हजार फुट ऊंची पहाड़ी पर एक विशाल परकोटे के भीतर विमल वसही, लूण वसही, पित्तलहा, चौमुखा और महावीर स्वामी नामक पांच मंदिर हैं। इन मंदिरों की ओर जाने वाले पथ की दूसरी बाजू पर एक दिगम्बर जैन मंदिर है। इन सब में कला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है प्रथम दो। विमल वसही के निर्माणकर्ता विमल शाह पोरवाड़ वंशी तथा चालुक्यवंशी नरेश भीमदेव प्रथम के मंत्री व सेनापति थे। उनके कोई पुत्र नहीं था। उन्होंने अपना अपार धन व्यय करके प्राचीन वृतान्तानुसार स्वर्णमुद्राएं बिछा कर वह भूमि प्राप्त की और उस पर आदिनाथ तीर्थंकर का मंदिर बनवाया। यह मंदिर पूरा संगमरमर पत्थर का बना हुआ है। जनश्रुति के अनुसार इस मंदिर के निर्माण में 18 करोड़ 53 लाख स्वर्ण मुद्राओं का व्यय हुआ। संगमरमर की बड़ी-बड़ी शिलाएं पहाड़ी के तल से हाथियों द्वारा इतनी ऊंची पहाड़ी पर पहुंचाई गई थी। आदिनाथ तीर्थंकर की सुवर्ण मिश्रित पतिल की 4 फुट 3 इंच की विशाल पद्मासन मूर्ति ढलवाकर प्रतिष्ठित की। यह प्रतिष्ठा विक्रम सं० 1088 अर्थात 1031 ई० सन् में मोहम्मद गोरी द्वारा सोमनाथ मंदिर के विनाश से ठीक सात वर्ष पश्चात हुई। यह मूर्ति प्रौढ़ दादा के नाम से विख्यात हुई पाई जाती है। इस मंदिर को बीच-बीच में दो तीन बार क्षति भी पहुंची जिसका पुनरुद्धार विमल शाह के वंशजों द्वारा वि० संवत् 1206, 1245 व 1368 में किया गया। इस मंदिर की रचना निम्न प्रकार है[25]—

एक विशाल चतुष्कोण 128 × 75 फुट लम्बा चौड़ा, प्रांगण चारों ओर देवकुलों से घिरा हुआ है। इन देवकुलों की संख्या 54 है और प्रत्येक में एक प्रधान मूर्ति तथा उसके आश्रित अन्य प्रतिमाएं विराजमान हैं। इन देवकुलों के सम्मुख चारों ओर दोहरे स्तम्भों की मंडपाकार प्रदक्षिणा है।

प्रत्येक देवकुल के सम्मुख 4 स्तम्भों की मंडपिका बन जाती है; और इस प्रकार कुल स्तम्भों की संख्या 232 है। प्रांगण के ठीक मध्य में मुख्य मंदिर है। पूर्व की ओर से प्रवेश करते हुए दर्शक को मंदिर के नाना भाग इस प्रकार मिलते हैं :—

(1) हस्तिशाला :—(25 × 30 फुट) इसमें छः स्तम्भ है तथा हाथियों पर आरूढ़ विमल शाह और उनके वंशजों की मूर्तियां हैं जिन्हें उनके एक वंशज पृथ्वीपाल ने 1150 ई० के लगभग निर्माण कराया था। (2) इसके आगे 25 फुट लम्बा चौड़ा मुख मंडप है। (3) और उससे आगे देवकुलों की पंक्ति व भमिति और प्रदक्षिणा मंडप है, जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है। तत्पश्चात मुख्य मंदिर का रंग मंडप या सभा मंडप मिलता है, जिसका गोल शिखर 24 स्तम्भों पर आधारित है। प्रत्येक स्तम्भ के अग्रभाग पर तिरछे शिलापट आरोपित हैं जो उस भव्य छत को धारण करते हैं। छत की पद्म शिला के मध्य में बने हुए लोलक की कारीगरी अद्वितीय और कला के इतिहास में विख्यात है। उत्तरोत्तर छोटे होते हुए चन्द्र मण्डलों (ददरो) युक्त कंचुलक कारीगरी सहित 16 विद्याधारियों की आकृतियां अत्यन्त मनोज्ञ है। इस रंग मंडप की समस्त रचना व उत्कीर्णन के कौशल को देखते हुए दर्शक को ऐसा प्रतीत होने लगता है, जैसे मानो वह किसी दिव्य लोक में आ पहुंचा हो। रंगशाला से आगे चलकर नवचौकी मिलती है, जिसका यह नाम उसकी छत के 9 विभागों के कारण पड़ा है। इससे आगे गूढ़ मंडप है। वहां से मुख्य प्रतिमा का दर्शन वदन किया जाता है। इसके सम्मुख वह मूल गर्भगृह है जिसमें ऋषभनाथ की धातु की प्रतिमा विराजमान है।

इसी मंदिर के सम्मुख लूणवसही है जो उसके मूलनायक के नाम से नेमिनाथ मंदिर भी कहलाता है और जिसका निर्माण ढोलका के बघेल वंशी नरेश वीर धवल के दो मंत्री भ्राता तेजपाल और वस्तुपाल ने सन् 1232 ई० में कराया था। तेजपाल मंत्री के पुत्र लूणसिंह की स्मृति में बनवाये जाने के कारण मंदिर का यह नाम प्रसिद्ध हुआ। इस मंदिर का विन्यास व रचना भी प्रायः आदिनाथ मंदिर के सदृश है। यहां भी उसी प्रकार का प्रांगण देवकुल तथा स्तम्भ मंडपों की पंक्ति विद्यमान है। विशेषता यह है कि इसकी हस्तिशाला उस प्रांगण के बाहर नहीं किन्तु भीतर ही है। रंग मंडप, नवचौकी, गूढ़ मंडप और गर्भ गृह की रचना पूर्वोक्त प्रकार की ही है। किन्तु यहां रंग मंडप के स्तम्भ कुछ अधिक ऊंचे हैं, और प्रत्येक स्तम्भ की बनावट व कारीगरी भिन्न है। मंदिर की छत कुछ छोटी है, किन्तु उसकी रचना व उत्कीर्णन का सौन्दर्य वसही से किसी प्रकार कम नहीं है। इसके रचना सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए फर्गुसन ने कहा है कि यहां संगमरमर पत्थर पर जिस परिपूर्णता, जिस लालित्य व जिस लालित्य व जिस संतुलित अलंकरण की शैली से काम किया गया है, उसकी अन्य कहीं भी उपमा मिलना कठिन है [20]।

इन दोनों मंदिरों में संगमरमर की कारीगरी को देखकर बड़े-बड़े कला विशारद आश्चर्यचकित होकर दांतों तले अंगुली दबाये बिना नहीं रहते। एच-जिम्मर के शब्दों में, "भवन ने अलंकार का रूप धारण कर लिया है, जिसे शब्दों में समझाना असम्भव है।"

लूणवसही के पीछे की ओर पित्तलहर नामक जैन मंदिर है, जिसे गुर्जरवंश के भीमशाह ने 15वीं शती के मध्य में बनवाया। यहां के वि० सं० 1483 के एक लेख में कुछ भूमि व ग्रामों के दान दिये जाने का उल्लेख है तथा वि० सं० 1489 के एक अन्य लेख में कहा गया है कि आबू के चौहान वंशी राजा राजधर देवड़ा चूंडा ने यहां के तीन मंदिरों अर्थात विमल वसही, लूणवसही, और पित्तलहर की तीर्थ यात्रा को आने वाले

ग्रामिकों को छोड़ कर मुक्त किया। इस मंदिर का पित्तलहर नाम पड़ने का कारण यह है कि यहां मूलनायक आदिनाथ तीर्थंकर की 108 मन पीतल की मूर्ति प्रतिष्ठित है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठा वि० सं० 1525 में सुन्दर और गदा नामक व्यक्तियों ने कराई थी गुरु गुण-रत्नाकर काव्य के अनुसार ये दोनों अहमदाबाद (गुजरात) के तत्कालीन सुलतान मेहमूद बेगड़ा के मंत्री थे। इसके पूर्व की प्रतिष्ठित मूर्ति किसी कारण वश यहां से मेवाड़ के कुम्भलमेरु नामक स्थान को पहुंचा दी गई थी इस मंदिर की बनावट भी पूर्वोक्त दो मंदिरों जैसी ही है। मूल गर्भगृह, गूढ़ मंडप और नवचौकी तो परिपूर्ण है, किन्तु रंग मंडप और भमिति कुछ अपूर्ण ही रह गये हैं। गूढ़ मंडप में आदिनाथ की पंचतीर्थिक पाषाण प्रतिमा है; तथा अन्य तीर्थंकर प्रतिमाएं हैं। विशेष ध्यान देने योग्य यहां मंदिर के प्रमुख गणधर गौतम स्वामी की पीले पाषाण की मूर्ति है। भमिति की देवकुलिकाओं में नाना तीर्थंकरों की मूर्तियां विराजमान है। एक स्थान पर भ० आदिनाथ के गणधर पुंडरिक स्वामी की प्रतिमा भी है।

चौमुखा मंदिर में भगवान पार्श्वनाथ की चतुर्मुखी प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठा खरतरगच्छ के मुनियों द्वारा कराई जाने से यह मंदिर खरतर वसही भी कहलाता है। कुछ मूर्तियों पर के लेखों से इस मंदिर का निर्माण काल वि० सं० 1515 के लगभग प्रतीत होता है। मंदिर तीन तल्ला है और प्रत्येक तल पर पार्श्वनाथ की चौमुखी प्रतिमा विराजमान है।

पांचवां महावीर मंदिर देलवाड़ा से पूर्वोत्तर दिशा में कोई साढ़े तीन मील पर है। इसका निर्माण भी 15वीं शती में हुआ था। वर्तमान में इसके मूलनायक भगवान आदिनाथ हैं, जिनके पार्श्वों में पार्श्वनाथ और शांतिनाथ तीर्थंकरों की मूर्तियां हैं किन्तु मंदिर की ख्याति महावीर के नाम से ही है। अनुमानतः बीच में कभी मूलनायक का स्थानांतरण किया गया होगा। मंदिर एक परकोटे के मध्य में स्थित है और गर्भगृह के सम्मुख शिखर युक्त गूढ़ मडप भी है। उसके सम्मुख खुला चबूतरा है, जिस पर या तो नवचौकी और सभा मंडप बनाये ही नहीं जा सके, अथवा बनकर कभी विध्वस्त हो गये।

देलवाड़ा का दिगम्बर जैन मंदिर वहां से अचलगढ़ की ओर जाने वाले मार्ग के मुख पर ही है। इस मंदिर में एक शिलालेख है जिसके अनुसार वि० सं० 1494 में गोविन्दसंघाधिपति यहां मूल-संघ बलात्कारगण सरस्वतीगच्छ के भट्टारक पद्म-नंदी के शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र सहित तीर्थयात्रा को आये और उन्होंने उस मंदिर का निर्माण कराया उस समय आबू पर राजा राजधर देवड़ा चूंडा का राज्य था[27]।

इसी तारतम्य में राजपूताना के एक अन्य स्थान राणकपुर का उल्लेख भी आवश्यक है। राणकपुर के जैन मंदिर को सन् 1439 में बन-वाया गया था। यह विशाल चतुर्मुखी मंदिर 40000 वर्ग फुट भूमि पर बना हुआ है और उसमें 29 मंडप है, जिनके स्तम्भों की संख्या 420 है। इन समस्त स्तम्भों की बनावट शिल्प पृथक पृथक है और अपनी-अपनी विशेषता रखती है। मंदिर का आकार चतुर्मुखी है। बीच में मुख्य मंदिर है जिसकी चारों दिशाओं में पुनः चार मंदिर है। इनमें शिखरों के अतिरिक्त मंडपों के भी और उनके आसपास 86 देवकुलिकाओं के भी अपने अपने शिखर है, जिनकी आकृति दूर से ही अत्यन्त प्रभावशाली दिखाई देती है। शिखरों का सौन्दर्य और सन्तुलन बहुत चित्ताकर्षक है और यही बात

उसकी अन्तरंग कलाकृतियों के विषय में भी पाई जाती है। सर्वत्र वैचित्र्य और सामंजस्य का अद्भुत संयोग दिखाई देता है। दर्शक मंदिर के भीतर जाकर मंडपों, उनके स्तम्भों व खुले आंगनों में से आता हुआ प्रकाश और छाया के अद्भुत प्रभावों से चमत्कृत हो जाता है। मुख्य गर्भगृह स्वस्तिकाकार है और उसके चारों ओर चार द्वार हैं। यहां आदिनाथ की श्वेत संगमरमर की चतुर्मुखी मूर्ति प्रतिष्ठित है। यह दुतल्ला है और दूसरे तल में भी यही रचना है। इस चौमुखी मंदिर का विन्यास प्रायः उसी प्रकार का है जैसा कि पहाड़पुर के महाविहार का पाया जाता है[28]।

सेवाड़ी के शिलालेखों से मालूम होता है कि वहां के राजघराने 10वीं से 13वीं शती तक जैन संस्थाओं को सहायता करते रहे। इसी प्रकार नाडोल, नाड़लाई और सांडेराव की जैन संस्थाओं को भी मदद मिलती रही। 12वीं 13वीं शतियों में जालौर के जैनों को वहां के सामन्तों से सहायता मिलने के लेख विद्यमान हैं। मेवाड़ की एक रानी ने 13वीं शती में चित्तौड़ में पार्श्वनाथ का मंदिर बनवाया था इसी शती में जगच्चन्द्रसूरि को मेवाड़ के राणा ने तपाकी पदवी दी थी और उनका गच्छ तपागच्छ कहलाया। बारहवीं शती में झाड़ोली, चन्द्रावती, वतानी और रिमाणी (सिरोही-जिला) के मंदिरों के लिये भूमिदान के लेख मिलते हैं[29]।

चित्तौड़ का कीर्तिस्तम्भ सुन्दर व कलापूर्ण है। इसके निर्माता व निर्माण काल के विषय में मतभेद रहा। किन्तु हाल में ही नांदगांव के दिग-जैन मंदिर की धातुमयी प्रतिमा पर सं० 1541 (ई० सन् 1484) का एक लेख मिला है। जिसके अनुसार मेदपाट देश के चित्रकूट नगर में इस कीर्तिस्तम्भ का निर्माण चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र के चैत्यालय के सम्मुख जीजाशाह के पुत्र पूर्णसिंह ने करवाया था। इससे स्पष्ट है कि स्तम्भ की रचना 15वीं शती में ई० सन् 1484 से पूर्व हो चुकी थी। जीजाशाह के पुत्र पूर्णसिंह बघेरवाल जाति के थे। और उन्होंने कारंजा (जिला अकोला-बरार) के मूल संघ, सेनगण पुष्करगच्छ के भट्टारक सोमसेन के उपदेश से इस स्तम्भ के अतिरिक्त 108 शिखरबद्ध मंदिरों का उद्धार कराया, जिनबिंब बनवाये और प्रतिष्ठाएं कराईं, अनेक श्रुत भण्डारों की स्थापना कराई और सवालाख बंदी छुड़वाये, ऐसा भी उक्त लेख में उल्लेख है।

लेख से स्पष्ट है कि यह स्तम्भ जैनमंदिर के सम्मुख बनवाया गया था, जिससे यह मान स्तम्भ प्रतीत होता है। यह स्तम्भ लगभग 70 फुट ऊंचा है और उसका नीचे का व्यास 31 फुट तथा ऊपर का 15 फुट है। इसमें सात तल्ले हैं जिनके ऊपर गंध कुटी रूप छतरी बनी हुई है। यह छतरी एक बार विद्युत से आहत होकर ध्वस्त हो गई थी, किन्तु उसे महाराणा फतेहसिंह ने लगभग अस्सी हजार के व्यय से पुनः पूर्ववतः ही निर्माण करा दिया। इस शिखर की कुटी में अवश्य ही चतुर्मुखी तीर्थंकर मूर्ति रही होगी। स्तम्भ के समस्त तलों के चार भागों पर आदिनाथ व अन्य तीर्थंकरों की नग्न मूर्तियां विराजमान है, जिससे आशित: यह स्तम्भ आदि तीर्थंकर का ही स्मारक प्रतीत होता है। इस कीर्तिस्तम्भ की बाह्य निर्मिति अलंकृतियों से भरी हुई है[30]।

संक्षिप्त कर अंकित किया जा सकता है कि कालन्द्री (सिरोही) के पूरे संघ ने 14वीं शताब्दी में ऐच्छिक मरण को अपनाया था। जिनभद्रसूरी ने 15वीं शताब्दी में जैसलमेर में वृहद्ज्ञानभण्डार की स्थापना की थी। राजस्थान में जैनशास्त्र भण्डारों की स्थापना शास्त्रों की प्रतियां करवाना तथा उनको सुरक्षित रखवाने का श्रेय आचार्य जिनभद्रसूरी को ही है। 15वीं शताब्दी में राणा कुम्भा ने छोटी सादड़ी में एक जैन मंदिर बनवाया था। राणा प्रताप ने तो हीर विजय सूरि को मेवाड़ में बुलवाया था और अकबर के

जाते समय वे सिरोही में ठहरे थे। उन्हें सूरि की पदवी से सीरोही में ही विभूषित किया गया था।[1] श्वेताम्बर लोंकागच्छ के प्रथम वेषधारी साधु भाण थे जो अरठवाड़ा (सीरोही) के रहने वाले थे। वे 1476 में साधु बने थे। तेरापंथ के प्रवर्तक भीकमजी भी मेवाड़ के ही थे जो 18वीं शताब्दी में हुए थे।

इसी प्रकार राजस्थान में ऐसे अनेक प्रभावी जैन व्यक्ति हो चुके हैं जो विभिन्न राजाओं के समय महत्वपूर्ण पदों पर कार्यरत थे। कुमारपाल के समय विमलशाह आबू के प्रतिनिधि थे। जालौर का उदयन खम्भात का राज्यपाल था। 16वीं शताब्दी के वीर तेजागरड़ीया ने जोधपुर का राज्य शेरशाह से राजा मालदेव को वापस दिलवाया था। दीवान मुहणोंत नैनसी को आज कौन नहीं जानता। दानवीर भामाशाह की गाथा तो अमर है। रत्नसिंह भण्डारी, अजमेर के शासक धनराज और कूटनीतिज्ञ इन्द्रराज सिंघी के नाम भी उल्लेखनीय है। ऐसे नामों को ही लिखा जावे तो एक लम्बी सूची बन जावेगी।

संक्षेप में राजस्थान में जैनधर्म प्राचीन काल से ही फलफूल रहा था। मुस्लिम काल में सब धर्मों के साथ जैनधर्म को भी राजस्थान में ही नहीं सम्पूर्ण भारतवर्ष में ही क्षति उठाना पड़ी थी। स्थान-स्थान पर मुसलमान शासकों ने हिन्दू, जैन, बौद्ध आदि मंदिरों एवं विहारों को तोड़ा और उनको मस्जिद के रूप में परिवर्तित किया। ऐसे परिवर्तन के उदाहरण लगभग सभी प्रांतों में मिलते हैं। 12वीं शती का अजमेर का अढ़ाई दिन का झोपड़ा व सांचौर और जालौर की मस्जिदें जैन मंदिर ही थे। जीरावला पार्श्वनाथ मंदिर को भी इसी प्रकार क्षति हुई। 16वीं शताब्दी में बीकानेर के मंदिर पर भी आक्रमण हुआ था। कोटा के शाहबाद में इसी प्रकार औरंगजेब ने एक मस्जिद बनवाई थी[31]।

---

1. श्री कापरड़ा स्वर्ण जयंती महोत्सव ग्रंथ पृष्ठ 43.
2. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृष्ठ 332.
3. Progress Report of Archaeological Survey of India w. e. 1907 Page 35.
4. भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास पृष्ठ 273
5. Annals and Antiquities of Rajasthan vol. II Page 779-80
6. Progress Report of Archaeological Survey of India w. e. 1901 Page 41
7. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृष्ठ 34-35
8. Jainism in Rajasthan Page 16
9. श्री कापरड़ा स्वर्ण जयन्ती महोत्सव ग्रंथ पृष्ठ 43
10. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान पृष्ठ 351
11. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृष्ठ 333
12. The History of India as told by its own people vol I Page 504
13. श्री कापरड़ा स्वर्ण जयंती महोत्सव ग्रंथ पृष्ठ 43
14. Jainism in Rajasthan Page 38

15. Catalogue of Manuscripts in the Pattana Bhandaras Page 316.
16. Catalogue of the Manuscripts in the Pattana Bhandaras Page 340
17 श्री कापरड़ा स्वर्ण जयती महोत्सव ग्रंथ पृष्ठ 44
18. खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली पृष्ठ 25–33
19. Jainism in Rajasthan Page 23
20. प्रबन्ध चिंतामणि-मूलराज प्रबन्ध पृष्ठ 22
21. वही पृष्ठ 78–88
22. प्रभावक चरित्र (हेमचन्द्र प्रबन्ध) पृष्ठ 92
23. प्रबन्ध चिंतामणि पृष्ठ 115
24. श्री कापरड़ा स्वर्ण जयंती महोत्सव ग्रंथ पृष्ठ 44.
25. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृष्ठ 333–34.
26. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृष्ठ 335.
27. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृष्ठ 337.
28. वही पृष्ठ 338
29. श्री कापरड़ा स्वर्ण जयती महोत्सव ग्रंथ पृष्ठ 44.
30. श्री कापरड़ा स्वर्ण जयन्ती महोत्सव ग्रन्थ पृष्ठ 338
31. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृष्ठ 45

वीर इस भू पर पुनः आना पड़ेगा

—हास्य कवि हजारीलाल जैन 'काका' पो. सरकार (झांसी) उ. प्र.

साधना, अब स्वर्णमृग दिखला रही है,
वासना, सुरसा बनी मुंह बा रही है,
कर रही साम्राज्य हर मन पर कुटिलता,
हर तरफ से स्वांस गंधी आ रही है।

इसलिये इन स्वार्थियों को सबक देने,
वीर, इस भू पर पुनः आना पड़ेगा।

रो रहा अन्तर मगर ऊपर हंसी है,
हर अधर को चूमती अब बेबसी है।

स्वार्थ ने अब सत्य की अर्थी सजा दी,
नाव संयम की भंवर में आ फसी है।

इसलिये संसार सागर से तिराने,
वीर इस भू पर पुनः आना पड़ेगा।

आज मानव अणुबमों पर जी रहा है,
मृत्यु की पोशाक खुद ही सी रहा है।

त्याग कर आध्यात्म का अमृत अनोखा,
विषभरे विज्ञान का रस पी रहा है।

इसलिये नूतन दिशा देने सभी को,
वीर इस भू पर पुनः आना पड़ेगा।

जयपुर के जैन दीवान

जैन केवल व्यापारी ही नहीं रहे हैं, शासन कार्य के संचालन में भी उनकी सेवाएं अभूतपूर्व रही हैं। शासन कार्य में भी उन्होंने बौद्धिक श्रेष्ठता के साथ-साथ शारीरिक वीरता का भी प्रदर्शन समय-समय पर किया है। इतिहास के हजारों पृष्ठ उनकी इन गाथाओं से भरे हैं। भू०पू० रियासतों में जैनी उच्चतम पदों पर रहे हैं। मेरे अग्रज भाई भंवर लाल जी ने काफी पहले जयपुर के जैन दीवानों के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डाला था। उसी को आज वे पुनः परिष्कृत रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।

—प्र० सम्पादक

☐ पं० भंवरलाल न्यायतीर्थ

जयपुर

राजस्थान के इतिहास में जैनों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रान्त के विभिन्न नगरों और गांवों में यत्र-तत्र बिखरी हुई जैन संस्कृति, कला और साहित्य की सामग्री अपार है। आवश्यकता है उसके खोज और संग्रह की। फिर भी जो कुछ उपलब्ध है वह जैनों के अतीत की गौरव गाथा को स्पष्ट उद्घोषित कर रही है। राजस्थान के सभी रजवाड़ों के साथ जैन इतिहास जुड़ा हुआ है। जैनों की कहीं श्वेताम्बर शाखा का महान योगदान है तो कहीं दिगम्बर शाखा का। जयपुर में दिगम्बरों का राज्य से विशेष सम्बन्ध रहा है। प्रस्तुत निबन्ध में जयपुर के जैन दीवानों के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डालना है। जिस प्रकार जैन साहित्य के सर्जन, संरक्षण और प्रचार में जयपुर राजस्थान में ही नहीं समूचे भारत में अपना प्रमुख स्थान रखता है उसी प्रकार कुशल प्रशासन, जन वा और राजनैतिक क्षेत्र में भी यहां के जैन किसी से पीछे नहीं रहे श्री सकलकीर्ति आदि भट्टारक एवं आचार्य कल्प पं० टोडरमल जी, पं० सदासुख जी, पं० जयचंद जी, दौलतराम जी कासलीवाल, ऋषभदास जी निगोत्या आदि साहित्य मनीषियों ने जैन वाङ्मय की जो सेवा की है और ज्ञान की लुप्तधारा को पुनः प्रवाहित किया है वह अभूतपूर्व है। यहां पर बने विशाल धर्मायतन धार्मिकता की अमर गाथा गा रहे हैं। उनमें संग्रहीत साहित्य अपार है। इसी प्रकार प्रशासन में जयपुर के जैन दीवानों का भी महान योग रहा है।

जयपुर के निर्माण से पूर्व जयपुर राजवंश के पूर्वजों का इस प्रान्त में एक हजार वर्ष से भी अधिक समय से दौरदौरा रहा है। विक्रम की 10-11वीं शताब्दी से यह कछावा वंश मध्यप्रदेश से आकर राजस्थान में बसा है और विभिन्न स्थानों पर इसने अपनी राजधानियां बनाई है। तभी से जैनों का इनसे सम्पर्क रहा है। नरवर

ग्वालियर से आकर सर्वप्रथम दौसा जो उस समय धवलगिरि के नाम से विख्यात था को अपनी राजधानी बनाई। दौसा के बाद खोह रेवारियान जो शांतिनाथ जी की खोह के नाम से प्रसिद्ध है वहां राजधानी बनी। इसके बाद रामगढ़ पर अधिकार हुआ और बाद में आमेर पर। यह सब स्थान परिवर्तन 11वीं 12वीं शती में हो गया। तत्पश्चात् वि० सं० 1784 में जयपुर बसाया गया है। इस सुन्दर नगर को बसाने वाले अद्भुत प्रतिभाशाली महाराजा सवाई जयसिंह थे जिनका शासन काल वि० सं० 1756 से 1800 तक था। वे जैनों के काफी सम्पर्क में थे। टाड् राजस्थान में लिखा है[1] कि "जैनियों को ज्ञान शिक्षा में श्रेष्ठ जानकर जयसिंह जी उन पर अत्यन्त अनुग्रह रखते थे। ऐसा भी प्रकट होता है कि उन्होंने जैनियों के इतिहास और धर्म के सम्बन्ध में स्वयं शिक्षा प्राप्त की।"

उक्त राजवंश 11वीं शती में नरवर से जब इधर आया तब कई जैन घराने इनके साथ आये प्रतीत होते हैं। पहले भी इस प्रान्त में जैनी काफी थे। व्यापार बढ़ा हुआ था। महाराजा सोढ़देव जी सं० 1023 में दौसा में राज्य गद्दी पर बैठे उस समय निरभैराम छाबड़ा नामक जैन दीवान थे ऐसा उनके वंशजों से ज्ञात हुआ है। इनके बाद इस वंश में कई जैन दीवान हुए हैं।

11वीं शताब्दी से लेकर शताधिक जैन दीवान हुए हैं पर उनका कोई क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता। लेखक ने इस सम्बन्ध में काफी प्रयत्न किया पर अभी तक 55 के करीब जैन दीवानों की जानकारी मिली है। पर वे सब 16वीं शताब्दी के बाद के हैं। इसके पूर्व तथा बाद में और भी अनेक दीवान हुए हैं—जिनकी खोज अपेक्षित है।

दीवान रामचन्द्र छाबड़ा

इनका दीवान काल वि० सं० 1747 से 1776 तक था। इनके पिता और बाबा भी दीवान रह चुके थे। अपने सेवाकाल में इनने राज्य की वह सेवा की जो दूसरा नहीं कर सकता था। अन्तिम मुगल सम्राट औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उनके लड़कों में सिंहासन के लिए युद्ध हुआ। विजयी के विपक्ष में रहने के कारण तथा अन्य कारणों से आमेरपति सवाई जयसिंह से बहादुर शाह ने नाराज होकर संवत 1764 में आमेर पर कब्जा कर लिया। जयसिंह उदयपुर चले गये। उनके साथ दीवान रामचन्द्र आदि भी थे। मौका पाकर कुछ फौजें एकत्र कर दीवान रामचन्द्र आमेर में आकर मुगलों के प्रबन्धक पर अचानक टूट पड़े और उसे आमेर से निकाल भगाया। दीवान जी की नीतिकुशलता, वीरता और स्वामिभक्ति इस घटना से स्पष्ट प्रतीत होती है।

विभिन्न इतिहासकारों में फौज आदि के बारे में इस घटना का वर्णन कुछ हेर-फेर के साथ किया है किन्तु सभी ने दीवान रामचन्द्र के नेतृत्व को स्वीकारा है और मुगलों से आमेर खाली कराने का श्रेय रामचन्द्र को दिया है। इससे मुगल दरबार में दीवान रामचन्द्र के प्रति नाराजी होना स्वाभाविक था। शाहजादा जहांदार शाह ने 17 जुलाई सन् 1708 को अपने पत्र में उदयपुर वालों को लिखा था कि जयसिंह के नौकर रामचन्द्र दीवान ने नालायक और बेहुदा कार्यवाही की, बादशाही नौकरों से लड़ाई की अतः जयसिंह उन्हें निकाल दे। इससे रामचन्द्र द्वारा आमेर पर कब्जा करना स्पष्ट होता है। दीवान रामचन्द्र जयसिंह के प्रमुख व्यक्ति थे। और भी कई दीवान थे पर रामचन्द्र प्रमुख थे यह निम्न लिखित पद्य से स्पष्ट होता है—

राजामल किरपाराम भक्त श्रीचन्द विजैराम
सुजान है।

राम शिवदास लाल विद्याधर गिरधर दास
जु को अति ही गुमान है।

पारसराम किसनराम बुद्धिमान हेमराज बख्शी
सराहिये है।

राजाराव राणा नन्द जसरथ जी के पांचवी सवाई इन्द्र तो तिहारे रामचन्द्र से दीवान है।

दीवान रामचन्द्र के दादा बल्लूशाह थे जिनने औरंगजेब के समय में छत्रपति शिवाजी के पास रामसिंह जी की तरफ से जाकर आपसी सुलह की बात की और वह न होने पर शिवाजी को बचाने में पूरा सहयोग दिया। यह संवत 1723 की घटना है। बल्लूसाह जी को मिर्जाराजा जयसिंह ने 165 बीघा जमीन ईनाम में दी थी। इनके पुत्र एवं रामचन्द्र के पिता विमलदास जी भी दीवान थे जो जाटों के साथ युद्ध में कांम आये। लालसोट के पास आपकी छत्री बनी थी। ये वीर योद्धा थे। रामगढ़ में विमलपुरा नामक पूरा मोहल्ला था जो इन्हीं के नाम से था।

दीवान रामचन्द्र धार्मिक व्यक्ति थे। आमेर और रामगढ़ के बीच साहीवाड़ ग्राम में संवत 1747 में आपने मंदिर बनवाया जो आज भी मौजूद है। जब जयसिंह जी के साथ आप उज्जैन में रहते थे तो वहां भी एक मंदिर आपने बनवाया और जब दिल्ली रहते थे तो दिल्ली में जयसिंहपुरा में मंदिर बनवाया। संवत 1770 में भट्टारक देवेन्द्र कीर्ति के पट्ट महोत्सव में आप अगुआ थे। दीवान रामचन्द्र जी को महत्वपूर्ण राज्य कार्य करने पर कई बार इनामें और गांव आदि मिले हैं। दीवान रामचन्द्र का स्वर्गवास 1784 में हुआ।

रामचन्द्र जी के पुत्र किशन चन्द्र जी दीवान हुए। इनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर राजा की ओर से 1767 में इन्हें 900 बीघा जमीन मिली। जयपुर की ओर से बसवा तथा बाद में टोंक के आमिल भी बनाये गये। संवत् 1814 में भी इन्हें और जागीरी मिली। 1815 में इनका स्वर्गवास हो गया।

भीमसिंह जी

ये किशन चन्द के लड़के थे। सं० 1855 से 1859 तक प्रधान दीवान के पद पर कार्य किया। वैसे आपका दीवान पद का कार्य काल 1816 से 1867 तक है। इनका स्वर्गवास 1867 में हुआ। इस प्रकार इस वंश ने पांच छह पीढ़ियों तक राज्य की अपूर्व सेवा की थी।

महामंत्री मोहनदास

मोहनदास मिर्जाराजा जयसिंह के महामंत्री थे। मिर्जाराजा जयसिंह का राज्यकाल वि० सं० 1679 से 1724 तक है। मोहनदास जी के पूर्वज और वंशजों में अनेक व्यक्ति दीवान हुए है। बज-आत्या गोत्रीय मोहनदास, संघी कहलाते थे। इनके पूर्वजों में संघी उदा का नाम सर्वप्रथम मिलता है। करकुंड चरित्त[2]' की प्रशस्ति में इनका नाम आया है। इनके पोते डालू ने सं० 1663 में व्रत के उद्यापन में यह ग्रंथ भेट किया। उदा के पुत्र मल्लिदास के लिए 'संघभार धुरन्धर संघह्.' शब्दों का प्रयोग किया है।

इनका नाम कहीं मालीजै औसा कहीं मल्लि दास कहीं मालू और श्रीमाला मिलता है। ये बड़े प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे। इन्हीं के नाम से इनका वंश आज भी मालावत के नाम से प्रख्यात है।

मालीजं के लड़के डालू थे और राज्य में दीवान थे। यह बड़े ईमानदार और स्वामिभक्त थे। किसी के बहकावे मे आकर राजा नाराज हो गये और इन पर जुर्माना कर दिया इस घटना के बारे मे एक पद्य प्रचलित है—

दंड भरयो डालू मालू को,
डूबी यानतदारी।
नौकर होकर चोरी कीजे,
नातर होसी ख्वारी॥

इसस इनकी ईमानदारी स्पष्ट प्रतीत होती है। डालू के भाई खेतसी थे और उनके लड़के मोहनदास। इनका जन्म संवत् वि० 1645-50 के बीच होना संभव है। सं० 1663 में इनका विवाह हुआ। बड़े विचक्षण व्यक्ति थे। इनका राज्यकाल मिर्जाराजा जयसिंह के राज्यकाल के

प्रारंभ से ही था और वि० सं० 1716 के बाद तक रहा है। वि० सं० 1714 में इनने आमेर में तीन शिखर का विशाल मंदिर बनवाना प्रारंभ किया और 1716 में उसकी प्रतिष्ठा हुई। इसका शिलालेख आज उपलब्ध है। उसमें "मोहनदासो महामंत्री जयसिंह महीभृतः" तथा महाराजाधिराज श्री जयसिंह स्तस्य मुख्य प्रधान अम्बावती नगराधिकारी जिन पूजा पुरन्दरः सम्यक्त्वालंकृत गात्रश्च, विप्रदानेश्वरः जिन प्रासादोद्धरणधीरः निज यशः सुधा-धवलीकृत विश्वः सार्थक नामधेयः संघाधिपति श्री मोहनदासः आदि शब्दों द्वारा मोहनदास की कीर्ति गाथा गाई गई है। इससे स्पष्ट है कि वह धर्मात्मा, सफल राजनीतिज्ञ और कुशल प्रशासक था। इनका बनाया हुआ मंदिर सांप्रदायिकता का शिकार हुआ और आज भी वह आमेर में श्वेताम्बर जैन मंदिर के सामने खड़ा है। इनकी विशाल हवेली जो चोमूवालों के पास थी आज श्री रतनलाल जी जैनाग्रवाल ने खरीद ली है।

दीवान कल्याणदास

ये मोहनदास के लड़के थे। औरंगजेब द्वारा शिवाजी की पकड़, कैद और छद्म वेश में निकल जाने आदि की घटनाओं का दैनिक विवरण दीवान परकाल दास आगरा से प्रतिदिन दीवान कल्याण दास के पास आमेर में भेजते थे। इनका और कोई उल्लेख नहीं मिलता।

दीवान अजितदास

यह मोहनदास जी के तृतीय पुत्र थे। सं० 1770 में आयोजित भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के पट्टोत्सव में ये सम्मिलित हुए थे। जयपुर बसने के साथ ये जयपुर आगये और 1788 में एक विशाल मंदिर बनवाया जो चोकड़ी मोदीखाना में संघीजी के मंदिर के नाम से प्रख्यात है। ऐसा दो चौक का विशाल मंदिर जयपुर में दूसरा नहीं है। मंदिर के सामने ही इनकी विशाल हवेली थी जो आज औरों के कब्जे में है।

संघी हुकमचंद

उक्त वंश में ही चार पीढ़ी बाद संघी हुकमचंद और संघी झूंताराम बहुत प्रसिद्ध फौज बक्सी और दीवान हुए हैं। संघी हुकमचंद फौज के इंचार्ज थे और सं० 1881 से 1892 तक इनका कार्यकाल माना जाता है। इनको राव बहादुर का खिताब था। वे बड़े बहादुर और वीर थे। जयपुर राजा के नाबालगी में संरक्षक भी थे। फौज के काम में माहिर होते हुए भी बड़े धर्मात्मा थे। इनने एक विशाल मंदिर बनवाया जो संघीजी की नशियों के नाम से विख्यात है और गंगापोल दरवाजे के बाहर पानी की टंकियों के नीचे है। इनके पुत्र बिरधीचंद भी दीवान थे और उनका राज्य सेवा काल 1888 के आसपास ही रहा है।

संघी झूंताराम

संघी हुकमचंद के छोटे भाई थे और बड़े प्रतिभा सम्पन्न, मेधावी राजनीतिज्ञ और शासन की अद्भुत योग्यता रखते थे। इनका जीवन राजनैतिक उथल-पुथल में ही बीता। ये कठोर और ईमानदार शासक थे। सिद्धान्तवादी हमेशा अपने सिद्धान्त के प्रति कट्टर रहता है। फलतः वह कइयों का कोपभाजन भी बनता है। इनके मंत्रित्वकाल में कोई चोरी नहीं होती थी। कहा जाता है कि यदि किसी का कोई गहना, आभूषण या अन्य चीज कहीं गिर गई तो या तो वह स्वयं ही उठावे या सरकारी कर्मचारी; दूसरा कोई नहीं उठा सकता था। गुण्डागिरी आदि नहीं थी। अपराधों पर कड़ी सजायें देते थे। सब इनके नाम से कांपते थे।

एक बार इनके मातहत काम करने वाले के यहां नुकता में जाने का इन्हें अवसर मिला। उस समय उस बिरादरी में रिवाज था कि अपनी झूंठ के साबुत लड्डू आदि जीमने वाले घर ले जाते थे। इससे काफी खर्चा होता था। संघी जी वहां गये-घोषणा करवादी कि ऐसा करेगा सो सजा पायगा।

इनकी धर्म पत्नी ने स्वयं लड्डू उठाये और उनका गहना खुलवा लिया। सारी ज्योनार में चर्चा फैल गई और किसी ने लड्डू नहीं उठाये–तब से उस बिरादरी में जीमन की झूंठन ले जाना बन्द हो गया। ये बड़े धर्मात्मा और साथ ही कुशल राजनीतिज्ञ थे।

अंग्रेजों के साथ संधी सन् 1817 में हुई जिसके तहत वार्षिक खिराज (टैक्स) देना तय हुआ। मुसाहिब रावल बैरीसाल थे। संघीजी को यह गुलामी पसन्द नहीं थी। अंग्रेज तीन बार पहले प्रयत्न कर चुके थे पर सफलता न मिली, रावल को पक्ष में लेकर ऐसा हुआ। राजा जगतसिंह के युद्ध में रत रहने, भोगविलासी होने और अंग्रेजों का टैक्स आदि के कारण खजाना खाली हो गया और सन् 1818 में राजा का स्वर्गवास हो गया। सन्तान थी नहीं। और लोग मालिक बनने लगे। पर भटियानी रानी गर्भवती थी। सन् 1819 में जयसिंह तृतीय को जन्म दिया और नाबालगी में राजमाता राजकाज देखने लगी। वह स्वतन्त्रता प्रेमी थी। अंग्रेजों का दखल उसे पसन्द नहीं था। संघीजी इसी प्रकृति के थे। आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने हेतु संघी को राजस्व मन्त्री बनाया गया। पर मुसाहिब रावल के साथ इनकी नहीं बनी। वह अंग्रेजों का पक्षपाती और वे अंग्रेजों के विरुद्ध। दोनों में अनबन हुई और राजनैतिक दुश्मनी बढ़ती गई। राजमाता ने बार-बार रावल को समझाया-पर उसे अंग्रेजों का जोम था। संघी के विरुद्ध अंग्रेजों को भड़काया। दोनों एक दूसरे की प्रतिद्वंद्वी बन गये। जिसका दाव पड़ा वह शासन में शक्तिशाली रहा। संघी मुख्यमन्त्री बना–उसने शेखावाटी के झगड़े निपटाने का प्रयत्न किया, राजस्व बढ़ाया और जनता में अमन किया। पर ज्योंही राजमाता मरी और संयोगवश जयसिंह तृतीय 17 वर्ष की अवस्था में काल कवलित हो गये संघी के विरोधियों को मौका मिला और इसे बदनाम किया–राजा का हत्यारा बताया। पर उसकी रानी चंद्रावतजी ने इसे गलत कहा और संघी को ईमानदार और योग्य पाया। चन्द्रावतजी भी स्वतन्त्रता प्रेमी थी। पर अंग्रेजों के कुचक्र चलते रहे और वे ताकत में आते रहे। आजादी के दीवानों की जो स्थिति होती है–वही संघीजी और उनके साथियों की हुई। राजा की हत्या का अपराध लगाया–मुकदमा चला पर उसमें विरोधियों को कामयाबी नहीं हुई। राज्य विद्रोह का षड्यंत्र का अपराध जो देश–प्रेमियों को लगाया जाता था। इसी के तहत संवत् 1892 में किले में कैद रखा और सं. 1895 में उनकी मृत्यु हो गई।

इस वंश ने पीढ़ियों राज्य की सेवा बड़ी ईमानदारी से की। कई इतिहासकारों ने इन्हें बदनाम किया है–पर वे अंग्रेजों से या विरोधियों से प्रभावित थे। निष्पक्ष इतिहासकार संघी को सदा ईमानदार पायेंगे।

दीवान श्योजीराम तथा दीवान अमरचन्द

जयपुर के इतिहास में दीवान अमरचन्द बड़े प्रख्यात हो गये हैं। देश सेवा में हंसते-हंसते प्राणों की बाजी लगाने वाले इस अमर शहीद का नाम सदा याद रहेगा।

इनके पिता श्योजीराम दीवान थे। इनने तीन राजाओं के समय दीवानगीरी की थी–महाराजा पृथ्वीसिंह (सं. 1824 से 1835) सवाई प्रतापसिंह (सं. 1835 से 1860) तथा जगतसिंह जी (सं. 1860 से 1875 तक) के शासनकाल में वि. सं. 1834 से 1867 तक इनके दीवान काल का उल्लेख मिलता है। ये बड़े धर्मात्मा और वीर थे। मनिहारों के रास्ते में स्थित बड़ा दीवानजी का प्रसिद्ध मन्दिर और दिगम्बर जैन संस्कृत कालेज भवन इन्हीं का बनाया हुआ है। दीवान अमरचन्दजी इन्हीं के पुत्र थे।

दीवान अमरचन्दजी का दीवान काल संवत 1860 से 1892 तक का है। बचपन में इनने धार्मिक शिक्षा काफी पाई। ये विलक्षण प्रतिभाशाली और वीर व्यक्ति थे। समाज सुधारक भी थे। गरीबों की मूकभाव से सेवा करते थे। जैन समाज में विवाह के अवसर मूठ—अर्थात् निकासी के समय-लड़की वाले के यहां मुट्ठी भरकर रुपये-पैसे देने का रिवाज था। इनने मात्र दो आने देने का रिवाज चालू कराया। इनने जयपुर में प्रख्यात लालजीसांड के रास्ते में स्थित छोटे दीवानजी का विशाल मन्दिर बनवाया। चन्द्रप्रभ की विशाल मूर्ति विराजमान कराई।

ये राज्य के और जनता के खैर-ख्वाह थे। पर स्वतन्त्रता प्रेमी थे। अंग्रेजी राज्य के पैर जयपुर रियासत में नहीं जमने देने में इनका पूरा हाथ था। फलतः अंग्रेज और अंग्रेजों के हिमायती-इनके विरोधी थे। महाराजा जयसिंह का 5 फरवरी सन् 1835 को स्वर्गवास हो गया। अंग्रेज विरोधियों की बन आई संघी झूंताराम पर राजा को मरवाने का दोषारोपण कर बदनाम किया और उनके जितने सहयोगी-आजादी के समर्थक थे उन सबको तंग किया जाने लगा। जैनों पर काफी जुल्म ढाये गये। झूंताराम को कैद कर दौसा भेजा गया।

अंग्रेज अपना पूर्ण आधिपत्य चाहने लगे। महलों में जाकर अपना रोब जमाया। किसी ने एजेण्ट पर हमला किया। उनके साथी मिस्टर ब्लेक ने आक्रमणकारी से तलवार छीन हाथी पर बैठ बाहर आये तो जनता में अफवाह फैल गई कि इनने नवजात राजा को मार डाला। तो जनता ने अंग्रेज की हत्या कर डाली। उस युग में इस प्रकार की अंग्रेजों के प्रति बगावत असह्य थी। आजादी के दीवानों के प्रति इलजाम लगाकर चुन-चुनकर उन्हें गिरफ्तार किया और उनकी वही दशा हुई जो देश में अंग्रेजों ने स्वतन्त्रता प्रेमियों की थी। मुकदमा चलाया और सजायें दी। दीवान अमरचंद फांसी के तख्त पर लटक कर अमर शहीद हो गये।

दीवान-राव कृपाराम पांड्या

जयपुर के इतिहास में इस वंश का काफी महत्वपूर्ण योगदान है। इनके पूर्वज चाढमलजी बड़े प्रतापी नररत्न थे। कहा जाता है चम्पावती का नाम चाटसू इन्हीं के कारण बन गया। ये चाटसू के रहने वाले थे। और चाटसू के चौधरी थे। इस वंश में दीवान राव जगरामजी की मुगल दरबार में पहुंच थी। ये जयपुर के सं. 1770 से 1790 तक दीवान थे।

इनके पुत्र श्री रावकृपाराम बड़े विलक्षण व्यक्ति थे। इनका दीवान काल तो सं. 1780 से 1790 तक ही था—पर ये मुगल दरबार में आमेर की ओर से प्रतिनिधि थे। बादशाह का इन पर काफी अनुग्रह था-और प्रतिदिन ये बादशाह के साथ शतरंज खेलते थे। ये पैसे वाले भी थे। इतिहासकार कर्नल टाड् इन्हें दिल्लीपति का कोषाध्यक्ष मानता है। जयपुर निर्माण में इनने एक करोड़ की मदद सवाई जयसिंहजी को दी थी। इनकी पुत्री के विवाह में महाराजा हथलेवा में गांव देना चाहते थे-पर स्वयं धनिक, बादशाह तथा राजा के कृपापात्र होते हुए भी इनने समाज को महत्व दिया और मात्र दो रुपया हथलेवा में राजाजी से दिलवाये जो रिवाज आज भी प्रचलित हैं। मुगल दरबार में और अधिक पहुंच होने से रजवाडों के बहुत से काम ये करवा देते थे।

आमेर राज्य की ओर से कई बार विशिष्ट सेवाओं के कारण इन्हें इनामें मिली हैं। मुगल दरबार से मनसबदारी मिली थी। जयसिंहजी और उनके भाई विजयसिंहजी का झगड़ा इन्हीं ने निपटाया था। ये धार्मिक व्यक्ति थे। सूर्य की उपासना का इन्हें इष्ट था। जयपुर की गलताघ टी पर जो सूर्य का मन्दिर है-वह इन्हीं का बनाया हुआ है। आमेर में भी इनने सूर्य मन्दिर बनवाया था। कहा जाता है इनने सूर्य के 120 मन्दिर बनवाये थे। माघ शुक्ला सप्तमी (भानु सप्तमी)

को जयपुर में सूर्य का रथ निकलता है। संभवतः यह इन्हीं का चलाया हुआ है। आज भी उस दिन की मिठाई सूर्य मन्दिर से इनके यहां आती है। इनने जयपुर में प्रसिद्ध चाकसू का जैन मन्दिर बनवाया–जोरावरसिंह दरवाजे के पास अपने घर में चैत्यालय बनवाया। इनका प्रभा मंडल सूर्य की आभा के समान चमकता था। सं. 1904 में इनका स्वर्गवास हो गया।

इनके भाई फतहराम सं. 1710 से 1813 तक फतहराम के पुत्र भवानीराम स. 1843 से 1855 तक तथा भवानीराम के लड़के जोखीरामजी दीवान हुए और इस वंश ने राज्य की काफी सेवा की।

दीवान बालचन्द

जयपुर के प्रसिद्ध दीवानों में दीवान बालचंद और उनके पुत्र रायचद का भी राज्य सेवा में बहुत बडा हाथ रहा है। दीवान बालचंद दीवान रामचन्द छाबडा के वंशावली में ही है। सं. 1818 से 1829 तक इनका दीवान काल था।

जयपुर में उस समय सांप्रदायिक वैमनस्य बढ़ा हुआ था। श्यामराम नामक एक साम्प्रदायिक विचार वाला व्यक्ति राजा के मुंह लगा हुआ था और उसने दीवानों के साथ राजनैतिक विरोध का बदला जैन समाज से लिया। संवत् 1817 में ढुंढाहड़ प्रान्त के अनेक जैन मन्दिरों को नष्ट भ्रष्ट करवाया और जैनों को तंग किया। बखतराम साह रचित बुद्धि विलास मे जो राजस्थान पुरातत्व विभाग से छपा है, में इस घटना का काफी वर्णन है। पर दीवान बालचन्द आदि ने इसका बदला नव-निर्माण से लिया। राजा को अपनी भूल मालूम हुई और उसका शुद्धिकरण किया सं० 1821 में विशाल इन्द्र ध्वज पूजन महोत्सव इनके सहयोग से हुआ पर इससे विरोधी चिढ़े और 1926-27 में पुनः सांप्रदायिक विद्वेष बढ़ा। आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी उसी में शहीद हुये।

इनके पुत्र जयचन्दजी और रामचन्द्रजी बड़े प्रतिभाशाली हुए है। जयचन्दजी का दीवान काल सं० 1829 से 1855 है। ये बड़े धर्मात्मा थे। इनने सांगानेर में हवेली बनवाई। जयचन्दजी के पुत्र कृपारामजी और ज्ञानचन्दजी भी दीवान हुए हैं।

दीवान रायचन्दजी छाबड़ा

दीवान बालचन्दजी के तृतीय पुत्र दीवान रायचन्द बहुत होनहार और धर्मात्मा हुए हैं। इनका राज्य सेवाकाल सं० 1850 से 1864 तक का है। सं० 1862 में उदयपुर महाराजा की लड़की कृष्णा कुमारी से विवाह करने के सम्बन्ध में जयपुर जोधपुर में काफी तनाव हुआ युद्ध के लिए कूच हो गया पर जयपुर के दीवान रायचन्द और जोधपुर के श्री इन्द्रराज संघी के बीच-बचाव से युद्ध टला। यह सुलह अधिक दिन नहीं रही। पोकरण के ठाकुर द्वारा जोधपुर की गद्दी पर धोकलसिंह जी को गद्दी पर बिठाने के प्रयत्न मे पुन युद्ध भड़का। दीवान रायचन्द ने मना किया पर राजा जगतसिंह जी ने नहीं मानी। फलतः युद्ध में विजय तो हुई पर काफी धन बर्बाद हो गया और जयपुर सकट में पड़ गया। शेखावाटी आदि के कई झगड़े उस समय चल रहे थे जिन्हें रायचन्द ने निपटाये।

जयपुर, जोधपुर के साथ युद्ध के समय जब सारी फौजें जोधपुर थी तो जोधपुर की शह से अमीरखां पिंडारी ने जयपुर पर आक्रमण कर दिया और लूट-खसोट करने लगा। पर जगत सिंहजी ने जोधपुर में जब सुना तो वे जयपुर रवाना हुए पर मार्ग में अमीरखा और मारवाड वालों से पिंड छुड़ाना मुश्किल हो गया। फौजें थकी हुई थी। बड़ा जुल्म लुटेरे करने लगे। राजा हतोत्साह और किंकर्त्तव्य विमूढ हो गया तो दीवानरायचन्दजी ने वणिक्बुद्धि से काम लिया पर और एक लाख रुपया पिंडारी को देकर जगतसिंहजी को जयपुर पहुंचाया और लुटेरों को वापिस लौटाया।

दीवान रायचन्दजी जहां गूढनीतिज्ञ, वीर योद्धा और कुशल प्रशासक थे वहां वे बड़े धर्मात्मा भी थे। इनने सं० 1861 में विशाल पंच कल्याणक प्रतिष्ठा कराई जिसकी सैंकड़ों मूर्तियां राजस्थान के कौने-कौने में तो हैं ही सारे उत्तर भारत में यत्र तत्र काफी मिलती हैं। विशाल यात्रासंघ चलाकर संघी पद सार्थक किया। जयपुर में चार मंदिर इनने बनवाये—1. घाट में, 2. मोहनवाडी में, 3. बिदायक्यों के चौक में, 4. मेंहदीवालों के चौक में। सभी मंदिर बड़े विशाल हैं। दुःख है इनमें तीन सांप्रदायिकता के शिकार हुए और एक मेंहदीवालों के चौक वाला जैन मंदिर है।

इनका इतना उत्कर्ष लोगों को सहन नहीं हुआ। राजनैतिक विरोधी कुचक्र चलाते रहे। रस कपूर गायिका से जगतसिंह का बडा प्रेम था। शिवनारायण नामक व्यक्ति रसकपूर का भाई बन राजा का दयापात्र बना हुआ था। मौका देख, नशे में मस्त राजा से इसने रायचन्द्रजी को कैद करने के आदेश प्राप्त कर लिये और तदनुसार तुरन्त सारी कार्यवाई कर डाली। सबको ताज्जुब हुआ। पर राजाज्ञा और खास मोहर देख मानना पड़ा। रायचन्द कैद कर जयगढ़ भेज दिये गये जहां से जिन्दा कोई वापिस नहीं आता। जब राजा को होश हुआ और घटना मालूम हुई तो फौरन रायचन्द को पीछे से दरवाजा तोड लाने का आदेश दिया पर रास्ते में ही दुश्मनों ने पहाड़ पर से उन्हें गुडवा दिया और उनकी मृत्यु हो गई। राजा बड़ा दुःखी हुआ। पर अब क्या करता-सिवाय पश्चाताप के।

जगतसिंहजी के पिता प्रतापसिंहजी मरते समय पुत्र को शिक्षा दे गये थे लेकिन वेश्या के फंदे में पड़ कर जगत सिंह जी ने उन पर कोई ध्यान नहीं दिया। वंशभास्कर में लिखा है—

> बहुरा निकारहुन, हरखे बिकारहुन
> मारहुन रायचंद, यो कहिगो तातमरि।
> सोसोकरी सबही, सपूती जगतेस, सुठ
> फारी गनि का सहसकारे वारे फंदपरि।

खुशाली राम बोहरा, दौलतराम हल्दिया, और दिवान रायचंद बड़े काम के और ईमानदार आदमी है—इनसे विगाड़ मत करना। पर वेश्या और साले (शिवनारायण) के फंदे में पड़कर सारे अनर्थ कर डाले।

इस प्रकार रायचंद जी का स्वर्गवास सं० 1864 में हुआ। इनके दत्तक पुत्र दिवान संगही मन्नालाल ने दिवानगिरी और फौजबक्षी का काम किया। इन वंशजों में बख्शी गुलाबचंद है और बख्शी भागचंद—जिन्हें आप प्रतिदिन जयपुर रेडियों पर सुनते हैं।

दिवान विजैराम तोतूका

तोतूराम के लड़के विजैराम सवाई जयसिंह के शासनकाल में दिवान रहे। जयसिंह जी की बहिन का रिश्ता मुगल बादशाह से होने की बात थी। महाराजा दुःखी थे—पर क्या करते। जब राजा जयपुर में नहीं थे तो दिवान विजैराम ने उसका विवाह बूंदी के हाडा बुधसिंह जी से कर दिया। मुगल नाराज हुए पर रणबांकुरे बूंदी के हाडों और जयपुर दोनों से एक साथ लड़ाई मोल लेना नीतिपूर्ण कार्य नहीं माना और मनमसोस कर बैठ गये। राजा जयसिंह जी दिवान विजैराम से बहुत प्रसन्न हुए और ताम्रपत्र देते हुए लिखा कि—शाबास तुमने कछावा वंश का धर्म रखा—यह महान कार्य किया। जो रोटी मिलेगी—उसमें आधी आपको बांट कर हम और हमारे वंशज खायेंगे। विजैराम ने और भी महत्वपूर्ण कार्य किये।

इस प्रकार दिवान फतहचंद, नयनसुख, श्रीचंद, ताराचंद, कन्हीराम रतनचंद, केशरीसिंह आदि अनेक दिवानों के उल्लेख मिलते हैं जिनके बारे में खोज अपेक्षित है।

---

1. देखिए—टाडकृत राजस्थान का इतिहास पृष्ठ 601 2. जयपुर के बड़े मंदिर के शास्त्र भंडार

धर्मचक्र : तब और अब

पं० गुलाबचन्द जैन दर्शनाचार्य जयपुर ।

श्री सन्मति सन्देश कहो किसने माना है,
सही बात तो यही कि जिसने निज जाना है ।
बिन जाने जो कहता है "मैंने माना है",
वही सर्वथा मिथ्याभाषी मनमाना है ॥१॥
जान लिया यदि तत्त्व अतत्त्व न भूल गहेगा,
भाव सहित निज तत्त्व माँहि वह सदा रहेगा ।
मन-वच-काया एक वही कर सत्य कहेगा,
कथनी-करनी कभी न दो वह बोल सकेगा ॥२॥
आज सभी कह रहे वीर निर्वाण मनाओ,
धर्म-चक्र चल रहा भक्ति से फूल चढाओ ।
दे दो सब कुछ दान मान का भाव मिटाओ,
भेदभाव को मिटा स्वर्ग-सोपान लगाओ ॥3॥
किन्तु मिटा कब मान मान तो और बढ़ा है,
बोली ऊंची लगा नाम का पाठ पढ़ा है ।
संरक्षक में धर्म-चक्र का ऊंचा बैठूं
चाहे पैसा दो नम्बर का फिर भी ऐंठू ॥४॥
धर्म–चक्र में ऐसे अभिमानी आते हैं,
करते पैसा दान जगत में यश पाते हैं ।
वीर प्रभु का धर्म-चक्र तो मान घटाता,
है कैसा यह धर्म-चक्र जो मान बढाता ॥५॥
तीन लोक का ढांचा ठीक 'प्रतीक' बनाया,
वातवलय में सिद्ध-शिला को ठीक जनाया ।
अधो भाग में पंजा स्वस्तिक ऊपर आया,
परस्परो ग्रहो लिखाकर मन ललचाया ॥६॥
रही कसर ध्वज की, वह भी पूरी कीनी,
परमेष्ठी के पंच रंग की बात नवीनी ।
कहीं नहीं ये रंग, फिर भी खोज निकाले,
लिया प्रतिष्ठा पाठ जनाये पीले काले ॥७॥
किन्तु बड़ा है खेद रंग तो राग महा है,
जिन शासन में अधम राग को आग कहा है ।

वही रंग फिर परमेष्ठी वाचक बन जाते,
विडम्बना की बात सत्य औ तथ्य छिपाते ॥८॥
कह सकता फिर कौन मोल पैसे वालों से
चलती किसकी बात बड़ी बुद्धि वालों से।
हाथी के ये दांत निकल कर बाहर आये,
छिप न सकेंगे कभी पुनः बहु जोर लगाये ॥९॥
सुन प्रतीक की बात भला किसको भायेगा,
चतुर्गति मय लोक मुमुक्षु क्यों चाहेगा।
जग में वही प्रतीक, भला जो सम्बल होता,
जग-जन-मन आलम्ब्य आपदा अपनी खोता ॥१०॥
धर्म चक्र में बात तीसरी और निराली,
सिंह खड़े थे दोय पीनता थी मतवाली।
बड़े मजे की बात शान्ति के दूत बखानें,
हिंसक होने पर भी बन-अवधूत बखानें ॥११॥
बीच विराजे एक कलश सुन्दर लासानी,
तीर्थ क्षेत्र की रज है इसमें हमने मानी।
धन्य-धन्य यह रजस् और पूजें जो उसको;
नई चलाई चाल नमाया मस्तक उसको ॥११॥
की अगवानी ठोर-ठोर पर अद्भुत भाई,
बाजे गाजे और कीर्तन सब प्रभुताई।
सीनेमा की ट्यून और गाना भी वोही,
हो मन चाहा धूम-धड़ाका, चाहे क्योंही ॥१३॥
कोसों लम्बी हो कतार तब खूब मजे हैं,
चाहे भाड़े के टट्टू हों, पर खूब सजे हैं।
कहते इसको ही प्रभावना वे बेचारे,
बने स्वागताध्यक्ष विचक्षण यही हमारे ॥१४॥
चाहे यह है धर्म-चक्र, पर अर्थ चक्र ही,
कर्म चक्र भी कहो तभी है हमें फक्र ही।
यह बटोरता अर्थ, अर्थ कुछ भी नहीं आता,
मनमाना वितरण कर नेता व्यर्थ गवांता ॥१५॥
हाय जगत के वैभव! तूने खूब रुलाया,
जिनवर का जिन धर्म उसे नहिं नेक सुहाया।
माया चारी खूब पल रही है मनमानी,
आड़ धर्म की लेकर करते हैं बहुज्ञानी ॥१६॥

Lord Mahavira & Universe Age

by :
SHRI DIGAMBER DAS JAIN
Advocate, Saharanpur

Historians could not or did not trace History prior to 5000 years so according to them the world is 5 thousand years old.* Christian idea about the beginning of world and mankind did not go beyond 4000 B.C. Chaldeans fix 473000 years for the age of mankind and two million years for the age of the world.* Hindu astronomers maintain the world is 425, 447, 750, 625 days before the "Kali" Era* (2500 years ago). The modern scientists assess it about 3 thousand million years old.* Daily Tej (Delhi) dated 20-12-66 referring various researches prove the world to be of more than 4½ arb years old, (Page 10).

But Omniscient Lord Mahavira explaining scientific rule tells the world eternal on the basis of Universal Law of Nature "Nothing is destroyed altogether and nothing new is created, Births and deaths is not the real substance but only modification, so it does not accept any creator God. It proves logically that every individual soul is architect of its own destiny, Rig Veda endorses the view accepting that Sun is eternal, undying and uncreated.[2] Athur Veda (Kand 12, Sukat 1-61) also supports the view, Katho Upanishud (3-2-1) declares universe eternal. Geeta (15-1) Maha Bharat, Ashumegh Purba, (35-37-14) also expressly mention the World, earth, moon and sun etc. to be eternal and uncreated.

Creating, destroying and recreating does not stand the critical examination and logical interpretation. The great Lion of Punjab Lala Lajpat Rai asks, "Can this World full of miseries, inequalities, cruelities and marliarities, be the handwork of a good

---

* Govind Krishna Pillai, Director of the Centre of Indology Allahabad's Traditional History of India, Published by Kitab Mahal, Bombay, Page 10.

1. Daulat Ram Mitra's article "Age of Earth's living beings" which contain 14 specific instances of epigraphic proof of Universe's Age collected from various Indian & Foreign periodicals for details see Jain Sandesh 3-10.66 Page 9 (Mathura).

2. Rigveda, Mandal I Sukat 164 and Mantra 2.

God ? Where thousands of wicked people live in luxury and nobles in untold miseries ? Where is God ? I find no trace of Him in this World[3], Swami Karmanand famous Arya Samaji Scholar says, "What is the proof of God's existence, when he is not seen to any body. We have not seen any thing being done by God. How can we believe him creator of the World.[4] Another Scholar asks, If God created universe, where was he before creating ? If he was not in space, where did he localise the universe ? How can a formless substance like God creat the World of matter ? If the material is to be taken as always existing, why not take the world itself as "un begun"? If the creator was uncreated, why not suppose the world to be self-existing? "Is God self-sufficient? If he is, he need not have created the World. If He is not, he would be incapable of the task. If God created the World as a mere play of his will, it would be making God childish. If he created out of grace, he would be would not have brought misery and felicity. Hence the World is not created.[5] The Great-Scientist Jullian Huxley says, "If the devine intelligence is supposed to be so imperfect that it can not forsee the consequences of its own contrivences, if the supernal power can become furiously angry with the creatures of their omnipotence and in their senseless wrath destroy the innocent along with guilty.........then surely it is time for us to look some what closely into their credentals and to accept none but the conclusive evidence of their existence.[6] A Webers questions "How can we assume that a World full of evils is the creation of God ? Barren, deserts. arid mountains, deadly marshes, briars and thorms, tempests, ferocious beasts, do they not all abundantly prove that Diety has no hand in the governance of things ?[7] The argument that every object has a creator is not sound as we see several objects e.i. Space which are self existent, what about food & drink that are converted in stomach into urine, faeces and filth ? Is this work of God ? I never believe that a pure and pious, God gets into the stomach to do this dirty work. If it is the result of purely physical and chemical processes, why not likewise arrive at the incontrovertible conclusion that the universe is selfexisting.[8] The Greek's great thinker Aristotic (384-3. B.C.) the teacher of Greek's King, refering lengthy & sound reasons proves universal eternal and denying creation by God concluded, ' If we attribute these to God we shall make him either an incompetent Judge or unjust

---

3. Marhata 1933.
4. For details & further sound reasons see his "Ishwar Mimansa", Published by Digamber Jain Sang, Cnourasi, Mathura.
5. Cf. Bhandarkar op. cit. P. 113.
6. Science and Nelrew Tradition p. 258. Also see his article "A Global, Godless Religion", in Hindustan Times 24-9-1961.
7, A. Weber, History of philosophy, p. 137.
8. For details see Essentials of Hinduism. p. 36.

one and this is alien to his nature?" Refering Prof. Astronomy, University of Cambridge, Cylinder Theory of Universe explained by prof. N.R. Sen, Prof. Albert Enstein's Theory of Relativity, Dr. A.S. Eddington's view in his book.[9] The Nature of pyhsical World (page 80), P.C. Banerji FRAS, I.E.S. Mathematics Deptt. Allahabad University's Lecture on Exponding Universe delivered at the Science Congress, Bombay 1933 and many others Prof. G.R. Jain concluded in his Cosmology OLD & New,[10] there can be no other clearer pronouncement than this about the finiteness of universe and its eternity.[10] The World-fame scholar F. Arnold also says :—

"How can it be that Brahma,
Would make a World and keep it miserable,
Since, if all Powerful, he leaves it so,
He is not good, and if not Powerful,
He is not God,"

—Light of Asia

The eternal (beginless) period is divided in two 2 (yugas) Scycles (1) Avsarpany (Decreasing) and (2) Utsarpany (increasing).

Each yug is subdivided into 6 ages (Kal) :—

1. Origin Stone Age* (Best-Bhog Bhumi) period of great happiness.
2. Early Stone Age* (Medium „ „) period of happiness.
3. Later Stone Age* (Low „ „) period of happiness and sorrow.

In these Bhog Bhumi ages all needs were suspplied by 10 Kinds of Stone trees (desire yeilding 'Kālp Vrksas)" Henry Bailey Stevens has estimated this fact by a Scientific Study in his famous book, "the Recovery of Culture," basing his researches on archalogical and other independent evidence be reached to the conclusion that untill the invention of 'agriculture', the World really enjoyed such Golden Age of Peace as the Bhog Bhumi of Jainas.[11]

4. Agriculture Age period of sorrow and happiness (Age of toil and moil) Karam-Bhumi Satya-Yuga, 24 Tirthankras, 12 universal monerches, 9 Narayan 9

---

9. Pujan Ratankar, published by Jain Sidhant Granth Mala, Pahari Dhiraj, Delhi, p. 6.

10. For detailed reasonings & various references see. Prot. G. R. Jain's Cosmoolgy, old & News (1942) Published by Justice G.L. Jain's Estate, Indore, (M.P.).

* Fordetails Golden Social Studies, Vol. I. (Paul Publications, Jullender, Punjab). p. 193.

11. Religion of Tirthankaras, p. 38.

Balbadharas, 9 Pratinarayans, 11 Rudras, 9 Nardas, 24 Kam Deo etc. all great personalities are born only in this 4th Kāl, which ended 524 B.C.

5. Pancham Kāl (Kālikāl) period of sorrow, which is going on at present. It is of 21 thousand years and began 3 years 8 months 15 days after Salvation of Lord Wardhaman Mahavira (527 B.C.) Jainism and non-violence shall prevail upto 13 years 8 months 15 days before the end of Pancham Kāl, Jain Acharya named Indra, Jain Monk named Virangad Jain Nun named Srav-Shri and Jain House holder man named Agnil and Jain householder woman named Pangsena shall observe Ahinsa up to that period [12] All these will be Samyak Drishti;[13] during the reign of Kalanki king, who will take 1st piece of food, as tax from the Jain Monks. All these will die after 3 days Salekhana[14] and all the four will attain 1st Sudharam heaven.[15] Dharam Dhyan may be had upto the end of 5th Kāl.

6. Adharam Kāl (period of great sorrow) There will be no religion during this Kāl. All beings will be cruel observing Voilence, fire, grain, house will disappear. All people of this Kāl will get Hell or animal Kingdom[16] for their evil actions.[17]

During the last 49 days of 6th Kāl from Jeth 'Krishna' 12 to Āśadh 'Shukla' 15, 7 kinds of very fearful and severlly harmful rain each for 7 days will parylise[18] the entire universe almost all living beings die. However some will escape in the big cave of Vijyārath Hill. 7 kinds of helpful and happy rain each for 7 days from Sravan Krishna 1 to Bhadun Shukla 4 for 49 days destroying the previous evil effect shall bring peace and harmony, seeing which those hidden in the cave shall come out. To commemorate which Jains even up to day abserve 10 fold Dharama (1) Best Forgivness etc. Continuous for 10 days from Bhadun Shukal 5 to Bhadun Shukal 14, observing great worship of lord Jinendra. (Apostle of Peace) On the last day Festival of Anat Chowdsh is observed on Bhadun Sudhi Choudash. On Asoj Krishna 1st Forgiveness Festival is abserved to remove all ill feelings even against the wrost enemy; declaring with mind, speach and body :—

To all alive I extend forgiveness
All alive may forgive me,
To all beings I bear good will
And no hatred for any at all.

After 6th Kāl, 6th Kāl of Utsarpani yuga will begin & it will follow 5, 4, 3 & 1st Kāl and then 1st, 2nd, 3rd, 4th & 5th of next Apsaraponi Kal & thus cycle of line shall forever in the universe.

12 to 15. Virsen : Dhawal-Tika Gatha 858.

16. Dhawala gatha 863.

17. For details of 5th & 6th Kal see Ahinsa Bani 1957 pp. 84 to 86.

18. Pando-Puran p. 27.

Krishna and Arishta-Nemi

—**Dr. Jyoti Prasad Jain**
Ph. D., Lucknow

Krishna, the hero of the Bhagavata urana and the leading character in the famous epic Mahabharata, is one of the most popular ancient Indian heroes. To millions of people he is a personal god and chosen deity. Popular belief also ascribes to him the authorship of the celebrated Gita.

Born in the state prison at Mathura and reared amongst the cowherd boys and girls of Gokul, Nandgaon and Vrindaban, he was the son of Vasudeva by his wife Devaki, and belonged to the Vrishni branch of the Yadava clan of ancient Kshatriyas, His elder brother, born to his step-mother Rohini, was Balarama, Kamsa, the tyrannical king of Mathura and a cousin of Devaki, acting upon the prophecy that a son born to her would kill him, had thrown Devaki and Vasudeva into prison. The new-born Krishna was, however, secretly transferred in safety to Gokul. He later killed Kamsa who was also the son-in-law and deputy of Jarasandha, the mighty king of Rajgriha (Magadha). Thereupon, the latter invaded the kingdom of the Yadavas, with its head-quarters at Shauripur (near Agra), and being hard-pressed by his onslaughts, the Yadavas, under the leadership of Krishna, migrated en masse to Dwarika on the west coast. In time, Krishna succeeded in annihilating Jarasandha as well, befriended the Pandavas and was their chief advisor in their was against the Kauravas of Hastinapur. This catastrophy, designated as the Bharata or Mahabharata War, gave a death blow to the political hegemony of the Vedik-Aryan Kshatriyas, reducing their numbers and power considerably. At the same time, it marked the beginning of the decline of Vedic religion and culture, and a consequent revival of Shramana Dharma. With his foresight, diplomacy, political acumen and statesmanship, Krishna emerged as the most powerful monarch, the greatest political and cultural force, and the most popular hero of his times. No doubt, it was he who was chiefly instrumental in bringing about that phenomenal change in the political and cultural spheres.

The Brahmanical account of Krishna is surprisingly corroborated in the main by that available in ancient Jaina literature, the canonical Sutras, commentaries, the Vasudeva-hindi, Harivamsha, Arittha-Nemi-chariu, Pandava Purana, and the several versions of the Mahapurana. Therein he is described as Narayana, a future Tirthamkara,

a Trikhandi or Ardha-chakri (paramount Lord of half the world), and, together with his elder brother Balarama, figures in the list of the sixty-three most celebrated personages (Shalaka-Purushas) of ancient India. The eldest brother of his father Vasudeva was king Samudravijaya who was the head of the Yadava clan and whose queen, Shiva Devi, bore Arishtanemi or Neminatha, the twenty-second Tirthamkara. Samudravijaya originally ruled from Shauripur (near Agra), but, after the migration of the Yadavas to Dwarika on the west coast, he made the latter place his capital. After some time he seems to have abdicated the leadership of the clan and even his throne in favour of his very capable nephew, Krishna.

Krishna had great affection for his young cousin, Neminatha, and when the latter renounced the world and became a Tirthamkara, Krishna enlisted himself as his foremost lay devotee. His father, Vasudeva, brother, Balarama, son, Pradyumna, and many other members of the family also became devoted followers of the Tirthamkara. Several sculptures hailing from Mathura and belonging to the early centuries of the Christian era, represent Krishna and Balarama standing on either side of the Tirthamkara Neminatha, seated in between them in the traditional meditative pose.

In fact, Arishta-nemi from his very childhood was of a very contemplative and renunciatory bent of mind. Although he was physically very strong, stronger than even Krishna and Balarama themselves, he was very handsome and possessed a very loving nature and a very gentle and compassionate heart. Krishna arranged Arishta-nemi's marriage with Rajimati (Rajula), the very beautiful and highly accomplished daughter of Ugrasena, the king of Junagarh, which, however, did not materialise. When the marriage procession was nearing the palace of the bride's father, the royal bridegroom noticed with horror that a large number of animals had been collected and penned in order to be slaughtered and to provide meat for the feast that was to be given to the members of his marriage party. With uncommon courage, he refused to marry, jumped down of the chariot, set the poor wailing animals free, tore away his clothes and ornaments, renounced the world, and right away made for the top of Mount Urjayant (Girnar in Saurashtra) which stood outside that city. The lovely bride followed suit and practised austerities in a cave of the same mountain. Shortly after, Arishta-nemi became an Arhat, a Kevalin Jina, established his Dharma-tirtha, and commenced his ministry as the Tirthamkara, untiringly giving to the world his message of non-violence, goodwill and peace for all the living beings. His great renunciation had shaken the very roots of the age-long custom of meat-heating at social functions. Consequetly, not only the habit of abstinence from meat-eating was commended, but positive efforts for the protection of animals from being slaughtered, for whatever purpose, came to be regarded as religious Tirthamkara Neminatha was thus the greatest pioneer of the movement for the revival of Shramana Dharma in the post-Mahabharata or later Vedic age. And, Krishna was the foremost in helping to make the Tirthamkara's mission a success.

There are ethnologists who believe that Krishna was, if not an outright non-Aryan, at least a semi-Aryan, that he was the originator of Krishnaism (the Krishna-cult of the Bhagavata sect) which is similar and nearer to Jainism in its origin and is a clear example of the rise of an anti-Brahmanic cult in the non-Brahmanic and clearly non-Aryan environment, and that even in the Rigveda he is spoken of as a leader of a non-Aryan tribe.[1] A definite, and perhaps the earliest, reference to Krishna occurs in the Chhandogya-Upanishad (3/17), wherein he is said to have developed in his own teachings a number of ideas, adopted by him from his mentor, the wise Ghora Angirasa.[2] According to certain scholars, this Ghora Angirasa was non else but the Tirthamkara Arishta nemi.[3]

The historicity of the twenty-second Tirthamkara Arishta-nemi alias Neminatha is not now doubted, since his cousin Krishna has already been accepted as a historical person.[4] Many Brahmanical works like the Rigveda, Yajurveda, the Mahabharata and several Puranas refer or allude to Arishta-nemi by name, and, therefore, many modern scholars have endorsed the view that he must have been a real person.[5] Some go even further and establish the historicity of Krishna himself on the basis of that of Neminatha,[6] while, some others hold that 'the Jaina traditions represent the oldest form of the Krishna legend;[7] Another eminent scholar admits that the Jaina books contain many historical facts which are not to be found in the Bhagvata literature, and that simply because there are certain discrepancies between the Hindu and Jaina accounts, or because the latter puts too long an interval between Arishtanemi and Parshva, the account of Arishtanemi's life based on ancient Prakrit texts does not deserve to be ignored.[8]

---

1. Guseva, N.R. : *Jainism*, (Bombay, 1971), pp. 15–19.
2. *Ibid*;, p. 15 : *The Cultural Heritage of India*, Vol. IV, p. 37.
3. Kausambi, D. : *Bharatiya Sanskriti aur Itihasa*, pp. 5–57; *Shramana*, May 1971, pp. 13–14.
4. Basu, N.N. : *Harivamsa Purana*, Introduction; *The Vedic Age* (Bharatiya Vidya Bhawan); Guseva, *op. cit.*, p. 15 fn.; Jain, J.P. : *Bharatiya Itihasa : Ek Drishti*, (Delhi 1966), pp. 35–36.
5. Jain, J.P. : *Jainism, The Oldest Living Religion*, (Varanasi, 1951), pp. 20–24; *Shramana*, *op. cit.*, pp. 13–17.
6. Bhattacharya, H.S. : *Lord Arishtanemi*, pp. 88–89, and Heroes of Jaina Legends in *Jaina Antiquary*, Vol. XIV, Part 2, p. 77.
7. Kennedy, Rev. J. : 'The Child Krishna, Christianity and the Gujars', in *JRAS.*, 1907, pp. 951 ff.
8. Dewan, P.C. in *Annals BORI.*, Vol. XXIII, p. 122.

Thus, Tirthamkara Arishtanemi and Narayana Krishna were both not only very real historical persons, and closely related to each other, they were the greatest leaders of their times, who together brought about a transformation in Indian society, by seeking a happy reconciliation between the Shramana and Brahmana currents of ancient Indian religion and culture and a possible fusion of the Aryan and indigenous non-Aryan peoples. No wonder, they are adored and worshipped even today, after the lapse of a long period of some three thousand and five hundred years.

LORD MAHAVIR SAID

Conquer your Wrath by sweet forgiveness ;
And by humility check vanity :
By truth straightforward, stay all crooked fraud ;
And by Contentment peaceful, Vanquish greed.

— LORD MAHAVIRA.

LORD MAHAVIRA

by :
PREM CHAND JAIN
Research Scholar
University of Rajasthan

1. "This sixth Century B.C. was indeed one of the most remarkable in all history. Everywhere men's minds were displaying a new boldness. Everywhere they were waking up out of the traditions of kingships and priests and blood sacrifices and asking the most penetrating questions. It is as if the race had reached a stage of adolescence—after a childhood of 20,000 years."

— H.G. Wells

2. Indeed Mahavira was born in an age when men's minds were astir all over the civilised world in India, in China, in Greece. All on a sudden leaders of men had emerged to show humanity the way. Lao-tse, and Confucius did it in China, as Mahavir and Buddha did in India and Pythagoras, Socrates and Plato in Greece. But then there was not much in common either in their heredity or in the way they prescribed. For while Mahavira and Budda were princes themselves their illustrious contemporaries both in Greece and in China were just ordinary men. And while Mahavira and Budda had devoted to attaining libration for themselves and to showing the way to the common man. Confucious in China and Socrates and Plato in Greece were mainly concerned with social and political reforms. All of them were, however, great in so far as they influenced not only their contemporaries, but much more, the generations that followed and all are revered to this day as the wisest and as born leaders of men.

3. During the last two thousand and five hundred years since Mahavir lived and taught, shape of things has changed a great deal. The present age is quite different from the age in which Mahavira lived. In the changed contexts of today Mahavira has no relevance. If we literally take into account the way the people lived in those days and the form and nature of the problems the individual and society then faced. But the basic concepts Mahavira had developed through experience and experimentation in his own life have not changed and they still hold good and effective. Leaving aside the religious Jargon, the main stream of life is the same today. In essence, same

consciousness flows from age to age. What changes is the form, the exterior, and of course, the expression.

4. Mahavira was dead long age, but the truth of his concepts and ideals remains imperishable. How to achieve peace and happiness for all and at all times, was the question then and is the question now. The answer Mahavira gave was "Live and let Live". Is the answer different today? Obviously not. Mahavira had a clear perception of the problem and had evolved a process of self-knowledge, self-analysis and self-conduct to know the truth and practise it for bringing the real and lasting solution. The very roots of this self-conscious process of living a true life are, according to Mahavira : right perception, right knowledge and right conduct. If one is right in seeing and understanding the nature of the things, in acquiring the knowledge of the things, and in living in accordance with the same, he causes no problem and gets into no problem. Problem is invariably the product of one's folly in thinking and living. Is the process of problem involvement different today ? Most of our problems are because we look more outside than inside, we claim to reform and purify others, not caring to know and understand the evil within ourselves. It is in this that the all powerful politicians suffer today. In the name of freedom and reform he is more restrictive, more corruptive. Mahavira's way to reform, was to start the reform process from himself. This was the basic truth he discovered and lived for. He believed that truth is embedded in us and if we can perceive the truth and reform ourselves accordingly, the change will influence the world order. He universalised himself. To him, there was no difference between man and man. Differences and distinctions of any kind which torment the universal spirit of man disappeared. Through this conceptions of the self, he developed the principle of sacredness of all life which formed the base of 'Ahimsa' non-violence and non-injury to all creatures. But it was not a negative principle, it did not mean running away from the life or shirking away the responsibilities of life. Ahimsa to him, was a positive force, which made life livable in a better and fuller way. If you have consideration and respect for others, feelings, others have similar consideration for your feelings, consideration to consideration makes the foundation of the peace, perpetual peace. Only the spiritually brave can take to this path.

5. How can one build up life on a place where all that you have to do is to deny, sacrifice and renounce the possessions and the nature of possessiveness ? Yes, one can, if only one realises that the possessionless possesses the whole world. We have not seen with our own eyes Mahavira demonstrating this phenomenon, but we have seen Mahatma Gandhi exemplifying this in our own times. He welded all power without having any possessions and instruments of possession. Gandhi had imbibed the spirit of Mahavira and had applied his ideals to the solution of problems in all spheres of life. Mahavira's aim, was deliverance called Nirvana or Moksa to achieve he laid great emphasis on non-possession, non-accumulation and non-attachment.

Such a state of non-attachment helps the man always remain free, openminded and amiable to the logic of life. Mahavira was logical and dynamic and never dogmatic in his thinking and approach.

6. Mahavira was a free thinker and therefore, a revolutionary all his life. This protestations and opposition to the Brahmanical hierarchy for things and thoughts which he considered wrong and harmful to the interests of the individual and society are well-known. He was a fearless critic of precepts and practices which he considered harmful. No flattery or frowning from any quarters would deter him in any way. He was a dauntless fighter for the cause of truth. He boldly stood the tortures he was given, but never deviated from the path of truth. This was the struggle, the TAPASYA, which made him Mahavira. He had unflinching convictions, but would not hesitate to change his views. If and when he was convinced that the truth lay the other way; truth and truth alone was his gospel and the life's journey for him was to achieve this gospel.

7. Through quite strong and unflinching in adherence of his own convictions, he had raspect for convictions of others also. He believed in th϶ co-existence of different systems of thought and in keeping continuous dialogue among the different schools of thought. There is no monopoly in the sphere of thought and ideas. Mahavira did not allow conflicts and contradictions in thought to become personal conflicts between followers of one school of thought and the other. He had respect for all faiths, because all had the same goal—the search for truth.

8. In the power-tormented world of today, where in the name of democracy, liberty and fraternity, nations are annihilating nations, mutual killings are taking place among aspirants to power, Mahavira's teachings have great relevance. The way to peace and tranquility among individuals, among communities and among nations lies in the direction Mahavira showed to us. The direction which stresses the sacrifice of the self for the universal. This is the only sure way to peace and happiness of mankind, but it requires courage of conviction and determined dynamism to take the strides in that directions, whatever the obstacles and opposition. Mahavira's philosophy of life has every relevance. If we have the required determination and ability to perceive 'rightly', knew and understand 'rightly' and act 'rightly', but if our aim is only to enlogise Mahavira and his teachings and leave it at that; it will be only another addition to plethora of hymns in his honour, without any meaning and purpose, rather all vague, hollow and even deceptive.

9. Mahavira is a part of our history—a part of the universal thought process. It has, therefore, a relevance which is and will remain imperishable in its essence. The chaff goes and will go, but the essence lives and will live. In essence, there is much in the ideas and ideals Mahavira practised and preached, which is of imminent value in offering solutions of the problems of today and tommorrow for emancipation and advancement of mankind.

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

मनुष्य जन्म से नहीं. कर्म से महान बनता है।

—भगवान महावीर

[illegible]

प्र
थ
म
ख
ण्ड

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

☐ पं. गुलाबचन्द जैनदर्शनाचार्य

[छल, कपट, माया ये सब एकार्थवाची शब्द हैं। वक्ता ने जो शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त किया है उसका वह ही अर्थ न करके अन्य अर्थ करना साहित्य में वाक् छल कहा गया है। जैनाचार्य इस प्रकार के छल के विरुद्ध रहे हैं क्योंकि वह जैनाचार की प्राणभूत अहिंसा सिद्धान्त की घातक है। कुछ-कुछ ऐसा ही आचार्य उमास्वाति के 'परोस्परोपग्रहो जीवानां' सूत्र को हमने आदर्श वाक्य के रूप में प्रयुक्त करके किया है। वर्तमान में इस सूत्र में प्रयुक्त उपग्रह शब्द का अर्थ निमित्त न करके उपकार अर्थात् भलाई किया जा रहा है (देखिए वीर परिनिर्वाण वर्ष 1 अङ्क 9 फरवरी 1975 में 'वर्तमान युग में श्रमण संस्कृति' शीर्षक उपाध्याय मुनिश्री विद्यानन्दजी का लेख) जो स्पष्ट ही स्वयं ग्रंथकार के अभिप्राय के विरुद्ध होने से उक्त छल की परिभाषा में आता है। कैसे ? यह पढ़िये आप विद्वान लेखक की इस कृति में।

स्वनाम धन्य श्री जयचन्दजी ने भी सर्वार्थसिद्धि की टीका में लिखा है—'उपकार शब्द का अर्थ भला करना नहीं लेना कछु कार्य को निमित्त होय तिस को उपकारी कहिए।

प्र. सम्पादक]

"परस्परोपग्रहोजीवानाम्" सूत्र, तत्वार्थसूत्र के कर्ता समर्थ आचार्य उमास्वामी का है। आपने अपने तत्त्वार्थसूत्र के पंचम अध्याय के 21 वें सूत्र में इस वाक्य को गूंथा है। आचार्य श्री ने जब सब द्रव्यों के उपकारों का वर्णन किया उसी प्रसङ्ग में एक जीव का दूसरे जीव के साथ उपग्रह होता है ऐसा उल्लेख किया। उपग्रह का अर्थ करते समय स्वयं उमास्वामी ने अपने स्वोपज्ञ भाष्य में लिखा कि "उपग्रहो निमित्तमपेक्षा कारणम् हेतुरित्यनर्थान्तरम्। उपकारः प्रयोजनं गुणोऽर्थ इत्यनर्थान्तरम्"। अर्थात् उपग्रह निमित्त अपेक्षा कारण और हेतु ये पर्यायवाचक शब्द हैं। उपकार प्रयोजन गुण और अर्थ इन शब्दों का एक ही अर्थ है। इसी प्रसंग में बतलाते हुए छहों द्रव्यों के अलग-2 उपग्रहों का उल्लेख करते हुए सर्व प्रथम धर्म और अधर्म का उपग्रह बतलाया है—

"गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः" गतिमतां गतेः स्थितिमतां स्थितेरुपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारो यथासङ्ख्यम्" अर्थात् गतिमान् पदार्थों की गति में और स्थितिमान् पदार्थों की स्थिति में उपग्रह करना, निमित्त बनना, सहायता करना क्रम से धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार है।

आकाश के उपग्रह को बताने के लिये—

'आकाशस्यावगाहः' अवगाहिनां धर्माधर्म पुद्गलजीवानामवगाह आकाशस्योपकारः। अर्थात् अवगाह करने वाले धर्म अधर्म पुद्गल और जीव द्रव्य हैं। इनको अवगाहन देना आकाश द्रव्य का उपकार है।

क्रमानुसार पुद्गल द्रव्य का उपकार या कार्य बताने के लिये सूत्र बताया "शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम्" पञ्चविधानि शरीराण्यौदारिकादीनि वाङ्मनःप्राणापानाविति पुद्गलानामुपकारः। अर्थात् औदारिकादि पांच शरीर, वचन, मन और प्राणापान ये पुद्गल द्रव्य के उपकार

हैं किन्तु पुद्गल के अन्य उपकार भी होते हैं, इसे बताने हेतु अन्य सूत्र की भी रचना की गई यथा–

"सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च" सुखोपग्रहो दु:खोपग्रहो जीवितोपग्रहश्च मरणोपग्रहश्चेति पुद्गलानामुपकारः । अर्थात् सुख में निमित्त बनना, दु:ख में निमित्त बनना, जीवन में निमित्त बनना, और मरण में निमित्त बनना ये सब पुद्गल द्रव्य के उपकार हैं ।

इसी प्रकार जीव द्रव्य का उपकार भी आचार्य द्वारा प्रतिपादन किया गया यथा—

"परस्परोपग्रहो जीवानाम्" परस्परस्य हिताहितोपदेशाभ्यामुपग्रहो जीवानामिति । जीवों का उपकार या कार्य परस्पर में एक दूसरे के लिये हित और अहित का उपदेश देने के द्वारा हुआ करता है ।

द्रव्यों में अवशिष्ट काल द्रव्य का उपकार भी निम्न प्रकार बताया गया है—

वर्तना परिणाम क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य । वर्तनादीनि कालकृतानि कालस्योपकारः इति ॥

अर्थात् वर्तना परिणाम क्रिया और परत्वापरत्व ये काल के उपकार हैं ।

इन उपकारों की व्याख्या अन्य टीकाकारों ने भी की है । यहां "परस्परोपग्रहोजीवानाम्" की टीका ही विशेष रूप से वर्ण्य विषय है अतः सर्व प्रथम सिद्धसेन गणी कृत टीका पर विचार प्रस्तुत किया जा रहा है । वे भाष्य की टीका करते हैं— परस्परशब्दः कर्मव्यतिहार विषयः । अन्योऽन्योपग्रहो जीवानामुपकारः । हितप्रतिपादनेनाहितप्रतिषेधेनचोपग्रहं कुर्वन्ति । परस्पर शब्द कर्म व्यतिहार विषयक है । एक दूसरे जीवों का परस्पर में हित प्रतिपादन या अहित प्रतिपादन जीवों के उपकार हैं । ये उपकार निमित्त, कारण या कर्म किसी भी अर्थ में लिया जा सकता है ।

इसी विषय को भट्टाकलङ्क देव ने राजवार्तिक में इस प्रकार कहा है–कर्मव्यतिहारविषयः परस्पर शब्द कर्मव्यतिहारः क्रियाव्यतिहार इत्यर्थः । तद्विषयोऽयं परस्परशब्दः । परस्परस्योपग्रहः परस्परोपग्रहः । कः पुनरसौ ? अर्थात् परस्पर शब्द कर्म व्यतिहार है और कर्म व्यतिहार क्रिया व्यतिहार है अर्थात् क्रिया के आदान प्रदान को कहते हैं । यह परस्पर शब्द उसी का विषय है । एक दूसरे का उपग्रह ही आपस का उपकार कहलाता है और वह किस प्रकार का है—

"स्वामिभृत्यादिभावेन वृत्तिः परस्परोपग्रहः"– स्वामी और सेवक की वृत्ति परस्पर उपग्रह वृत्ति कहलाती है । स्वामी सेवक को धनादि देता है और सेवक स्वामी की सेवा करता है या उसके कष्टों का निवारण करता है । इसको परस्परोपग्रह कहते हैं ।

"स्त्री पुंसरतिवदनियमप्रदर्शनार्थं च । यथा स्त्रीपुंसौ यौगपद्येन रतिक्रियायां परस्परस्योपकुरुतः न तथा सुखाद्युपग्रहे नियमः इति प्रदर्शनार्थं च पुनरुपग्रहवचनं क्रियते । अर्थात् जिस प्रकार रति क्रिया में स्त्री और पुरुष परस्पर का उपकार करते हैं इस प्रकार का सर्वथा नियम परस्परोपकार का नहीं है । ऐसा नियम नहीं होने से ही कोई जीव अपने लिये सुख उत्पन्न करके कदाचित् दूसरे एक को दो को या बहुतों को सुखी कर सकता है और दु:खी भी । अतः निश्चित नियम का अभाव है ।

सर्वार्थ सिद्धि के कर्ता श्री पूज्यपाद भी उपग्रह को स्वामी सेवक तथा गुरु शिष्य वत् स्वीकार करते हैं वे लिखते हैं—परस्परस्योपग्रहः परस्परोपग्रहः । जीवानामुपकार. । कः पुनरसौ । स्वामी भृत्यः, आचार्यः शिष्यः इत्येवमादिभावेन वृत्तिः परस्परोपग्रहः । अर्थात् परस्पर का उपग्रह जीवों का उपकार है । जैसे स्वामी सेवक और आचार्य शिष्य की वृत्ति होती है उसके अनुसार एक जीव की दूसरे जीव के साथ उपग्रह वृत्ति समझनी चाहिये ।

किन्तु आधुनिक युग में और परिनिर्वाण ग्रंथों में आचार्य कृत 'परस्परोपग्रहो जीवनां' के भाव को वैसे ही बदल दिया गया है जैसे कि परमाणु युग में नदियों के बहाव या मुहाने बदल दिये जाते है। ग्रंथ के लेखक लिखते हैं कि "चतुः संघ में, जैसाकि आजकल सुनने में आ रहा है, यदि आचार-शैथिल्य प्रवेश कर गया है तो अंगांगी भाव से उसका निराकरण करना अधिक श्रेष्ठ है। एक दूसरे पर दोषारोपण न करके "परस्परोपग्रह" से अपने अपवाद को, शैथिल्य को दूर कर सकें तो यह अच्छा रहेगा"।

यहां लेखक "दोषारोपण भी परस्परोपग्रह है" यह भूल गये हैं। बल्कि परस्पर के उपकार को ही मध्ये नजर रखा है अपकार को नहीं, और यही नहीं उपकार अपकार के साथ निमित्त या कारण-पना भी उपग्रह है इसको भी छोड़ गये हैं। जैसे स्वामी सेवक को धन देता है और सेवक उसके बदले में उसका काम करता है तो यह स्वामी का सेवक के प्रति उपकार नहीं है यह तो उसका पारिश्रमिक या कर्तव्य है। वैसे ही आचार्य और शिष्य की बात है। आचार्य शिष्य को उपदेश देता है अपनी रागानुवृत्ति के परिपोषण में उपदेशादि देते हैं और शिष्य अपने गुरु को प्रत्युपकार की भावना से गुरु की सेवादि करता है और यदि उपदेश प्रतिकूल लगे तो अपकार भी करता है। जैसे धर्म द्रव्य का कार्य गमन करते हुए जीव और पुद्गलों को गमन में मदद करना है और पुद्गलों का कार्य सुख दुःख जीवन मरण में जीव को सहायक होना है वैसे ही जीवों का भी परस्पर सहायक होना कर्तव्य है। इसमें मात्र भलाई अर्थ को पकड़ने से अव्याप्ति दोष आता है। उपकार और निमित्तादि में अर्थ नहीं आता बल्कि यह अर्थ कर्ता बुद्धि का सम्पादन भी करता है जो सैद्धान्तिक रूप से घातक सिद्ध होता है। जैसाकि वार्तिककार ने स्पष्ट कह दिया है कि "कोई जीव अपने लिये सुख उत्पन्न करके कदाचित् दूसरे एक को दो को, या बहुतों को सुखी कर सकता है और दुःखी भी कर सकता है। दुःख उत्पन्न करके सुखी भी कर सकता है और दुःखी भी। अतः सिद्ध हुआ कि "परस्परोपग्रहः" केवल विधि अर्थ में न लेकर निषेध अर्थ में भी आता है ऐसा आचार्यों का मत है। वीर परिनिर्वाण में यह भी देखने में आया है कि "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" इसका तात्पर्य है, जीवों का परस्पर उपकार। प्रतीक में जैनदर्शन का यह सूत्र युग-युग से सम्पूर्ण जगत् को शान्ति पूर्ण सह-अस्तित्व की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है।" ऐसा कहना "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" का मूल भूत अर्थ जो कि आचार्यों ने सदियों पूर्व किया था का अपलाप करना है क्योंकि अन्य द्रव्यों की भांति जीव द्रव्य में जो उपग्रह घटना चाहिए उसका एकांगीपन रख दिया गया है। बोलचाल की भाषा में चाहे जो अर्थ किया जा सकता है किन्तु द्रव्य और भाव दृष्टि से उक्त अर्थ में महान् दोष आता है।

चकले की वेश्या सदाचार का उपदेश

□ श्री पदम कुमार सेठी
डीमापुर (नागालैण्ड)

साठ करोड़ की आबादी में कुछ लोग ये कहते हैं।
धर्म करो कुछ धर्म करो नाम ये ही बस रटते हैं।

धर्म की परीभाषा क्या है, ये उनको मालूम नहीं।
होम कर लिया जाप कर लिया उनका बस है धर्म यही।

कितने बेबस कितने भूखे, नजरों के आगे रहते हैं।
हास्य पद कितना लगता है, उपदेश जब वो देते हैं।

पीऊंगा मैं रात शराब दिन को कहूंगा है, खराब।
दिन में कहता छोड़ इसे, रात को कहता क्या शबाब।

लानत तुम पर देता हूं, मैं, कहते कुछ करते हो कुछ।
अंधविश्वास जकड़ रखा है, पकड़ रखी बस उसकी पूंछ।

ईश्वर हम से कहता है, मुझे नहीं विचार अपनाओ।
कर्म जब अच्छे नहीं कर सकते, नजरों से दूर चले जाओ।

यहां पूजा तुम मेरी करते हो, बाहर गन्दे दम भरते हो।
लेने यहां क्या आये हो तुम, अपमान जो मेरा करते हो।

ईश्वर इतना निर्दयी नहीं जो, भक्तों की पुकार नहीं सुनेगा।
कर्म करोगे उल्टे जब तुम, फिर बतलाओ कैसे सुनेगा।

हार्दिक इच्छा मेरी ये थी मानव मन्दिर मानव धर्म हो।
वादविवाद को दूर फेंककर, हृदय सबके मानव ही मानवहो।

महावीर को कल्पना एवं मनोरंजन के पात्र न बनावें

□ श्री वंशीधर शास्त्री, एम. ए.

[पूज्य मुनि श्री विद्यानन्दजी ने तीर्थंकर वर्द्धमान नामक एक पुस्तक लिखी है जो नई दुनिया प्रेस, इन्दौर से मुद्रित होकर अक्टूबर 1973 में श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर से ही प्रकाशित हुई है। इसके मुख पृष्ठ पर तीर्थंकर वर्धमान का चित्र मुकुट आदि पहने दिया है और उसी चित्र का परिचय अन्दर महावीर वन्दना से पूर्व दिया है। उस चित्र की क्या असलियत है और वह किस प्रकार से दिगम्बर परम्पराओं के विरुद्ध है इस पर विस्तार से मान्य लेखक ने अपनी इस रचना में नये ढंग से प्रकाश डाला है। किसी भी दिगम्बर मुनि द्वारा इस प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय मान्य मूर्ति का अपनी पुस्तक के मुखपृष्ठ पर चित्र देना एवं उसको अन्य प्रकार से प्रचारित कराना शायद इतिहास की इस प्रकार की पहली घटना है। —प्र. सम्पादक]

भगवान महावीर के निर्वाण के 2500 वर्षीय समारोह के प्रसंग में महावीर के सम्बन्ध में पर्याप्त साहित्य लिखा गया है। इससे महावीर की वाणी सर्वत्र पहुंचने को सक्षम हुई है ऐसा समझ कर मन को संतोष होता है।

इस साहित्य के लेखक सभी श्रेणी के व्यक्ति रहे हैं यथा आचार्य, साधु, विद्वान् गृहस्थ, धनी, छात्र आदि। इनमें से कतिपय व्यक्तियों ने महावीर का सर्वांगीण चरित्र प्रस्तुत करने के लिए दिगम्बर श्वेताम्बर साहित्य को आधार बनाया है किन्तु अधिकांश ने स्वयं श्रम न कर दूसरों की रचनाओं के आधार पर नवीन रचनाएँ प्रस्तुत की हैं वे साधारण स्तर की रही हैं। इतना होने के बावजूद भी यह मानना पड़ेगा कि महावीर को राहुल सांकृत्यायन जैसा घुमक्कड़ चरित्र लेखक नहीं मिला जो उनका प्रामाणिक चरित्र प्रस्तुत करता। वैसे आज प्रचार का युग है इसलिए अप्रमाणिक रचनाएं भी सुन्दर साज सज्जा में प्रस्तुत होने से प्रशंसा की पात्र बन गई है क्योंकि साधारण लोग विषय की यथार्थता में न जाकर बाहरी साज-सज्जा को अधिक देखते हैं। विषय की रचना के लिए तो श्रम एवं बुद्धि की आवश्यकता है जबकि बाहरी सजावट के लिए पैसे की। आज पैसा उपलब्ध करने के लिए चमत्कार एवं ढोंग का सहारा लिया जाता है। ऐसी अप्रमाणिक रचनाओं के लिए भी कुछ विद्वान किसी कारणवश प्रशंसक बन जाते हैं। उनकी प्रशंसाओं के आधार पर साधारण पाठक भी उनकी प्रशंसा किए बिना नहीं रहता।

उदाहरण के लिए भगवान महावीर की जीवन्त स्वामी नामक प्रतिमा एवं उनका संगम देव के साथ क्रीड़ारत वाला शिलापट्ट के चित्र प्रस्तुत किए जा सकते हैं। कई पुस्तकों, लेखों, बुलेटिनों, कलेण्डरों आदि में जीवन्त स्वामी नामक प्रतिमा का चित्र एवं उसके आधार पर अन्य काल्पनिक चित्र भी प्रकाशित किए गए हैं। किसी लेखक ने इस प्रतिमा का चित्र अपनी पुस्तक में नई खोज बताकर दे दिया तब अन्य लेखकों ने उसका अनुकरण कर अपनी रचनाओं में उसका उल्लेख कर दिया व कतिपय पाठकों ने इस प्रतिमा की स्थिति, इतिहास, प्रामाणिकता समझे बिना प्रशंसा कर दी। किन्तु ऐसी प्रतिमा को प्रामाणिक मानने से इतिहास एवं दिगम्बरत्व का कितना उपहास होता है इसकी ओर ऐसे लेखकों एवं विद्वानों का ध्यान

कहीं भला ! किसी भी जैन साहित्य में किसी भी व्यक्ति की भले ही तीर्थंकर ही क्यों न हो—गृहस्थ अवस्था की मूर्ति बनाकर पूजा करने का विधान नहीं है। किन्हीं व्यक्तियों ने साम्प्रदायिकता के प्रभाव में ऐसी मूर्ति का कहीं उल्लेख कर दिया हो तो बात अलग है। दिगम्बर परम्परा में तो वीतराग नग्न मूर्ति पर धागा भी पड़ा हुआ हो तो अपूज्य होती है तब ऐसी शाही वेषभूषा युक्त 'सालंकारा' मूर्ति की पूजा का कहां विधान हो सकता है ? ऐसी मूर्ति का प्रचार एवं समर्थन वे ही कर सकते हैं जिन्हें दिगम्बरत्व का सच्चा श्रद्धान व ज्ञान न हो।

ऐसी 'सालंकारा' मूर्ति का जैन साहित्य में क्या वर्णन है इसके लिए इस मूर्ति का संक्षिप्त परिचय जानने योग्य है।

25–26 वर्ष पूर्व बड़ौदा (गुजरात) के पास अकोरा नामक स्थान पर खुदाई के समय कांसे की कुछ मूर्तियां उपलब्ध हुई थीं। वे तोड़ी फोड़ी जाकर कूट में बेची जा रही थी तभी बड़ौदा के श्वेताम्बर विद्वान्, पुरातत्व विशेषज्ञ श्री उमाकान्त शाह को इसकी जानकारी मिली और वे अथक श्रम कर कई मूर्तियां बचाने में सफल हुए, वे मूर्तियां बडौदा म्यूजियम में आज सुरक्षित हैं। उन्होंने उन मूर्तियों का सुन्दर सचित्र परिचय Akota Bronzes नामक पुस्तक में दिया है। उन्होंने इन मूर्तियों में से दो मूर्तियों को जीवन्त स्वामी' की मूर्ति बताकर परिचय दिया है। इन दो मूर्तियों में से एक मूर्ति पर कोई लेख नहीं है, इस मूर्ति के ही चित्र वर्तमान में जीवन्त स्वामी के नाम से पुस्तकों आदि में प्रस्तुत किए गए हैं। डा. शाह को इस प्रतिमा का चित्र इतना पसन्द आया कि उन्होंने इस पर स्वत्वाधिकार (copy right) ले रखा है। मुझे उन्हीं से ज्ञात हुआ कि कई लेखक उनकी पूर्वानुमति लिए बिना इस प्रतिमा का चित्र प्रकाशित कर उनके स्वत्वाधिकार का हनन करते हैं।

डा. शाह ने इस मूर्ति के सम्बन्ध में ओरियंटल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा के जर्नल के सं. 1 भा 1 (सितम्बर 1951) में A unique Jain Image of Jiwant Swami शीर्षक लेख प्रकाशित कराया है।

यह कांसे की प्रतिमा है, खड्गासन है, इस पर न भामण्डल है और न किसी प्रकार का लेख है, प्रतिमा का अधोभाग खण्डित प्रायः है धड़ से ऊपर का हिस्सा यथा मुख, सिर, सीना आदि दर्शनीय अवस्था में है, भाल पर तिलक है, आंखों में पुतली के लिए चांदी का उपयोग किया हुआ लगता है, इसका अधोभाग धोती व करधनीयुक्त है, हाथों में भुजबंद, बाजूबंद है, सिर पर मुकुट है, कानों व गले में भी अलकार है। डा शाह का कहना है कि इस प्रतिमा को किसी राजा की प्रतिमा भी माना जा सकता था किन्तु चूंकि इसी प्रकार की एक अन्य प्रतिमा पर निम्न लेख ब्राह्मी लिपि में पढ़ा जाता है—

ॐ देव धर्मोयं जिवंत सामि प्रतिमा चन्द्र कुलिकस्य नागरीश्वरी श्राविकाया।

इसलिए डा शाह ने इस प्रतिमा के उक्त लेख के आधार पर बिना लेख वाली प्रतिमा को भी जीवन्त स्वामी की प्रतिमा के रूप में ही मान्य किया है। यह ठीक है कि दोनों की रचना पद्धति आदि में अन्तर है लेख वाली मूर्ति के सिर पीछे भामण्डल है जबकि बिना लेख वाली प्रतिमा के भामण्डल नहीं है। लेख वाली प्रतिमा उक्त प्रतिमा जितनी मनोज्ञ एवं भावपूर्ण नहीं बन पाई है।

डा. शाह ने यह स्वीकार किया है कि इस प्रकार की प्रतिमा का दिगम्बर साहित्य में उल्लेख नहीं मिलता है और न ऐसी प्रतिमा ही उनके यहां मिली है। इस जीवन्त स्वामी प्रतिमा का उल्लेख छठी शताब्दी के बाद के श्वेताम्बर साहित्य में

मिलता है जिसे कि डा. शाह ने अपने उक्त लेख में उद्धृत किया है।

डा. शाह ने बताया कि छठी शताब्दी के पूर्व की जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ दिगम्बर अवस्था की ही मिलती हैं। छठी शताब्दी में या उसके बाद बनी हुई श्वेताम्बर सवस्त्र मूर्तियां मिलती हैं। उन्होंने जीवन्त स्वामी की उक्त मूर्ति का निर्माण काल भी छठी शताब्दी के लगभग माना है।

डा. शाह ने श्वेताम्बर साहित्य में प्राप्त जीवन्त स्वामी प्रतिमा सम्बन्धी विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

1. वाचक संघदास गणीकृत वसुदेव हिन्डी में एक कथा आई है जिसमें वासवदत्ता नामक महिला ने आर्या सुव्रता के संघ में शामिल होने की अनुमति चाही है, आर्या श्री का संघ जीवन्त स्वामी की प्रतिमा के यात्रार्थ उज्जैन जा रहा था। यह रचना डा. सन्देसरा के मतानुसार 610 ई. के बाद की नहीं होनी चाहिए।

डा. शाह को जीवन्त स्वामी का नाम श्वेताम्बर साहित्य में भी इसके पहले की किसी रचना में नहीं मिला दिखता है।

2. क्षेमकीर्ति (वि. सं 1332) ने बृहत्कल्प सूत्र और उनकी निर्युक्ति पर टीका करते हुए 'पूर्व चैत्य' का अर्थ जीवन्त स्वामी प्रतिमा भी किया है। मूल में केवल पूर्व चैत्य है। (चैत्यानि पूर्वाणिवा चिरन्तनानि जीवन्तस्वामि प्रतिमादीनि)

3. जिनदास (733 ई.) की आवश्यक चूर्णी में एक कथा आई है जिसमें विद्युन्माली ने महाहिमवन्त पर्वत के चन्दन से महावीर की आकृति बनाई। फिर उसने इस आकृति को किसी व्यक्ति को दी, उसने इसे राजा उदायन को दी। उसने और उसकी रानी ने इसकी उपासना की। रानी की मृत्यु हो जाने पर उसने आकृति का उपासना कार्य देवदत्ता नामक दासी को सौंप दिया किन्तु देवदत्ता उस मूल आकृति को लेकर राजा प्रद्योत के साथ भाग गई और उस आकृति के स्थान पर एक नकली आकृति रख गई। फिर दोनों राजाओं में लड़ाई हुई, प्रद्योत हार भी गया किन्तु उदायन को मूल आकृति नहीं मिली जो शायद कहीं कहीं दब गई।

4. हरिभद्र (8वीं सदी) ने भी आवश्यक वृत्ति में उक्त वर्णन किया है इससे लगता है कि मूल आकृति उज्जैन या मंदसौर के आसपास कहीं रही जहां दोनों राजाओं में युद्ध हुआ।

5. हेमचन्द्राचार्य ने उक्त प्रसंग को विस्तार के साथ लिखा है। उन्होंने यह भी लिखा है कि उदायन एवं प्रद्योत ने उक्त आकृति की उपासना के लिए अनेक गांवों का दान किया था। आचार्य श्री ने यह भी लिखा है कि उक्त मूल आकृति को खोजने के लिए चालुक्य नरेश कुमारपाल ने खुदाई कराई थी फिर उस मूर्ति को खोज कर पाटन में प्रतिष्ठित की थी।

हेमचन्द्राचार्य (1125-72 ई.) ही प्रथम श्वेताम्बर आचार्य हैं जिन्होंने अपने त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में यह कहा है कि विद्युन्माली ने महावीर को गृह त्याग से पूर्व राजमहल में देखकर उनकी आकृति के अनुरूप "सालंकारा" (आभूषणों सहित) प्रतिमा निर्मित की थी।

श्वेताम्बर ग्रन्थों के उक्त उद्धरणों के आधार पर डा. शाह यह मानते हैं कि उक्त प्रतिमा महावीर के जीवन काल में निर्मित चन्दन की प्रतिमा की अनुकृति है। इसी मान्यता के आधार पर आज इस प्रतिमा को महत्व दिया जा रहा है जो कि बड़ौदा म्यूजियम में रखी हुई है। यदि उक्त मन्तव्यों को ठीक मानें तो हेमचन्द्र के अनुसार चन्दन की प्रतिमा कुमारपाल को खुदाई में उपलब्ध हुई थी। बड़ौदा म्यूजियम की तथोक्त जीवन्त स्वामी का निर्माण काल छठी शताब्दी माना जाता है जबकि कुमार पाल का समय 1144-1173 ई. है। अतः बड़ौदा म्यूजियम की तथोक्त जीवन्त स्वामी की

प्रतिमा महावीर के जीवन काल में बनी मूर्ति की अनुकृति नहीं मानी जा सकती है जैसा कि प्रचार किया जा रहा है।

श्वेताम्बर परम्परा में केवल महावीर की ही प्रतिमा को जीवन्त स्वामी लिखा हो ऐसा नहीं है। स्वयं डा. शाह ने भी अपने लेख में स्वीकार किया है कि मध्यकाल में जीवन्त स्वामी के नाम से अन्य तीर्थंकरों की मूर्तियां भी बनी। डभोई (गुजरात) में नमिनाथ की मूर्तियों पर निम्न लेख मिले हैं—

पहली पर है—"संवत् 1526 श्री नमिनाथ मुख्य श्री पंचतीर्था जिवित स्वामी बिंबं कारितं"। दूसरी पर है—"संवत 1522 वर्षे जीवित स्वामी बिंबं कारितं।" इसके सिवा आदिनाथ, अजितनाथ, सुमतिनाथ, चन्द्रप्रभु, शीतलनाथ आदि विभिन्न तीर्थंकरों की भी प्रतिमाएं जीवन्त स्वामी के विशेषण युक्त मिलती हैं जिनका रचना काल 1426 से 1551 तक के हैं। ये मूर्तियां बड़ौदा म्यूजियम की प्रतिमाओं की तरह 'सालंकारा' नहीं हैं। श्वेताम्बर समाज में यह अनुश्रुति भी प्रचलित है कि भगवान महावीर के बड़े भाई नन्दिवर्धन ने महावीर की अर्हंत अवस्था की, उनके निर्वाण से पूर्व प्रतिमा बनाकर नाणा, दिहाणा, नांदिया नामक स्थानों पर विराजमान की थी जैसा कि यह एक पद श्वेताम्बर समाज में प्रचलित है—

"नाणा दिहाणा नांदिया जीवित स्वामी वांदिया" जीवन्त स्वामी के विशेषण से विभूषित प्रतिमाओं के लेखों का अध्ययन कर श्वेताम्बर परम्परा के विद्वान् मुनि श्री विजयेन्द्र सूरि ने यह सिद्ध किया है कि ये सभी मूर्तियां किसी भी तीर्थंकर के जीवनकाल में नहीं बनाई गई है इसलिए जीवन्त स्वामी संबंधी मान्यता उनके जीवन काल में निर्मित होने की यथार्थ नहीं है।

आज भी श्वेताम्बर समाज में बड़ोदा म्यूजियम की तथोक्त जीवन्त स्वामी या अन्य तीर्थंकुरों की प्रतिमाओं को कोई महत्व नहीं दिया जाता।

श्वेताम्बर साधुओं एवं विद्वानों के लिखे हुए महावीर के अनेक जीवन चरित्र पढ़ने को मिले हैं किन्तु उनमें किसी में भी तथोक्त जीवन्त स्वामी की प्रतिमा के चित्र को स्थान नहीं दिया गया।

श्वेताम्बर साहित्य व परम्परा में जीवन्त स्वामी की स्थिति उक्त प्रकार जानने को मिली है। दिगम्बर शास्त्रों में तो गृहस्थ अवस्था की मूर्ति को पूज्य बताने का प्रश्न ही नहीं उठता। नग्न वीतराग प्रतिमा पर धागा डालने मात्र से प्रतिमा पूज्य नहीं रहती है तब शाही वेषभूषा वाली प्रतिमा को वहां कैसे पूज्य कहते? वस्त्राभूषणों से अलकृत प्रतिमा को जैन बच्चा भी पूज्य नहीं मानेगा। यदि तीर्थंकुर की गृहस्थ अवस्था की मूर्तियां पूज्य मानी जावें तो उनकी सभी प्रकार की अवस्थाओं की मूर्ति पूज्य मान्य हो जावेगी। किन्तु एसा नहीं है।

मथुरा से प्राप्त एक शिला पट्ट का चित्र भी भगवान महावीर के जीवन से सम्बन्धित बताया जाकर प्रचारित किया जा रहा है जबकि वस्तु स्थित ऐसी नहीं है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा. ज्योतिप्रसाद जैन ने जैन संदेश के शोधांक 33 में सिद्ध किया है कि यह शिलापट्ट महावीर के जीवन से सम्बन्धित नहीं है। जो लोग महावीर का गर्भ परिवर्तन मानते हैं वे ऐसे शिलापट्टों का सहारा लेकर महावीर का गर्भ परिवर्तन सिद्ध करना चाहते हैं।

इतना लिखने का आशय यही है कि महावीर के सर्वाङ्गीण, खोजपूर्ण चरित्र के नाम पर काल्पनिक सामग्री इस 2500वें निर्वाण महोत्सव पर नहीं दी जावे। विद्वानों को ऐसी सामग्री का पर्याप्त शोधन करना चाहिये। महावीर हमारी श्रद्धा एवं पूजा के पात्र हैं न कि मनोरंजन के। इसलिए उनके सर्वाङ्गीण चरित्र बनाने के नाम पर कवि एवं उपन्यासकार की कल्पना का ऐसा प्रयोग नहीं किया जावे कि उसमें हमारी श्रद्धा के महावीर तिरोहित हो जावें और केवल मनोरंजन के महावीर ही दिखें।

यह जैन ध्वज ?

☐ भंवरलाल पोल्याका

इस लेख के लिखने में हमें डा० खण्डेलवाल, श्रीरतनलाल जी कटारिया केकड़ी, पंडित भगवान दासजी जयपुर, श्रद्धेय प्रो. प्रवीणचन्द जी, डा. एस. के. गुप्त, एवं पं. गुलाबचन्दजी जैनदर्शनाचार्य आदि सज्जनों ने अपेक्षित सूचनाएं प्रदान कर जो हमें महत्वपूर्ण सहयोग दिया उसके लिए हम उनके हृदय से आभारी हैं ।

—लेखक

वर्तमान में जैन समाज में पंचरंगी ध्वज को लेकर कुछ अन्तर्विरोध चल रहा है। विरोध का स्वर यद्यपि अधिक मुखरित नहीं हुआ है किन्तु वह स्वर दब गया है ऐसा नहीं लगता। श्री जैन सांस्कृतिक संघ, रुड़की से निकलने वाली दिशा बोध नामक स्मारिका का एक अंक हमारे सामने है जिसके पृष्ठ 100 पर एक समाचार निम्न प्रकार छपा है —

मुजफ्फर नगर के पास एक स्थान है 'बहलना ग्राम अतिशय क्षेत्र' जैन जनता का तीर्थ है। प्रतिवर्ष 2 अक्टूबर को लाखों धर्म प्रेमी वहां आते हैं। बड़ा अच्छा मिलन मंच है। ......पंचरंगी ध्वज का पूर्णरूपेण बहिष्कार किया गया था........इस ही अंक में पंचरंगी ध्वज के विरोध में बहुत कुछ कहा गया है मुजफ्फर नगर जैन समाज को पंचरंग ध्वज न फहराने के लिए बधाई दी गई है।

शोलापुर से निकलने वाले जैन बोधक नामक पत्रिका में भी कुछ लेख निकले बताए एवं वयोवृद्ध स्थितिपालक पं. मक्खनलालजी ने भी विरोध में कुछ लिखा बताया किन्तु वह सामग्री हमारे सामने नहीं है अतः इस सम्बन्ध में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं और हम कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं हैं।

पंचरंगी ध्वज के समर्थन में अब तक एक अजैन वास्तुविद् द्वारा लिखित 'मानसार' नामक



साहू श्री शांतिप्रसाद जैन

ग्रन्थ के एक श्लोक पर अत्यधिक जोर रहा है—यह श्लोक डा. जयकिशनप्रसाद खण्डेलवाल द्वारा लिखित 'जैन शासन का ध्वज' नामक पुस्तक के पृष्ठ 11 पर यों मुद्रित हुआ है—

स्फटिक श्वेतरक्त च पीतश्यामनिभं तथा।
एतत्पञ्चपरमेष्ठि पञ्चवर्णं यथा क्रमम् ॥

अध्याय—55

(पांच परमेष्ठियों की पांच प्रतिमाएं यथा क्रम से इन वर्णों की होती हैं 1—स्फटिक (धवल), 2—अरुणाभ, 3—पीताभ, 4—हरिताभ, 5—नीलाभ ।)

इससे ऐसा ज्ञात होता है कि विद्वान लेखक महोदय ने स्फटिक को धवल अर्थ में लेकर श्वेतरक्तं का अर्थ अरुणाभ किया है । फिर पीतश्यामनिभं यह ही पद इसमें रंगवाची बचता है जिससे पीत और श्याम ये दो ही रंग निकलते हैं, पांचवें रंग का वाची इसमें कोई शब्द नहीं है । इस सम्बन्ध में हमने डाक्टर खण्डेलवाल से पत्र लिखकर जानकारी चाही तो उन्होंने 30-3-75 के पत्र में हमें लिखा कि श्याम रंग काला और नीला दोनों के लिए प्रयुक्त होता है और पंचरंगी ध्वज में नीले के स्थान पर काला रंग स्वीकृत हुआ है । यानी डा. खण्डेलवाल के अनुसार श्लोक का श्याम शब्द काले और नीले दोनों का वाची है अतः पांच रंग हो गए । लेकिन डा. खण्डेलवाल के इस उत्तर ने समस्या को सुलझाने के बजाय और उलझा दिया । श्लोक के पीतश्यामनिभं पद में श्याम से चाहे वर्तमान में प्रयुक्त काला अर्थ लें या पहले वाला नीलाभ [भगवान महावीर 2500 वां निर्वाण महोत्सव महासमिति नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'जैन ध्वज' नामक पुस्तिका एवं वीर परिनिर्वाण अङ्क 1 वर्ष 1 मास जून 1974 के पृष्ठ 5 पर (नैवी ब्ल्यू रंग) ।] इसमें हरिताभ रंग का वाची कोई शब्द नहीं है अत: इस श्लोक में डा. खण्डेलवाल द्वारा किये गये अर्थ के अनुसार जिसे महोत्सव महासमिति एवं आचार्य श्री देशभूषण जी, तुलसी महाराज, उपाध्याय मुनि विद्यानन्द जी आदि का आशीर्वाद एवं सहयोग प्राप्त है, ध्वज का पांचवां हरिताभ रंग इस श्लोक में है ही नहीं—इस सम्बन्ध में निम्न प्रश्न उपस्थित होते हैं –

(1) जब श्वेतरक्तं पद एक ही रंग का वाची है तो पीतश्यामनिभं पद दो रंग का वाची कैसे हो गया जब कि दोनों एक ही वचनान्त समस्त पद हैं ।



मुनिश्री विद्यानन्द जी महाराज

(2) यदि पीतश्यामनिभं पद दो रंग का वाची है तो उस ही नियम से श्वेतरक्तं पद श्वेत और रक्त इस प्रकार दो रंगों का वाची क्यों नहीं है ?

(3) स्फटिक के साथ कोई विभक्ति नहीं है तो फिर यह पद श्वेतरक्तं से अलग कैसे है 'स्फटिकश्वेतरक्तं' ऐसा एक ही पद क्यों नहीं ?

(4) एक ही श्लोक में एक ही शब्द के इस प्रकार दो अर्थ करने की वह कौन सी प्रणाली है ? यह तो ऐसा ही है जैसे कि किसी ने हरि मंगाया तो उसे घोड़ा, बंदर, सिंह मोर, सांप आदि सौंप दिये जांय या दीवार को हरि रंग से रंगने के लिए कहने पर उसे भूरे, बादामी, पीले और हरे रंग से रंग दिया जाय ।

डा. खण्डेलवाल का ही एक लेख दिनांक 1 जून सन् 1974 को वीर पत्र में पृष्ठ 2 पर प्रकाशित हुआ था जिसमें उक्त श्लोक इस प्रकार बताया गया है—

'स्फटिक श्वेतरक्तं च पीतश्यामनभस्तलं तथा ।
सिद्धादिश्च सुगंधश्च जनं चाहन्तु पार्श्वकम् ।।
एतत्पंचपरमेष्ठि पंचवर्णं यथाक्रमम् ।'

(प्रकाशन आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, मद्रास)

इसमें बीच की पंक्ति यद्यपि गलत मुद्रित हुई है फिर भी इसमें सिद्धादिश्च, सुगंधश्च, पार्श्वकम् आदि जो शब्द हैं उनकी अर्हन्त के अतिरिक्त अन्य परमेष्ठियों के साथ कैसे संगति बैठ सकती है समझ में नहीं आता ।

डा. खण्डेलवाल का ही 2–4–75 का पत्र हमें प्राप्त हुआ उसमें उन्होंने उक्त श्लोक निम्न प्रकार लिखकर भेजे हैं—

चतुत्रियान्तरि री क्षे तु तस्याधो जिनदेवतान् ।
स्फटिक श्वेतरक्तं च पीतश्यामनिभं तथा ।।4`।।
सिद्धादिश्च सुगन्धश्च जिनं चार्हं तु पार्श्वकम् ।
एतत्पञ्चपरमेष्ठी वर्णा पञ्चबेर यथाक्रमम् ।।44।।

साथ ही डा. खण्डेलवाल ने अपने इस पत्र में हमें यह भी स्पष्ट लिखा है कि यह पञ्च परमेष्ठी के रंग हैं— स्फटिक, श्वेत, रक्त, पीत, श्याम । अर्थात् डाक्टर साहब यहाँ अपने पूर्व में किए हुए अर्थ से बदल गये है और अब इसमें हरिताभ का वाची कोई शब्द नही है और न ही हरिताभ रंग ही है क्योंकि स्फटिक या श्वेत दोनों ही हरिताभ के वाची नही हैं ।

हमें दूसरे स्थानों से जो मानसार की प्रतिलिपि इस प्रकरण की प्राप्त हुई उसमें परमेष्ठी के आगे (वर्ण) इस तरह ब्रेकेट में छपा बताया गया है और इसी तरह ऊपर श्लोक 43 की प्रथम पंक्ति में 'यान्तरि' के आगे का 'री' भी ब्रेकेट में है । इनके ब्रेकेट में होने से क्या फर्क पड़ेगा । यह हम आगे देखेंगे ।

यह कोई विवाद की बात नहीं है कि जैन परम्परा में 24 तीर्थंकरों के शरीरों का रंग पांच पृथक-पृथक बताया गया है । यद्यपि अमुक रंग अमुक तीर्थंकर के शरीर का है और अमुक रंग अमुक का इस सम्बन्ध में साधारण सा मतभेद है । किन्तु रंगों की पांच संख्या के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है । इसके अतिरिक्त सिद्धों को पांच प्रकार के या किसी एक प्रकार के रंग वाला बताना स्पष्ट ही जैन परम्परा से अज्ञता का सूचक है । शेष परमेष्ठियों के सम्बन्ध में भी इस प्रकार का कोई वर्णन कहीं किसी भी शास्त्र में मिल नहीं सकता । ये श्लोक 'जैन प्रतिमा लक्षणम्' प्रकरण के अन्तर्गत हैं । इसमें जैन मूर्ति का निर्माण कैसे किया जाना चाहिए यह बताया गया है । दरअसल इन श्लोकों में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके कारण इनके अर्थ में भ्रान्ति हो रही है । इसमें स्फटिक शब्द काले रंग का वाची है जो स्फटा से बना है और तब काला, सफेद, लाल, पीला और नीला ये पांच रंग इस पंक्ति से निकलेंगे जो राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि एवं अन्य जैन ग्रन्थों में बताए गए हैं । परमेष्ठी शब्द इष्टार्थ का वाची है अर्हन्त, सिद्ध आदि का नहीं इसीलिए इसके आगे (वर्ण) दिया है । और आगे पंचबेरं पद में बेर शब्द शरीर वाची है । इसी प्रकार यथा क्रमम् का अर्थ भी नम्बरवार या सिलसिलेवार नही है अपितु शास्त्रानुसार है । (देखिए अमरकोष द्वितीय काण्ड ब्रह्मवर्ग श्लोक 39) । हमारा उक्त अर्थ डा. सुधीर कुमार गुप्त (पं. रघुवर दयाल गोल्ड मैडलिस्ट), शास्त्री, प्रभाकर, केरल, कोयल, वर्मा, बलिया, थम्यूरन स्वर्ण पदकी, प्राध्यापक–संस्कृत विभाग राज. वि. वि एवं निदेशक भारती मंदिर अनुसंधान शाला, सम्पादक–भारती शोध सार संग्रह जयपुर एवं प्रो. प्रवीणचन्द जैन, भू. पू. आचार्य ज्ञान विज्ञान महाविद्यालय वनस्थली विद्यापीठ एवं कार्यवाहक, अध्यक्ष तथा डाईरेक्टर उच्च स्तरीय अध्ययन अनुसंधान संस्थान, जयपुर द्वारा अनुमोदित है । श्लोक 44 की प्रथम पंक्ति में सिद्धादि- (जो सिद्ध के आदि में हैं), सुगन्ध, (जिनका सुगंधित शरीर

है), जिन (जो आत्मा के चार शत्रुओं (घाति कर्मों) को जीतने वाले हैं), अर्हं (जो पूज्य हैं) तथा पार्श्वकम् (यक्ष सहित हैं) ये पांच शब्द भी अरिहन्तों के अतिरिक्त और किसी के विशेषण नहीं हो सकते तथा पञ्चपरमेष्ठी से पूर्व जो एतत् शब्द है वह अरिहन्त की इन पांच विशेषताओं का सूचक है जो इस श्लोक में अपनी महत्वपूर्ण स्थिति रखता है। पता नहीं किस दुरभिसंधि के कारण बीच की "सिद्धाविश्व"......' वाली लाइन उड़ा दी गई और इस एतत् का सम्बन्ध श्लोक 43 की रंगों वाली पंक्ति से जोड़ दिया गया। इसका ठीक-ठीक उत्तर डा० खण्डेलवाल, मुनि श्री विद्यानन्द जी, साहु श्री शांति प्रसाद जी आदि ही भले प्रकार दे सकते हैं। यह स्पष्ट ही एक प्रकार का छल है और विशेष रूप से प्राचीन कृतियों के सम्बन्ध में इस प्रकार के छल किसी भी अवस्था में क्षम्य नहीं हो सकते और न यह किसी की भी गरिमा और पद के अनुकूल है। इसके अतिरिक्त यह एक अजैन लेखक की पुस्तक का अंश है जिसका जैन समाज के लिए तबतक कोई महत्व नहीं है जब तक उसका किसी आप्त या आर्ष वाक्य से समर्थन न हो। यह भी सब जानते हैं कि 24 तीर्थंकरों के शरीर के ये रंग पुस्तकों तक ही सीमित हैं। प्रतिमा निर्माण से इनका कोई ऐसा सम्बन्ध नहीं रहा है कि जिस तीर्थंकर के शरीर का जैसा रंग हो उसी रंग की प्रतिमा बने। पाटोदी जी के मंदिर में पार्श्वनाथ की प्रतिमा सफेद रंग की है। हजारों ऐसे उदाहरण हैं।

अब दूसरे प्रमाण को लें। "विजया पञ्चवर्णाभा पञ्चवर्णमिदं ध्वजम्" यह नेमिचन्द्र प्रतिष्ठा तिलक का है। इसमें आठ देवियों की आहुतियां हैं। इसमें जिस देवी के शरीर का जो रंग है उस देवी की ध्वजा भी उसही रंग की बताई गई है। प्रमाणस्वरूप ये श्लोक देखें—

पीत प्रभा ह्यया देवी पीतवर्णमिदं ध्वजम्।
पद्मामय देवी पद्माभा पद्मवर्णमिदं ध्वजम्॥

इसमें विजया देवी की पांच वर्ण के शरीर वाली होने से उसका ध्वज भी पांचवर्ण का बताया है। समझ में नहीं आता कि यह क्या रहस्य है कि इन आठ या दस देवियों में से विजया को ही क्यों महत्व दिया गया पीतप्रभा, पद्मा, मेघमालिनी आदि अन्य देवियों ने क्या अपराध किया था। वैसे विजया एक मल्लिनाथ की यक्षिणी भी है किन्तु आदिनाथ की यक्षिणी चक्रेश्वरी, पार्श्वनाथ की पद्मा और महावीर की सिद्धायिनी है। इनको छोड़ कर विजया को पकड़ने में क्या तुक है?

लगे हाथ 1 जून 1974 के वीर में प्रकाशित डा. खण्डेलवाल के इस सम्बन्धी अन्य प्रमाणों की भी समीक्षा कर लें।

डा. खण्डेलवाल ने गुणनन्दि, मुनीन्द्रकृत ऋषि मण्डल, 5 का निम्न श्लोक उद्धृत करते हुए यह बताने की चेष्टा की है कि जैन धर्म में सात्विक, राजस और तामस तीनों को उपकारक माना है—

अनुद्धतं शुभं स्फीतं सात्विकं राजसं मतं।
तामसं विरसं बुद्धं तेजसं शर्वरीसमं॥

डा. खण्डेलवाल के ही अनुसार इस श्लोक का अर्थ भी यों है—'अरहन्त का बिम्ब अनुद्धत है, शुभ एवं महिमावान है, शान्ति गुण से सम्पन्न होने से सात्विक है, त्रिभुवन को बोध देने से राजस है और अष्ट कर्म का विनाशक होने से तामस है।'

इसमें स्पष्ट ही अरिहन्तों के अहिंसा, आप्तत्व एवं कर्ममल रहित तत्व की (अगर डा. खण्डेलवाल का उक्त अर्थ सही है तो) आलंकारिक रूप से प्रशंसा की गई है जिस तरह कोई यह कहे कि हे भगवान्, आप महान् हिंसक हैं, आपसे बड़ा हिंसक कोई है ही नहीं क्योंकि आपने अष्ट कर्मरूपी महान् शत्रुओं को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया है। ऐसी या इससे मिलती जुलती स्तुतियां आपको कई मिलेंगी। 'थांकी उतम छिमा पै अचंभो म्हाने आवेजी' कुछ इसी प्रकार का भजन है। इससे यदि कोई यह कहता फिरे कि जैनों के धर्म में तो हिंसा

विहित है, उनके भगवान् तो महान हिंसक हैं आदि और इस प्रकार का परिणाम एक विद्वान् निकाले तो इसे विडम्बना के अतिरिक्त और कहा ही क्या जा सकता है।

एक और श्लोक जो उन्होंने महाभारत शान्ति पर्व अ. 188 श्लोक 5 उद्धृत किया है—

ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः ।
वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा ।।

डा. खण्डेलवाल इससे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि इस देश में वर्णों को प्रतीकरूप में मानने की अनेक परिपाटियां प्रचलित हैं। इससे लेकिन इंकार कौन करता है। किन्तु वे प्रतीक सार्थक होते हैं। किसी आदर्श अथवा उद्देश्य को बताने वाले होते हैं जैसा कि इस श्लोक में वर्णों की क्रमानुसार श्रेष्ठता बताई गई है। सित वर्ण श्रेष्ठ होने से ब्राह्मण का बताया गया है और उससे उतरता वर्ण क्षत्रियों का होने से लोहित बताया गया है और उससे भी उतरता वर्ण वैश्य का होने से पीत वर्ण उनका बताया गया है और शूद्रों का निम्न स्तर माने जाने से उनका रंग काला बताया गया है। सभी जानते हैं कि वैदिक धर्म में वर्णक्रमों का श्रेष्ठत्व इसी प्रकार स्वीकार किया गया है। इसके अनुसार श्वेत रंग श्रेष्ठता का प्रतीक है। बताइए अरिहन्त और सिद्ध इनमें श्रेष्ठ अष्ट कर्मों को क्षय करने वाले सिद्ध हैं या केवल चार कर्मों का क्षय करने वाले अरिहन्त ? दोनों में हमारा अधिक उपकारक कौन है यह अलग बात है। उस सिद्धान्त का सम्बन्ध तो इस श्लोक से है नहीं। फिर इसमें काला वर्ण शूद्रों का बताया है और हम काला रंग साधुओं और अपरिग्रह का प्रतीक बताते नहीं अघाते। समाजों में शायद कोई अपने को काले रंग से अभिहित करना नहीं चाहता नहीं तो यह भी कहा जाता कि यह ध्वज पांचों समाजों की एकता का प्रतीक है। मेरे पास मेरे एक मित्र बैठे हैं वे कह रहे हैं कि भाई साहब, आप तो व्यर्थ ही मामले को तूल दे रहे हो। साधु और अपरिग्रही के लिए वर्तमान काल में इससे अच्छा प्रतीक और हो ही नहीं सकता था क्योंकि हमारे पुराणों में जो सम्राट् चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्न बताए हैं उनमें एक स्वप्न यह भी था कि नग्न स्त्रियां नाच रही हैं और उसका फल तो आपको मालूम है ही, कहकर मेरे मित्र मन्द-2 मुस्कराते हैं और उनकी इस पकड़ पर आश्चर्य से मेरा मुंह खुला ही रह जाता है। जैन प्रशस्ति संग्रह (2) का जो प्रमाण दिया है इसका अर्थ भी संदिग्ध है क्योंकि उस पाठ में भी कुछ अशुद्धि ज्ञात होती है जिस पर असल ग्रन्थ देखकर फिर कभी लिखेंगे।

आइये अब जरा जैन शास्त्रों का अवलोकन भी करें। दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में धवला का बहुत बड़ा महत्व है। इसके जीवट्ठाणं सूत्र के पश्चात् धवला टीकाकार आचार्य वीरसेन णमो अरिहन्ताणम्...... आदि मंगल की व्याख्या में मंगल शब्द की विस्तार से व्याख्या करते हुए कहते हैं 'मांगल्य-निबंधनत्वान्मांगल्यं यत्तन्नोकर्ममङ्गलम्। तद्द्विविधं लौकिकं लोकोत्तरमिति। तत्र लौकिकं त्रिविधं सचित्तमचित्तमिश्रमिति। तत्राचित्तमंगलम्—सिद्धत्थ, पुण्णकुम्भो, वंदणमाला य मंगलं छत्तं। सेवोवण्णो आदंसणोय कण्णाय जच्चस्सो।'

अर्थ—मंगल रूप होने में जो निमित्त कारण हो उसे भी मंगल माना गया है और उसी को नोकर्म द्रव्यमंगल कहते हैं। वह नोकर्म मंगल दो प्रकार का हो सकता है लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक के तीन भेद है-सचित्त, अचित्त, मिश्र। इन तीनों में से अचित्त मंगल का उदाहरण—

सिद्धार्थ, पूर्णकुम्भ, वन्दनमाला, छत्र, श्वेतवर्ण आदर्श (दर्पण) इत्यादि।

इसमें वर्णों में केवल श्वेत वर्ण को ही मांगलिक माना है। श्वेत रंग इसलिए मंगलमय है कि जीव के अच्छे बुरे परिणामों को जैन शास्त्रों में वर्णों में वर्णित किया गया है जिसे लेश्या नाम

दिया गया है। उसमें कलुषित विचारों के लिए कृष्ण, नील, कापोत एवं प्रशस्त विचारों के लिए रक्त, (तेज) पद्म और शुक्ल रंग बताए गये है। इनमें शुक्ल परिणाम प्रशस्ततम हैं। ध्यानों में शुक्ल ध्यान मुक्ति का कारण है। द्रव्य मंगलों में छत्रत्रय, धर्म चक्र, कलश, कमल, चमर आदि देवताओं ने श्वेत ही प्रयुक्त किये थे अतः लोक में भी श्वेत रंग निष्कलंकत्व का प्रतीक है और निष्कलंकत्व ही हमारा आदर्श है। उसके सम्बन्ध में अभिधान राजेन्द्र कोष का भी अवलोकन किया जा सकता है।

वि. सं. 1016 में आचार्य सोमदेव ने, यशस्तिलक चम्पू काव्य' बना कर समाप्त किया था इसमें उज्जैनी नगरी का वर्णन करते हुए लिखा है—

'शोभन्ते यत्र सद्मनि सितकेतु समुच्छ्रयैः।'

इसी में राजसदन का वर्णन करते हुए कहा गया है—'तद्त्रिभुवनं तिलकं नाम समन्तस्तुङ्गतमङ्गशृङ्गोत्संगसंगताङ्गनापाङ्गप्रसरपुनरुक्त सितपताकावसन' इस ही ग्रन्थ में चैत्यालय का वर्णन करते हुए कहा गया है—

'अमलकामलासारविलसत्कलहंसश्रेणि द्विगुणदुकूलांशुकवैजयन्तीसंततिभिः'

इसकी टीका टीकाकार ने इस प्रकार की है-

'दुकूलांशुक वैजयन्ती संततयः शुक्ल पट्ट दुकूल वस्त्र ध्वजश्रेणयो येषु'

कहने का तात्पर्य यह है कि वि स 1016 और उससे पूर्व न केवल जिन मंदिर अपितु नगर के भवन एवं राजप्रासाद पर श्वेत पताका फहराती थीं।

ये आचार्य अपने समय के बड़े भारी तार्किक, न्याय, व्याकरण, काव्य, नीति एवं दर्शन विषयों के महान् विद्वान्, धर्माचार्य एवं दार्शनिक थे।

श्वेत रंग पवित्रता का द्योतक है अतः श्वेताम्बर सम्प्रदाय के साधु श्वेत वस्त्र का ही प्रयोग करते हैं।

मंत्र शास्त्रों में इसीलिए उत्तमकार्य (शांति कर्म और पौष्टिक कर्म) सम्पन्न करने के लिए मंत्र की आराधना हेतु श्वेत वर्ण, श्वेत वस्त्र और श्वेत ही पुष्प बताए गए हैं। (देखिए विद्यानुवाद एवं ऋषिमण्डल कल्प आदि ग्रंथ)

लोकाचार में ऐसा भी प्रचलित है—

नीलं रक्तं तु यद्वस्त्रं दूरत परिवर्जयेत्।

और भी—

नीले वस्त्रे परं दुःखं हरिते मानभंगता।

श्वेतवस्त्रे यशोवृद्धिर्हारिद्रे हर्षवर्धनम् ॥

इष्टाष्टक स्तोत्र में पहला ही श्लोक है—

दुग्धाब्धिफेनधवलोज्ज्वलकूटकोटी नद्धध्वजप्रकरराजिविराजमानम्:

इसी स्तोत्र के श्लोक 7 की दूसरी पंक्ति इस प्रकार है—

मेघायमान गगने पवनाभिघात चञ्चलचलद्विमलकेतनतुङ्गशाली।

नेमिचन्द्र आचार्य के प्रतिष्ठा तिलक में भी जिसका प्रमाण डाक्टर खण्डेलवाल ने पञ्च वर्णध्वज के प्रमाण रूप में 'विजया पंच वर्णाभाः पञ्चवर्णमिदं ध्वजम्' के रूप में दिया है उसी में ध्वजारोहणविधि में जैन ध्वज सफेद बतलाया है।

सुधौत सुश्लिष्ट श्वेतनूतन वासः परिकल्पितास्य ध्वजस्य।

(प्रकाशन दोशी सखाराम नेमीचन्द, शोलापुर पृ 184-185) इसी में इन्द्र को श्वेत उत्तरीय धारण करने का विधान है—

श्वेतं पूतं सांतरीयोत्तरीयं धृत्वा नव्यं धारयेऽहं पवित्रम्।'

(वही पृ. 45)

इसी का मंत्र भी देखिए—

'ॐ श्वेतवर्णे सर्वोपद्रवहारिणी सर्वजनमनोरंजिनी परिधानोत्तरीये आदि ।

इस प्रकार डा. खण्डेलवाल एवं उन द्वारा लिखित पुस्तक के आधार पर जिन महापुरुषों एवं नेताओं ने प्रतिष्ठातिलक नामक ग्रंथ में वर्णित एक विजया देवी के शरीर के रंग और ध्वज को लेकर जो समाज में एक नई ही परिपाटी चलाने का प्रयत्न किया है उसी में जैन शासन का ध्वज श्वेत बताया है। तथा सब स्थानों पर श्वेत रंगों के वस्त्रों को प्रधानता दी है। सौधर्म, ईशान आदि देवताओं का रंग भी श्वेत ही बताया है फिर एक देवी के शरीर को लेकर पंचरंगी ध्वज की व्यवस्था कहां तक ठीक है ? तथा जैन ग्रथों के प्रमाणों की अवहेलना करके एक अजैन ग्रंथ को वरीयता देना कहां तक उचित है ?

मायाचारी के हृदय को काला बताया जाता है इसके विपरीत मन, वचन और काय की एकता वाले को स्वच्छ, निर्मल हृदयी। दुष्ट मनुष्य के हृदय को काले कम्बल से उपमा दी जाती है निम्न श्लोक देखिए—

मुहूर्तमपि जीवेत नरः शुक्लेन कर्मणा ।
न कल्पमपि कृष्णेन लोकद्वयविरोधिना ।।

पञ्च नमस्कार मंत्र में यद्यपि पञ्च परमेष्ठियों को नमस्कार किया है किन्तु मंगलोत्तम शरण पाठ के मंगल पदों में आचार्य, उपाध्याय और साधु की भिन्नरूपता समाप्त होकर केवल एक साधु रूप में रह जाती है। झंडा लोक मंगल का प्रतीक है अतः उसमें आचार्य, उपाध्याय और साधु के पृथक पृथक रंगों की कल्पना की कोई तुक नहीं है। शास्त्रों में यह भी विधान है कि अपना कल्याण करने की भावना जाग्रत होते ही आचार्य को आचार्यत्व छोड़ना पड़ता है। जैन शास्त्रों में शरीर के रंगों का कोई महत्व नहीं है गुणों का है। वहां गुणों की पूजा होती है शरीर की नहीं इसलिए 24 तीर्थंकरों के रंगों के प्रतीक झण्डे को मंगल रूप बतलाना जैन परम्परा के विरुद्ध है। आध्यात्मिकता से भौतिकता की ओर प्रयाण है। झण्डे के पांच रंग पांच महाव्रत और पांच अणुव्रतों के प्रतीक बताए जाते हैं। इन व्रतों के उलटे पांच पाप हैं। व्रत चारित्र रूप हैं। और चारित्र प्रवृति और निवृति मूलक है। इन दोनों ही प्रकार के चारित्रों का प्राण है अहिंसा और उसके रक्षक हैं सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ।

अहिंसा ही परमधर्म है. अहिंसा ही परमब्रह्म है। अहिंसा ही सुख शांति देने वाली है। अहिंसा ही संसार का त्राण करने वाली है।

यही मानव का सच्चा धर्म है। मानव में और दानव में केवल अहिंसा और हिंसा का ही तो अन्तर है। अहिंसा मानवी है और हिंसा दानवी ।

'स्वयमेवात्मना हिनस्त्यात्मा प्रमादवान् ।'

जैन धर्म में सत्य कोई स्वतंत्र व्रत नहीं है किन्तु अहिंसा व्रत की रक्षा करना ही उसका लक्ष्य है ।

(देखिए पं. कैलाशचन्दजी शास्त्री की जैन धर्म नामक पुस्तक)

आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में 'रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ऐसा कहा है।

और भी देखिए—

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ।।

शास्त्रकारों ने इसलिए 'अहिंसा परमो धर्मः चारित्तं खलु धम्मो, वत्थु स्वभावो धर्मो' आदि तो कहा है किन्तु पंच महाव्रतानि धर्मः ऐसा कहीं नहीं कहा क्योंकि महाव्रत पृथक पृथक रूप से धर्म हैं ही नहीं उनका समष्टि रूप अहिंसा ही धर्म है।

हिंसा अहिंसा पुद्गल में नहीं होती। वे तो चेतन अर्थात् आत्मा के ही शुभ, अशुभ परिणाम

होने से झूठ, चोरी कुशील और परिग्रह के भाव भी हिंसा रूप ही हैं। इनकी स्वतंत्र या पृथक कोई सत्ता नहीं है। इसीलिए कल्याणकारी असत्य भी सत्य और अकल्याण कारी सत्य भी असत्य है। ऐसे ही अन्य में भी है। अहिंसा चूंकि आत्मा का पवित्रतम भाव है अतः श्वेत वर्ण उसका द्योतो हो सकता है। अन्य वर्णों की आवश्यकता ही नहीं है। और भी श्वेत रंग की पवित्रता के सम्बन्ध में कहा जा सकता है और यदि इस रंग का झंडा स्वीकार किया जाता तो कोई भी समाज इसका विरोध करने की स्थिति में शायद नहीं था।

केशरिया ध्वज के पक्ष में भी कई दलीलें दी जा सकती हैं जिनमें मोटी बात यह है कि अज्ञात काल से आत्मा अंधेरे से उजाले की ओर जाना चाहता है। वेद का 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' यह वाक्य इस ही संस्कृति का सूचक है। जैनेतर संस्कृति में ईश्वर को ज्योतिरूप माना है और वहां ज्योति में ज्योति के मिल जाने की कामना की जाती है। जैन दर्शन में भी मानव का आध्यात्मिक उद्देश्य ज्ञान की पूर्णता को प्राप्त करना ही हैं। जैन दर्शन में भी ज्ञान को दर्पण के साथ दीपक की भी उपमा दी गई है क्योंकि वह स्व पर प्रकाशी है। यद्यपि आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण–लक्षण में स्व प्रकाशकत्व को स्वीकार नहीं किया है किन्तु वहां उन्होंने उसे सूत्र में अनावश्यक बताया है उसके स्व प्रकाशकत्व का खण्डन नहीं किया है। उनकी दलील वहां यह है कि जो पर प्रकाशी होगा वह स्व प्रकाशी होगा ही। इसीलिए ज्ञान पूर्ण होने के साथ ही दर्शन की भी पूर्णता हो जाती है। इस सिद्धान्त से किसी भी सम्प्रदाय का विरोध नहीं है। विस्तार भय से हम तत्त्वार्थ राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, परीक्षामुख, प्रमाण मीमांसा आदि ग्रन्थों के प्रमाण नहीं दे रहे हैं। अर्थात् जैन भी पूर्ण ज्ञानी के ज्ञान को ज्योतिरूप मानते हैं। केसरिया रंग ज्योति का प्रतीक है क्योंकि दीपक की लौ का रंग वैसा ही होता है। इसीलिए जैनेतर अन्य दर्शनों में कितना ही मत भेद रहा हो वहां भी झंडे के रंग के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं रहा और किसी भी धर्म प्रवर्तक ने अपना नया झण्डा नहीं चलाया।

किन्तु वाह रे जैन समाज, यहां जो न हो जाय वह थोड़ा ! यहां अगर कोई बात नई नहीं चलाई जावे और समाज में विक्षोभ पैदा न किया जावे तो नेतृत्व को पूछे कौन, और हमें नमस्कार करे कौन। पंचरंग ध्वज को एकता का प्रतीक बताया जाता है किन्तु शायद ये रंग पुकार-पुकार कर कहते हैं कि जैन हमेशा विभिन्न रंग के ही रहेंगे वे कभी एक रंग के हो नहीं सकते। 'हार्दिक ऐक्य के बिना दिमागी ऐक्य का उपदेश देना मानो आसमान के तारे तोड़ना है।' रस्किन का यह वाक्य जैन समाज पर कितना सही उतरता है ?

दर्पण में

□ श्री वृद्धिप्रकाश 'भास्कर'

[दर्पण किसी का लिहाज नहीं करता। वह पदार्थों को उसी रूप में प्रतिबिम्बित करता है जिस रूप में कि वह है। ऐसा वह निर्लिप्त भाव से करता है। लीजिए युवक एवं विचारक लेखक ने अपने ज्ञान दर्पण में वर्तमान को कैसा देखा है उसकी एक झांकी। —प्र. सम्पादक]

हम बड़े सौभाग्यशाली हैं कि हमारे जीवन में भगवान महावीर का 2500 वां निर्वाण वर्ष आया। इस अवसर पर विशाल शोभा यात्रायें, सार्वजनिक सभायें, पंचकल्याणक प्रतिष्ठायें व अन्य विभिन्न कार्यक्रमों को आयोजित कर, हमने महावीर के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। हमने उच्च स्वर से जयनाद करके दुनिया को बताया है कि हम हैं महावीर के अनुयायी। पर क्या इन्ही कार्यक्रमों से हमारे कर्त्तव्य की इतिश्री होगी? इस प्रकार के आयोजन धर्म प्रभावना के अंग हैं, इसे नकारा नहीं जा सकता, पर इनसे हमारे धर्म की स्थायी छाप जैनेतर बंधुओं पर पड़े, इसमें संदेह है।

निर्वाण का यह वर्ष, हम महावीर के अनुयायियों के लिए, चुनौती का वर्ष है। यह वर्ष हमसे 2500 वर्ष का लेखा जोखा मांग रहा है। लेखा-जोखा हम क्या दें? शर्म आ रही है, कुछ हो तो बतावें।

हमने महावीर से विरासत में एक ऐसा मार्ग प्राप्त किया था, जिस पर चलकर जीवन के उच्च शिखर पर पहुंचा जा सकता है। उत्तराधिकार में अपार सम्पत्ति प्राप्त करने के बाद यदि उत्तराधिकारी, ऐय्याशी में डूब जाय, अपने व्यवसाय के प्रति शिथिल हो जाय तो प्राप्त सम्पत्ति की वृद्धि नहीं, उसका ह्रास होगा, यह निश्चित है। यही दशा हमारी हो रही है।

महावीर ने विश्व को क्या दिया? इसे हम नहीं अन्य लोग सामने रख रहे हैं। अंगुलियों पर गिनने लायक हमारे यहां साहित्य सृजन का कार्य किया जा रहा है, वास्तव में तो हम इस क्षेत्र में बहुत पीछे हैं। देखा जाय तो हमने आज तक हमारे धर्म का, हमारे अस्तित्व का एक प्रामाणिक इतिहास भी तैयार नहीं किया। डा. हर्मन जैकोबी आदि के बलबूते पर हमारी नौका कब तक आगे बढ़ेगी? साहित्य के क्षेत्र में इस उपेक्षा ने हमें पीछे ढकेल दिया है।

सामाजिक स्थिति भी हमारी अत्यन्त शोचनीय है। कोई एक सर्वसम्मत हमारे, रहन-सहन के रीति-रिवाज व तौर-तरीके नहीं हैं। हम सब मनमाने मार्ग अपना रहे हैं मार्ग अपनाना बुरा नहीं है पर अनावश्यक रूप से किया गया हर कार्य अच्छा हो यह कैसे माना जाय? धनी बंधु विवाहादि में अपने वैभव का प्रदर्शन करके, गरीबों की आंख की किरकरी बन रहे हैं। असुन्दर, अशिक्षित लड़कियां धन के जोर पर सुन्दर और शिक्षित युवकों की अंकशायिनी बन रही हैं दूसरी ओर सुन्दर व शिक्षित लड़कियां धन के अभाव में युवावस्था को लांघकर वृद्धावस्था के द्वार पर दस्तक दे रही हैं। कहीं कुछ निन्दनीय कार्य न हो जाये, इस आशंका से मां-बाप की ये लड़कियां आंखों का कांटा बन रही हैं कैसी विडम्बना है? समाज की यह अनिश्चित अवस्था चिन्तनीय है। यहां हर व्यक्ति नेता बनने का स्वप्न देख रहा है, अनुयायी कोई नहीं।

हर पत्थर शिखर का पत्थर बनना चाहे, नींव का नहीं तो नींव का क्या होगा ? बिना नींव के भवन बन सकेगा ?

समाज के धन कुबेरों से विनम्र निवेदन है कि वे अपनी सम्पत्ति के मद में की जा रही उच्छृंखलताओं का त्याग करें। उन्हें यह समझ लेना होगा, उनसे, उनकी सम्पन्नता से समाज सर्वोपरि है। समाज स्थायी है, उनका वैभव नहीं। अतः वे समाज के नियन्त्रण को, समाज के नियमों को पालन करने की आदत बनावें, अपने वैभव के मद में उन्हें तोड़ने की नहीं। ये लोग वैभव प्रदर्शन की होड़ को बढ़ा रहे हैं।

वैभव प्रदर्शन की होड़ में हमारा चरित्र दूषित हुआ है। गबन, रिश्वतखोरी, मिलावट, काला बाजारी, करों की चोरी आदि सबमें हम लिप्त होते जा रहे हैं, जिनकी हमसे कोई आशा नहीं कर सकता, क्योंकि हम एक ऐसे धर्म के अनुयायी हैं— जो वैभव को ठुकराने की प्रेरणा देता है जो त्याग तपस्या को श्रेष्ठ बतलाता है। जो धर्म आदर्श जीवन का पाठ सिखाता है उस धर्म के अनुयायी ऐसे हों आश्चर्य है।

धर्म के नाम पर व्याप्त आडम्बर ने युवक वर्ग को धर्म से विकर्षित किया है। हममें सौन्दर्यानुभूति (Aesthetic sense) का अभाव होता जा रहा है। नतीजा साधन सम्पन्न होते हुए भी हमारा प्रस्तुतीकरण घिनौना है। जल छान कर पीना तो हम धर्म समझते हैं पर जिस छनने से वह छाना जाय, उसे साफ करना धर्म नहीं समझते। 'सोध' जिसका अर्थ 'शुद्धता' है आज यह शब्द शुद्धता का उपहास कर रहा है। चौके चूल्हे में सीमित हो रहे इस तथाकथित धर्म ने हमें गिराया है, भटकाया है। खान-पान में इतनी शुद्धता होनी चाहिए जितनी एक शल्य चिकित्सक आपरेशन थियेटर में बरतता है।

आने वाली पीढ़ी यदि धर्म से विमुख होगी तो उसके उत्तरदायी हम हैं। वर्तमान में युवक यदि धर्म से पीछे हट रहे हैं तो उसकी जिम्मेदारी उन पर नहीं हमारे बुजुर्गों पर है। नित्य प्रातः देव-दर्शन हमारा पहला कर्तव्य है, पर देव दर्शन की उपयोगिता को समझना चाहने वाले युवक को हमने कभी संतोषप्रद उत्तर नहीं दिया। युवक को उत्तर न मिलने की इस रिक्तता ने धर्मद्रोही बनाया है। यह रिक्तता विनाशकारी हो रही है। इसी ने हमारे युवक को भटका हुआ पथिक बनाया है। वह मदिरा पान करने लगा है। वह मांस भक्षण की तैयारी कर रहा है। जुआ खेलना तो आम बात हो गई है। इस रिक्तता को दूर करने का उपाय शुद्ध आचरण से हो सकता है। शुद्ध आचरण बिना ज्ञान के, ज्ञान बिना स्वाध्याय के संभव नहीं अतः हम स्वाध्याय की ओर ध्यान दें, वह जीवन में आवश्यक है।

धर्म का प्रचार व प्रसार उसके सिद्धान्तों से कम, उसके अनुयायियों से अधिक होता है। सिद्धांत तो हमारे बहुत ऊंचे हैं, शाश्वत हैं, खरे हैं। आत्मा और परमात्मा का जितना सूक्ष्म चिन्तन हमारे दर्शन में हुआ, उतना शायद ही अन्य दर्शनों में हुआ हो, फिर भी हम संख्या में कम हैं, नगण्य हैं। इसका कारण हमारे धार्मिक सिद्धान्त नहीं, हम स्वयं हैं। सिद्धान्त तो ग्रन्थ के विषय हैं. उन तक केवल विद्वानों की पहुंच हो सकती है, सर्वसाधारण की नहीं। धर्म के अनुयायी उसके जीते जागते सिद्धान्त होते हैं, सर्वसाधारण जन तो उन्हें ही देखकर धर्म की महत्ता के बारे में विचार करते हैं। त्याग, निःस्वार्थ सेवाभावना ने एक धर्म को विश्व का सबसे अधिक अनुयायियों वाला धर्म बना दिया। उसके सिद्धान्तों ने नहीं।

अब एक बात क्षमा याचना सहित साधु संस्था से भी कह दूं। इस संस्था का विशेष उत्तरदायित्व है। समाज का व इतर समाज का सबका ध्यान

इस संस्था पर आता है। मुनि धर्म अंगीकार करना सरल है, वह यदि वैराग्य से अपनाया गया है तो कोई आशंका नहीं कोई कष्ट नहीं पर भावावेश में या गृहस्थाश्रम में आए उत्तरदायित्वों से पलायन के कारण अपनाया हुआ मुनि वेष कष्टप्रद है। आज ऐसा हो रहा है। इस प्रवृत्ति ने ही इस संस्था में शिथिलाचार को पनपाया है। जहां तिलतुष मात्र भी परिग्रह का निषेध हो वहां परिग्रह की प्रवृत्ति यदि शतांश भी दिखाई दे तो आने वाली आशंका की द्योतक है। अव्रती की चारित्रिक शिथिलता क्षम्य हो सकती है पर व्रती की नहीं। व्रती के जीवन में नाम मात्र की आई चारित्रिक शिथिलता ने धर्म के आलीशान प्रासादों को ठहराया है, धर्म विशेष के इतिहास इसके साक्षी हैं। उस समाज का पतन सन्निकट है जिसके व्रती लोग अव्रती लोगों से प्रतिस्पर्द्धा कर रहे हों। मुनि का जीवन के प्रति मोह हो, परिवार के प्रति मोह हो, कल्पना से परे है, पर यदि ऐसा हो तो, कुछ अनिष्ट घटे उसके पूर्व ही राह बदलना श्रेयस्कर है। यदि गृहस्थ मुनियों के लिए कोई जीवन सुविधा प्रदान करे तो सच्चा विवेकी मुनि उसे ठुकरा दे यही उसका कर्त्तव्य है। गृहस्थ उसे गिरा सकता है, पर वह गिरे नहीं यही उसकी दृढ़ता है। इतना दृढ़ होने के लिए मुनियों को ज्ञान साधना में सतत लगे रहना चाहिए।

पद लोलुपता ने भी हमें गिराया है। धर्म पर चाहे विश्वास न हो, अपने आपको जैन कहलाने में भी हिचकिचाहट का अनुभव करते हों, पर अनेक ऐसे लोग धार्मिक संस्थाओं के पदाधिकारी बने हुए हैं, उन्हें बनाने वाले भी दोषी हैं। कुछ एक स्थानों पर व्यक्ति विशेषों ने, दल विशेषों ने अनधिकार अधिकार जमा रखा है अनधिकार इसलिए बता रहा हूं कि प्रगति के नाम पर थोथे आंकड़े हैं उनके पास और कुछ नहीं। उन्हें चाहिए नये व्यक्तियों के लिए अपने द्वार खोले जिससे कुछ सुधार हो। नये लोगों को अनुभव करने का अवसर प्रदान कर, पुराने लोगों को अपने त्याग का परिचय देना चाहिए। अनाम उत्सर्ग की भावना के बिना हम आगे नहीं बढ़ सकेंगे।

प्रदर्शन और आडम्बरों का परित्याग कर, त्याग और निःस्वार्थ सेवाभावी बनकर हम हमारे धर्म का प्रचार व प्रसार करें, यदि हम ऐसा कुछ भी कर सके तो इस निर्वाण परिवर्ष में आए इस पावन जयन्ती पर्व पर महावीर के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी। हम अपना व समाज का कल्याण कर सकेंगे।

मुक्तक

चले अन्दर कतरनी क्या करेगी हाथ की माला,
मरी जब तक न इच्छायें मिले न मोक्ष का प्याला।

अगर है मोक्ष की इच्छा तो 'काका' मन करो वश में,
तुम्हारी वासनाओं ने तुम्हें बर्बाद कर डाला।

महावीर-निर्वाण-शताब्दी

श्री विपिन जारोली

वर्द्धमान !
तुम एक राजकुमार थे।
यदि चाहते तो–
वैशाली गणराज्य के–
क्षत्रिय कुण्ड के,
वैभव को भोगते।
ऐश और आराम से,
सुखमय जीवन–
व्यतीत करते।
कई राजकुमारियों के साथ–
यौवन का आनन्द लेते।
कोई कहने वाला तो था नहीं।
कमी भी
किसी वस्तु की नहीं थी।
अटूट धन-वैभव,
महल,
दास-दासी,
नौकर-चाकर,
परिजन-पुरजन,
सब कुछ था,
स्थिर और शान्त।
आज जब कि
तुम्हारा पच्चीसौवां
निर्वाण महोत्सव वर्ष
मनाया जा रहा है;
सभी तुम्हारी–
जय जयकार कर रहे हैं।
अनुयायी,
तुम्हारे नाम पर,
विविध कार्यक्रम—
आयोजित कर रहे हैं।
तुम्हारी नई नई मूर्तियाँ
स्थापित कर,
पूजा कर रहे हैं।
मैं सोचता हूं
यह सब................?
तुम्हारा दृढ़ संकल्प,
जीवन की
समस्त—
सुख सुविधाओं का—
समर्पण।
'जीओ और जीने दो' का लक्ष्य।
किसी के दिल को,
कष्ट न पहुंचे—
तुमने विरोध में
कभी शब्द मात्र का भी
उच्चारण
नहीं किया।
सत्य को सदा ही,
खंडित होने से बचाया।
प्राणि मात्र के
उत्कर्ष के लिये,
संयम का आलम्बन ले,
दुस्सह परीषहों को सहा।
महावीर बन
आत्म विजेता विज्ञानी बने।
तुम्हारा यह एक पच्चीसौवाँ
निर्वाण-महोत्सव-वर्ष ही क्यों ?
कई पच्चीसौवें निर्वाण-महोत्सव वर्ष
मनाये जाते रहेंगे सदियों
सहस्र सहस्र सदियों।

शासनदेव पूजा—रहस्य

□ श्री रतनलाल कटारिया
केकड़ी (अजमेर)

[केकड़ी के श्री कटारिया की विशेषता यह है कि वे ग्रंथों को अमान्य ठहराने की अपेक्षा उनका आर्ष वचनानुसार अर्थ करके दूध का दूध और पानी का पानी कर देते हैं। शासन देवों की पूज्यता और अपूज्यता को लेकर विवाद समाज में नया नहीं है और अब तक परिपाटी यह रही है कि जिन ग्रंथों में शासनदेवों की पूजा का विधान है उन्हें भट्टारक प्रणीत कह कर अमान्य घोषित कर देना। श्रीकटारिया उन ग्रंथों की मान्यता को सुरक्षित रखते हुए उनके शास्त्र सम्मत अर्थ निकालने में सिद्धहस्त हैं। यह विशेषता उन्हें अपने स्व. पिताजी से विरासत में मिली है। श्री कटारिया के तर्कों पर विद्वान् निष्पक्ष रूप से विचार कर सकें इसी पवित्र भावना के साथ हम उनकी यह रचना यहां प्रकाशित कर रहे हैं। वैसे यह तो समन्तभद्र आदि के ग्रंथों से हस्तामलकवत् स्पष्ट ही है कि सच्चे देव शास्त्र और गुरु के अतिरिक्त अन्यों की पूजा सम्यग्दृष्टि के लिए निषिद्ध है।

प्र. सम्पादक]

इति पंचमहा पुरुषाः
प्रणुता जिनधर्मवचन चैत्यानि।
चैत्यालयाश्च विमलां,
दिशंतु बोधिं बुधजनेष्टाम् ॥10॥

—चैत्यभक्ति (पूज्यपाद)

अरहंत सिद्ध साहूतितयं
जिणधम्म वयण पडिमाइ।
जिणणिलया इदिराए,
णवदेवा दिन्तु मे बोहिं॥

—भावत्रिभंगी

अर्थात्-अरिहंत, सिद्ध और आचार्य उपाध्याय साधु ये पंच परमेष्ठी (सचेतन) तथा जिनधर्म, जिनवाणी, जिन प्रतिमा, जिनालय ये चार (अचेतन) इस प्रकार नवदेव माने गये हैं।

ये सब वीतराग-स्वरूप होने से पूज्य और आराध्य हैं। इनके सिवा न तो और कोई वीतराग-स्वरूप हैं और न पूज्य आराध्य हैं।

इन नवदेवों में कोई भी देवगति (व्यंतर-ज्योतिष्क-भवनवासी कल्पवासी) के देव नहीं हैं जबकि शासनदेव व्यंतर जाति के यक्षदेव हैं जो वीतराग-स्वरूप नहीं हैं, रागी द्वेषी हैं अतः अपूज्य हैं।

पूज्यता संयम से आती है और देवगति में संयम का सर्वथा अभाव है। कुन्दकुन्दाचार्य ने दर्शनपाहुड गाथा 26 में कहा है :—

असंजदं न वंदे गंथविहीणो वि सो ण वंदिज्जो॥ अर्थात्-असंयमी चाहे वह नग्न-दिगंबर ही क्यों न हो वदनीय नहीं है? तब भला रागी द्वेषी और परिग्रही शासन देव-यक्ष कैसे पूज्य हो सकते हैं? अर्थात् कदापि नहीं।

जैनधर्म में रागद्वेष और इन्द्रिय विषय कषायों को जीतने वाले आराध्य हैं रागीद्वेषी इन्द्रिय विषय कषायों के गुलाम देवगति के देवों को आराध्य-पूज्य बताना जैन संस्कृति के सर्वथा विरुद्ध है।

देवगति के देवों को महान् और पूज्य जैनेतर संप्रदायों में माना गया है उनके शास्त्र इन देवों की विविध स्तुतियों से भरे पड़े हैं जबकि जैनधर्म ने इन देवी देवताओं के जाल से मनुष्य को ऊपर उठा

कर उसकी महान् आत्मिक मानवी शक्ति का यानि नर से नारायण तथा जन से जिन बनने की क्षमता का उसे भान कराया है। यही जैन धर्म की अन्य धर्मों से खास विशेषता है। इसी खूबी का लोप करना इसे विकृत करना एक तरह से जैन धर्म को ही समाप्ति करना है।

संसार के समग्र प्राणियों में मनुष्य ही सर्व श्रेष्ठ प्राणी है। जैन धर्म में जहां देवों में 4 गुण तक ही माने हैं वहां मनुष्यों में 14 गुण (गुण-स्थान) तक माने हैं। शास्त्रों में अनेक कथायें आती हैं जिनमें देवताओं द्वारा मनुष्यों की रक्षा और उनकी पूजा का वर्णन पाया जाता है। इस तरह जैनाचार्यों ने देवों को मनुष्यों का सेवक पूजक द्योतित किया है मनुष्यों को देवों का सेवक-पूजक नहीं।

तीर्थंकरों के तपकल्याणक के प्रसंग में शास्त्रों में लिखा है कि-भगवान् की पालकी को उठाने में जब देवों और मनुष्यों में विवाद उत्पन्न हो गया तो उसका निर्णय इसी बात पर हुआ कि–"जो भगवान के साथ दीक्षित होने की संयम धारण करने की क्षमता रखते हों एवं भगवान् की जाति के हों यानि मानव जाति के (भूमि-गोचरी) हों वे ही पालकी उठा सकते हैं"। इसमें देव परास्त होगये और मनुष्यों ने ही सर्व प्रथम पालकी को उठाया।

इससे देवों की अपेक्षा मनुष्य की महत्ता गुरुता और सर्व श्रेष्ठता का परिचय प्राप्त होता है।

जैन धर्म में तो वीतराग जिनदेव को छोड़कर अन्य सभी देवताओं की उपासना को देवमूढ़ता (मिथ्यात्व) बताया है जैसाकि स्वामी समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है।

वरोपलिप्सयाशावान्, रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत, देवतामूढमुच्यते ॥23॥

अर्थात् किसी कामना-प्रयोजन से भी रागीद्वेषी देवों की उपासना करना देवमूढ़ता है।

इसका कारण यह है कि–रागीद्वेषियों की उपासना रागद्वेष (संसार-दुःख) को ही बढ़ाती है जब कि वीतराग की उपासना वीतरागता (मोक्ष-सुख) को प्राप्त कराती है। यही जैन भक्ति का उद्देश्य और सार है।

प्रश्न :–जिस तरह नव देवों में 'जिन वचन' गुणदेव है और उसके अधिष्ठाता देव श्रुतदेव या सरस्वती देवी पूज्य रूप में माने गये हैं उसी तरह 'जिनशासन' के अधिष्ठाता देव इन तथा कथित शासन देवों को मान लिया जाये और इन्हें पूज्य बताया जाये तो क्या बाधा है?

उत्तर :–ऐसा किसी तरह संभव नहीं, क्योंकि ये शासन देव व्यंतरजाति के यक्ष हैं और इनकी उत्कृष्ट आयु करीब एक पल्योपम मात्र है अतः ये गुण देव नहीं होने से अधिष्ठाता देव भी संभव नहीं हैं जबकि श्रुतदेव देवगति के देव नहीं हैं अतः गुणदेव होने से अधिष्ठाता देव हैं और श्रुत की तरह ही इनकी आयु भी अनादि अनंत है (श्री जैन शासनमनिंद्यमनाद्यनन्तम्, भव्यौघ ताप शमनाय सुधा प्रवाहम् ॥) शासन देवों में 24 यक्ष और 24 यक्षियां हैं जिनके सब के अलग अलग गोमुख चक्रेश्वरी आदि व्यक्ति रूप से संज्ञा नाम हैं जबकि 'जिन वचन' का अधिष्ठाता एक ही श्रुतदेव है और उसका व्यक्ति रूप से संज्ञा वाची नाम न होकर गुणानुरूप नाम है। शासनदेव यक्षदेव होने से सचेतन है। जिस तरह एक म्यान में दो तलवार नहीं समा सकती उसी तरह यक्ष देवत्व में जिन शासनत्व नहीं समा सकता। सचेतन अशुद्ध पदार्थ में स्थापना नहीं हो सकती अतः कोई व्यंतर यक्ष कभी अधिष्ठातादेव (जिनशासन, नहीं बन सकता।

तिलोयपण्णत्ती (दि०) तथा निर्वाणकलिका (श्वे.) प्रभृति ग्रंथों में गोमुख चक्रेश्वरी आदि देवताओं को यक्ष नाम से ही संसूचित किया है कहीं भी शासन देव नहीं लिखा है। बाद के ग्रंथों

में शासन के अधिष्ठाता रूप में नहीं किन्तु शासन की रक्षा करने वाले के अर्थ में ये शासनदेव कल्पित किये गए हैं। जैसा कि यशस्तिलक चम्पू में सोमदेव सूरिने लिखा है :-"ताः शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे"।

इससे स्पष्ट है कि-ये स्वयं मूर्तिमान "जिनशासन" नहीं हैं ये तो शासन के रक्षक कल्पित देव हैं। अगर इन्हें ही वास्तविक जिन शासन मान लिया जायेगा तो फिर जैन धर्म के अधिनायक जिनेन्द्र देव नहीं रहकर ये देवगति के यक्षदेव अधिनायक हो जायेंगे। फिर तो वह शासन भी जिनशासन न रहकर यक्षशासन हो जायेगा।

बाद के ग्रंथकारों ने इन यक्षों को 'शासनदेव' नाम अधिष्ठाता रूप से नहीं प्रत्युत जिनशासन के रक्षक रूप से दिया है। किन्तु यह भी व्यर्थ है क्योंकि पूर्वाचार्यों ने जैन-जगत (जिनशासन) के रक्षक दिग्पाल (लोकपाल) पहिले से ही बता रखे हैं तब फिर ये और नये रक्षक क्यों ईजाद किये गये ? क्या उन दिग्पाल-लोकपालों की रक्षकता में कोई कमी आ गई थी ? इनके सिवा तत्वार्थसूत्र अध्याय 4 के सूत्र 5 में बताया है कि-"त्रायस्त्रिंश लोक पाल वर्ज्याः व्यंतर ज्योतिष्काः' अर्थात्-व्यंतर और ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंश (पुरोहित) और लोकपाल (रक्षक) भेद नहीं होते। अतः ये शासन के रक्षक रूप में भी शासनदेव (व्यंतर-यक्ष) शास्त्र विरुद्ध सिद्ध होते हैं।

प्रश्न :-'जैनं जयति शासनम्" इस श्लोक में जो जैन शासन की जय की गई है वह 'जिनशासन' नवदेवों में कौन सा देव है ? क्या वह कोई दसवां देव है ?

उत्तर :-नवदेवों से भिन्न कोई दसवां पूज्य देव नहीं है। शासन का एक अर्थ शास्त्र (जिनवचन) भी होता है। देखो हेमचन्द्र कृत 'अनेकार्थ संग्रह' कांड 3-शासनं नृपदत्तोर्व्यां शास्त्राज्ञा-लेख शास्तिषु ॥453॥

शासन और शास्त्र शब्द एक ही शास् धातु से बने हैं। अतः यहां जिनवचन ही जिनशासन है। जिनवचन के अधिष्ठाता देव श्रुतदेव ही वस्तुतः जिनशासन देवता है, ये मूर्ति रूप में हो चाहे शिलालेख या हस्तलिखित मुद्रित शास्त्र पुस्तक रूप में हों पूज्य मान्य हैं इनके सिवा अन्य सब शासनदेव मिथ्या और अपूज्य हैं।

प्रश्न-शास्त्रों में जो श्री ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी आदि देवियों के नाम पाये जाते हैं क्या ये पूज्य गुणदेवियां हैं ?

उत्तर-जिस तरह मनुष्यों में लक्ष्मी बाई, शांति कुमारी, सरस्वती देवी, बुद्धिवल्लभ, कीर्तिधर आदि नाम पाये जाते हैं नामानुसार उनमें वे साक्षात् पूर्ण गुण नही हैं उसी तरह श्री, ह्री, धृति कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी आदि नाम, देवियों में भी पाये जाते हैं ये इन गुणों की साक्षात् मूर्तिमंत अधिष्ठात्री देवियां नहीं हैं। ये श्री ह्री आदि 6 देवियां षट् कुलाचल वासिनी सचेतन देवियां हैं इसी से तत्वार्थ सूत्र अध्याय 3 सूत्र 19 में इनकी एक पल्य मात्र आयु बताई है देखो 'तन्निवासिन्यो देव्यः श्री ह्री धृति कीर्ति लक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः "।

उत्तर पुराण पर्व 63 में गुणभद्राचार्य ने इन्हें व्यंतरियां और इन्द्र की वल्लभा बताया है। यथा-
तेषामाद्येषु षट्सु स्युस्ताः श्री ह्री धृतिकीर्तयः।
बुद्धि लक्ष्मीश्च शक्रस्य व्यन्तर्यो वल्लभांगनाः ॥120॥

इससे स्पष्ट है कि ये गुण देवियां नहीं हैं देवगति की व्यंतरियां हैं अतः पूज्य नहीं हैं (इन्हें कहीं कहीं दिक्कुमारी और दिक्कन्यका भी लिखा है)

इन तथाकथित शासन देवों के मूल में ही गड़बड़ है इनकी पूजा की बात तो दूर है वह तो किसी तरह भी समीचीन नहीं हो सकती। इस विषय में और भी विशेष जानने के लिये हमारी पुस्तक "जैननिबंधरत्नावली" के निम्नांकित लेखों का अध्ययन कीजिये—

लेख नं. 28—धरणेन्द्र पद्मावती।

लेख नं. 30—प्रतिष्ठा शास्त्र और शासनदेव।

लेख नं. 32—दस दिक्पाल।

लेख नं. 33—इसे भक्ति कहूं या नियोग।

लेख नं. 40—चौबीस यक्ष यक्षियां।

इनके सिवा "पद्मावती पूजा मिथ्यात्व है" नाम का हमारा ट्रेक्ट भी पढ़िये।

प्रश्न :—शासन के भक्त-देवता मानकर कृतज्ञता रूप में अगर शासन देवों की पूजा की जाये तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर :—शासन के भक्त होने में ही अगर शासन देव पूज्य माने जांय तो फिर सभी सम्यक्त्वी व्रती तिर्यंच मनुष्य भी पूज्य हो जायेंगे किन्तु पूज्यता भक्ति से नहीं आती वह तो संयम से आती है और देव संयम के नितांत अयोग्य हैं अतः वे सर्वथा अपूज्य हैं। भक्ति करना कोई अहसान नहीं है जो कृतज्ञता ज्ञापन की जाय। शासन देवों की जिनभक्ति में श्रद्धा के बजाय केवल नियोग है जो उन की ड्यूटी-कर्त्तव्य है।

प्रश्न—जिस तरह चक्रवर्ती के परिवार का पूजन न करने पर चक्रवर्ती से सेवकों को फल की प्राप्ति नहीं होती उसी तरह शासन देवों की पूजा किये बिना जिनेन्द्र से फल प्राप्ति नहीं होती अतः शासनदेव पूजा विधेय है।

उत्तर—शासनदेवों को जिनेन्द्र के परिवार के बताना जिनेन्द्र को देवगति का देव (असंयमी) बनाना है और शासन देवों को मनुष्यगति का संयमी मनुष्य बनाना है-यह उल्टी गंगा बहाना है जो जिनेन्द्र तथा देव दोनों का ही अवर्णवाद है। ऐसे अवर्णवादों से कोई पूजा कभी विधेय नहीं हो सकती। जिनेन्द्र तीन लोक के स्वामी हैं और शासनदेव उनके किंकर हैं। मालिक और नौकर को एक बताना मूढ़ता है।

प्रश्न—जिस तरह चपरासी या अहलकार को कुछ रकम देने से सरकारी काम सिद्ध हो जाता है उसी तरह शासनदेवों को अर्घ देने से धर्म कार्य सिद्ध हो जाता है।

उत्तर—राज्य कर्मचारी को व्यक्तिगत रकम देना रिश्वत है। इसका देने और लेने वाला दोनों कानूनन अपराधी हैं। उसी तरह शासनदेवों को अर्घ प्रदान करना भी जैन शासन में धार्मिक जुर्म है।

प्रश्न – जिन प्रतिमा के साथ शासन देवता क्षेत्र पाल नव ग्रह गंधर्व यक्ष नाग किन्नरादि की मूर्तियां भी पाई जाती हैं अतः ये सब देवगण पूज्य हैं।

उत्तर—जिन प्रतिमा के साथ उक्त देवताओं की मूर्तियां जिनेन्द्र के सेवक पूजक भक्त रूप में प्रदर्शित की गई हैं। जैनेतर संप्रदायों में इन देवी-देवताओं को बहुत बड़ा बताया गया है जैनशास्त्र-कारों ने उन्हीं देवी देवताओं को जिनेन्द्र के सेवक रूप में प्रस्तुत कर जिनेन्द्र की महत्ता-देवाधिदेवता प्रदर्शित की है।

साथ होने से ही कोई बराबर हो जाता हो तो अनेक जिनप्रतिमाओं के उपर कलश करते हाथी, आसन रूप में कमल और सिंह, पादपीठ में हिरण और 24 चिन्हों के रूप में विविध पशु पक्षी वृक्षादि अंकित रहते हैं तो ये सब तिर्यञ्च भी पूज्य हो जायेंगे। मूर्ति पर मच्छर मक्खी भ्रमर मूषक आदि भी आकर बैठ जाते हैं तो ये भी पूज्य हो जायेंगे। मालिक के पास बैठकर मालिक की पगचम्पी करने वाला नौकर भी मालिक हो जायेगा किन्तु ऐसा नहीं है मालिक, मालिक ही रहता है और नौकर, नौकर ही रहता है। इसी तरह जिनेन्द्र के सेवक देवतागण जिनेन्द्र के पास स्थित होने से पूज्य नहीं हो जाते वे तो पूजक ही रहते हैं।

फलों के साथ रहने वाले छिलके फलों के रक्षक और फल ही कहलाते हुए भी अनुपयोगी अग्राह्य मलरूप माने जाते हैं वही स्थिति शासन देवों की समझनी चाहिये। चाहे वे जिनप्रतिमा के साथ हों चाहे अलग। वे हमेशा अपूज्य ही हैं।*

4-24

प्रश्न—याग मण्डल में अरिहंत के साथ भवनत्रिक देवों की स्थापना क्यों की जाती है ? इससे क्या भवनत्रिक देव (भवनवासी, व्यंतर-ज्योतिष्क) पूज्य नहीं होते ?

उत्तर—याग मण्डल के मध्य में अरिहंतादि परमेष्ठी और चारों तरफ भवनत्रिक देवों की स्थापना समवशरण सभा की नकल है। जिस तरह समवशरण सभा के मध्य में अरिहंत विराजमान होते हैं और चारों तरफ 12 सभा होती है जिसमें पूज्य तो अरिहंत होते हैं। बाकी तो सब पूजक होते हैं उसी तरह यागमण्डल की रचना में भी पूज्य तो अरिहंतादि परमेष्ठी ही होते हैं बाकी अन्य सब पूजक होते हैं। अकेले सभापति से सभा नहीं कहलाती। सभी सभासदों (श्रोतागण) से ही सुशोभित होती है इसी तरह यागमण्डल में शोभा और परिपूर्णता की दृष्टि से भवनत्रिक देवों को सम्मिलित किया गया है। इसमें पूज्यता का कोई प्रश्न नहीं है।

प्रश्न—फिर भी कुछ प्रतिष्ठा-अभिषेक पाठादि ग्रंथों में शासनदेवों (भवनत्रिक) को अर्घसमर्पण करने का कथन क्यों पाया जाता है ? यथा—

1. यागेस्मिन्नाक नाथ ज्वलन
   पितृपते नैकवेय प्रचेतो।
   वायोरैदेश शेषोडुप सपरि-
   जना यूयमेत्य ग्रहाग्राः ॥
   मंत्रै भूंः स्वः स्वधाद्यै रधिगत-
   वलयः स्वासुदिक्षूपविष्टाः।
   क्षेपीयः क्षेमदक्षाः कुरुत जिनसवो-
   त्साहिनां विघ्नशांतिम् ॥13॥
   —सोमदेवकृत अभिषेक पाठ (यशस्तिलकचम्पू)

2. पूर्वाशादेश हव्यासन महिष-
   गते नैर्ऋते पाशपाणे।
   वायो यक्षेन्द्र चन्द्राभरण
   फणिपते रोहिणीजीवितेश ॥
   सर्वेप्यायात यानायुध युवति,
   जनै सार्धमों भू भुर्वः स्वः।
   स्वाहा गृण्हीत चार्घं चरुममृत-
   मिदं स्वास्तिकं यज्ञभागं ॥11॥
   —पूज्यपाद अभिषेक पाठ

3. आवाहिऊण देवे सुरवइ सिहि
   कालणेरिए वरुणे।
   पवणे जक्खे ससूली सपिय
   सवासणे ससत्थे य ॥439॥
   दाऊण पुज्जदव्वं बलि चरुयं
   तहय जण्ण भायं च।
   सव्वेसिं मंते हिय बीयक्खर
   णाम जुत्तेंहि ॥440॥
   —देवसेन कृत भावसंग्रह

इनमें दशदिग्पालों का आह्वान कर उनसे अर्घ्यादि पूजाद्रव्य (यज्ञांश) ग्रहण करने का निवेदन किया गया है इसमें क्या तात्पर्य रहस्य सन्निहित है ?

उत्तर-उपलब्ध प्रतिष्ठापाठों में वसुनंदिश्रावकाचार के अन्तर्गत 60 गाथाओं का प्रतिष्ठा प्रकरण ही प्राचीन है अन्य (आशाधरादिकृत) सब उसके बाद के हैं। वसुनंदि प्रतिष्ठा प्रकरण में कहीं भी शासनदेवों (भवनत्रिक) को अर्घसमर्पण का कोई कथन नहीं है।[7] बाद के प्रतिमा अभिषेक पाठादि ग्रंथों में यह नई शैली अपनाई है उसका तात्पर्य भी शासनदेव पूजा नहीं है किन्तु सौधर्मेन्द्र द्वारा भवनत्रिक देवों को अर्घसमर्पण जिनेन्द्रदेव की पूजा के लिए किया गया है अर्थात् इन्द्र भगवान का पंच कल्याणक महोत्सव मनाता है अगर वह अकेला मनाये तो कोई ठाटबाट नहीं रहता। अतः इन्द्र अपनी देवगति के चतुर्णिकाय देवों का आह्वान करता है और भगवान की पूजा करने के लिये उन सबको अर्घ-पूजाद्रव्य प्रदान करता है इसे ही यज्ञांशदान (पूजाद्रव्य के हिस्से का देना) कहा गया है जो सामूहिक (सम्मिलित) पूजा का अंग समझना चाहिये।

आज भी ऐसी ही शैली नित्यपूजा और मण्डल विधान पूजा में भी दृष्टिगत होती है—पूजक मनुष्य मंदिर में आगत अपने साधर्मी भाइयों को अपने पूजाथाल में से जिनपूजा के लिए अर्घसमर्पण करता है। जिस तरह यहां साधर्मियों को अर्घसमर्पण साधर्मी पूजा नहीं है किन्तु वह जिनपूजार्थ है उसी तरह प्रतिष्ठा अभिषेकादि ग्रन्थों में इन्द्र द्वारा भवनत्रिकों को अर्घ-समर्पण भवनत्रिकदेव-पूजा नहीं है लेकिन वह भी जिनपूजार्थ ही है।

ऊपर जो 3 ग्रन्थ-प्रमाण दिये हैं उनमें अर्घादि द्वारा दिग्पालों को पूजने का तृतीया विभक्ति परक कथन नहीं है किन्तु दिग्पाल अर्घादि को ग्रहण करें ऐसा द्वितीया विभक्ति परक कथन है। ऐसा ही कथन अन्य अभिषेक पाठादि में है। इनसे स्पष्ट और सुसंगत रूप से सिद्ध है कि-इन्द्र द्वारा दिग्पालादि को अर्घसमर्पण जिनपूजार्थ है। स्वयं दिग्पालों की पूजा के लिए नहीं।

प्रश्न – आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रमं।
ते मयाभ्यर्चिता भक्त्या सर्वे यांतु यथास्थिति॥

विसर्जनपाठ के इस श्लोक में तो देवों का आह्वान उनकी भक्ति पूर्वक पूजा करने की दृष्टि से बताया गया है यह कैसे ?

उत्तर इसमें "ते मयाभ्यर्चिता भक्त्या" पाठ ही गलत है वह बदला हुआ है। प्राचीन अर्वाचीन अनेक हस्तलिखित गुटकों में इस जगह शुद्ध पाठ "ते जिनाभ्यर्चनं कृत्वा" पाया जाता है। हमारे पास शेरगढ़, हिंडोली, बसवा, चांदखेड़ी से प्राप्त कुछ हस्तलिखित गुटके हैं उन सब में भी यही "ते जिनाभ्यर्चनं कृत्वा" शुद्ध और सुसंगत पाठ पाया जाता है। यही शुद्ध पाठ रावजी सखाराम दोशी शोलापुर द्वारा प्रकाशित "शासनदेव पूजा के अनुकूल अभिप्राय" नामक ट्रेक्ट के पृ 71 और 74 पर पाया जाता है इस पाठ के विषय में वहां पं. वंशीधरजी शास्त्री शोलापुर वालों ने लिखा है कि—

"यह पाठ इधर के पूजापाठों में व प्रतिष्ठा पाठों में तथा पुरानी हस्तलिखित प्रतियों में मिलता है-यह पाठ सिद्धांत अनुकूल और शब्दशास्त्र से भी निर्दोष है।"

हमारे पास के एक गुटके में यह विसर्जन श्लोक लघु अभिषेक पाठ का बताया गया है वहां लिखा है:

आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रमं।
ते जिनाभ्यर्चनं कृत्वा सर्वे यान्तु यथास्थितं॥

स्वस्थानं गच्छ गच्छ पुष्पाक्षत अर्पण सर्वामर विसर्जनं। इति अभिषेकः समाप्तः (शायद यह अभयनंदि कृत लघुस्नपन (श्रेयोविधान) का विसर्जन श्लोक हो किन्तु मुद्रित लघुस्नपन में यह श्लोक नहीं पाया जाता है सम्भवतः छूट गया हो)

इस शुद्ध श्लोक का सही अर्थ इस प्रकार है—

"जिन देवों का पहिले आह्वान किया गया था और जिन्होंने (अर्हत्पूजार्थ) यथाक्रम से अपना अपना पूजाद्रव्य भाग प्राप्त कर लिया वे अब जिन-पूजा करके अपने-अपने स्थान को जावें।"

इस कथन से सुस्पष्ट है कि-इन्द्र द्वारा देवगण जिनेन्द्र की पूजा के लिए ही बुलाये जाते हैं।[1] स्वयं उन देवों की पूजा के लिये नहीं और उन देवों को पूजाद्रव्य भी जिन पूजा के लिये ही अर्पण किया जाता है स्वयं उनकी पूजा के लिए नहीं।

यही बात निम्नांकित ग्रन्थों के विसर्जन श्लोक और मन्त्रों में स्पष्ट लिखी है—

(1)

मंगलार्थं समाहूता विसर्ज्याखिल देवताः।
विसर्जनाख्य मंत्रेण वितीर्य कुसुमांजलिं ॥124॥
ॐ जिनपूजार्थं समाहूता देवता विसर्जनाख्य मंत्रेण सर्वेविहित महा महाः स्वास्थानं गच्छत यः यः यः। इति विसर्जनमंत्र। प्रतिष्ठासार संग्रह (वसुनंदिकृत)

(2)

प्रागाहूता देवता यज्ञभागै
प्रीता भर्तुः पादयोरर्घदानैः।

प्रीता शेषां मस्तके स्युर्महंत्य:,
प्रत्यागन्तु यान्त्वशेषा यथास्वं ॥165॥
—नित्य महोद्योत (आशाधर कृत)

(3)

ॐ जिन पूजार्थमाहूता देवा: सर्वे विहित महामहा: स्वस्थानं गच्छत गच्छत ज: ज: इति विसर्जन मन्त्रोच्चारणेन यागमण्डले पुष्पांजलिं क्षितीयं देवान् विसर्जयेत् ॥
—'जिनयज्ञकल्प' अध्याय 5 (आशाधरकृत)

(4)

देव देवार्चनार्थं ये समाहूताश्चतुर्विधा: ।
ते विधायार्हतां पूजां यांतु सर्वे यथायथं ॥
—इन्द्रनंदि संहिता

(5)

दधे मूर्ध्नार्हित: शेषा आहूता सर्वदेवता ।
मया क्रमाद् विसृज्यंते निर्गच्छामि जिनालयात् ॥
—इन्द्रनंदि संहिता (पूजासार पत्र 62)

इनमें बताया है कि—'जिनपूजा के लिए जिनका आह्वान किया गया है और जिन्होंने पूजाद्रव्य प्राप्त कर उससे जिन-पूजा करली है वे सब देवगण अपने अपने स्थान को जावें ।'

ये सब श्लोक और मंत्र 'आहूता ये पुरा देवा' इस श्लोक के हुबहू रूपान्तर हैं तथा इनसे "ते जिनाभ्यर्चनं कृत्वा" इस शुद्ध पाठ की भी ठीक पुष्टि हो जाती है ।

अभयनंदिकृत लघुस्नपन (भावशर्मकृत टीका) में लिखा है :—

1. गंधं बंधुरधी: प्रतीच्छतुतरामत्राहेत: पूजने ॥21॥

(टीका-बंधुरधी: — धनपति:, अत्राहेत: पूजने — क्रियमाणे सर्वज्ञस्य स्नपने, गंधं — गंधादियज्ञभागं, प्रतीच्छतुतरां — अतिशयेन स्वीकुरुताम्)

2. पात्रं द्राक् प्रतिगृह्यतामिह महे पुष्पादिकाभ्यर्चनम् ॥22॥

(टीका—पुष्पादिक मेवाभ्यर्चनं पूजाद्रव्यं तदेव स्वकं पात्रं, द्राक् — शीघ्रं, इहमहे — अस्मिन्नभिषेके, प्रतिगृह्यतां — स्वीक्रियताम् ।)[1]*

इनमें भी अर्हत्पूजन के लिये ही गंधादि पूजा-द्रव्य और पूजापात्र दिग्पालों को ग्रहण करने के लिये लिखा है ।

इस तरह 'शासनदेवपूजा' शब्द का अर्थ शासन देवों की पूजा सिद्ध नहीं होता किन्तु शासन देवों द्वारा जिन पूजा सिद्ध होता है यही अर्थ सब जगह ग्रहण करना चाहिये । अर्थात्—'शासन देव पूजा' शब्द में षष्ठीतत्पुरुषसमास न लेकर तृतीयातत्पुरुष समास लेना ही सुसंगत होगा ।

प्रश्न — गुणभद्रकृत अभिषेकपाठ के श्लोक 49 के मंत्र भाग में लिखा है :—

"ॐ इन्द्र ! आगच्छ इदं अर्घ्यं यज्ञभागं च यजामहे प्रतिगृह्यतां" ।

इसमें पूजार्थक यज धातु के प्रयोग से इन्द्र नाम के दिग्पाल की पूजा सिद्ध होती है (अभिषेक पाठ संग्रह पृष्ठ 23) ऐसा ही अभयनंदि कृत लघुस्नपन के श्लोक 15 के मंत्रभाग में लिखा है (अभिषेक पाठ संग्रह पृष्ठ 67) इन सब का क्या समाधान है ?

उत्तर :— "यजी देव पूजा संगतिकरण दानेषु" अर्थात् यज् धातु के तीन अर्थ होते हैं 1—देवपूजा 2—संगति करना, सन्निकट होना 3—देना । यहां यजामहे का अर्थ ददामहे — देता हूं है देखो अभिषेक पाठ संग्रह पृष्ठ 67 । (भावशर्मकृत टीका) । यहां 'यजामहे' का ददामहे' के सिवा और कोई दूसरा अर्थ संभव ही नहीं है । पूजा अर्थ तो तब होता जब अर्घ्यं और यज्ञभाग शब्द द्वितीया विभक्ति के बजाय तृतीया विभक्ति में होते किन्तु ऐसा है नहीं

इसी से टीकाकार भावशर्मा ने यजामहे का अर्थ स्पष्टतया ददामहे ही दिया है। पूरे अन्त भाग का सही अर्थ इस प्रकार है :– हे इन्द्र आओ और यह अर्घ्य यज्ञभाग तुम्हें देता हूं इसे स्वीकार करो"।

यहां गृहाण (ग्रहण करो) शब्द से ही काम चल सकता था फिर भी जो 'प्रति' उपसर्ग लगाया है वह जिनेन्द्र के प्रति ग्रहण करो इस भाव के द्योतन के लिये लगाया है अर्थात्–यह पूजा द्रव्य दिक्पाल की पूजा के लिये प्रदान नहीं किया गया है किन्तु जिन-पूजा के लिये दिक्पाल को दिया गया है। यह आशय स्पष्ट अभिव्यक्त होता है।[12]

यज धातु के जो ऊपर 3 अर्थ बताये हैं उनमें पूजा अर्थ अरहंत ही के साथ लगाना चाहिये बाकी देना और संगति करना अर्थ भवनत्रिक देवों के साथ लगाना चाहिये।

नित्यमहोद्योत श्लोक 95 की टीका में (अभिषेक पाठ संग्रह पृष्ठ 187 में) लिखा है– "यजे = पूजयामि इति सन्निधिकरणं सूचितं अर्थात् यहां यज धातु का तात्पर्य सन्निधिकरण अर्थ में है। आगे के श्लोकों में भी यज धातु का प्रयोग है उन सब का यही अर्थ है कि इन्द्र भवनत्रिक देवों को जिनपूजार्थ अपने सन्निकट (साथ में) लेता है[13]। अथवा भवनत्रिकों को जिनपूजार्थ पूजाद्रव्य देता है।[14]

नित्यमहोद्योत श्लोक 51 (अभिषेक पाठ संग्रह पृष्ठ 151) में 'भूम्यर्चन' (भूमिपूजा) का कथन है उसका टीका कार ने अर्थ–"भूमि-शुद्धि" दिया है। नीचे पाद टिप्पण में लिखा है– 'ॐ ह्रीं श्रीं क्ष्वीं भू: शुद्ध्यतु स्वाहा। भूमिशोधनम्।।"

यही बात गुणभद्र कृत बृहत्स्नपन के श्लोक 2 में इस प्रकार दी है :– ॐ शोधयामि भू-भागं जिनेन्द्राभिषवोत्सवे ।। भूमि शोधनम्। (अभिषेक पाठ संग्रह पृष्ठ 14) पृष्ठ 145–दर्भपूलेन भूमिं सम्मार्जयेत्। यहां भूमि पूजा का अर्थ भूमि की अष्टद्रव्य से पूजा नहीं है किन्तु जलादि से भूमि का धोना और बुहारी से भूमि का प्रमार्जन करना है जो सार्थक और संगत है।

इसी तरह पीठार्चन का अर्थ पीठ की जलादि से शुद्धि[15] और पीठ पर अष्ट द्रव्य थाल रखना है। कलशार्चन का अर्थ भी चारों कोणों में कलशों का स्थापना करना है। यही पीठ और कलश की सही पूजा है।

नित्यमहोद्योत श्लोक 73 के 'प्रसाद्य' पद का टीकाकार ने प्रसन्नी कृत्य पूजयित्वा अर्थ किया है (अभिषेक पाठ संग्रह पृष्ठ 163) इससे पूजा का अर्थ प्रसन्न करना भी हो जाता है।

इस तरह अर्चन या पूजा शब्द का अर्थ सर्वत्र अष्ट द्रव्य से पूजन करना ही नहीं होता है किन्तु द्रव्य क्षेत्र काल भावानुसार विविध अर्थ हो जाते हैं। प्रकरणानुसार संगत अर्थ ही लेना चाहिये।

सोमदेव सूरि ने 'यशस्तिलक चम्पू' आश्वास 8 में लिखा है :–

देवं जगत्त्रयीनेत्रं, व्यन्तराद्याश्च देवताः।
समं पूजाविधानेषु, पश्यन्दूरं व्रजेदधः ॥2.0॥
ताः शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे।
अतो यज्ञांश दानेन माननीयाः सुदृष्टिभिः ॥241॥

अर्थात्—सर्वज्ञदेव अरिहत और व्यंतरादि देवताओं को पूजा विषय में जो समान देखता है वह नीचे-नरक में दूर तक जाता है अर्थात्–सातवें नरक के नीचे जो निगोदस्थान है वहां तक का पात्र होता है ॥240॥

वे व्यन्तरादि देवता शासन की रक्षा के लिये आगम में कल्पित किये गये हैं अतः सम्यग्दृष्टि उन्हें (जिनपूजार्थ) पूजाद्रव्यभाग देकर सम्मानित प्रसन्न करे ॥241॥

इसमें व्यन्तरादि देवों की पूजा तो दूर पूजा की दृष्टि मात्र को नरक-निगोद का स्थान बताया है।

जिस तरह सुभौम चक्रवर्ती ने व्यन्तर देव के बहकावे में आकर जल में नमस्कार मंत्र लिख उसे मिटा दिया था और जिससे वह सातवें नरक में गया था तो जो व्यन्तर-पूजा (मिथ्यात्व सेवन) करते हैं वे तो निश्चय ही नरक निगोद के पात्र होंगे इसमें कोई संशय नहीं। इसी से स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है :–

न सम्यक्त्व समं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत् तनुभृताम् ।34।

अर्थात्—प्राणियों के लिये तीन काल और तीन लोक में सम्यक्त्व के समान दूसरा न तो कोई हितकारी है और न मिथ्यात्व के समान कोई दूसरा अहितकारी है।

ऊपर श्लोक 241 में सोमदेव ने कल्पित शासनपालों को जिनपूजार्थ पूजाद्रव्य देना बताया है स्वयं उनको पूजना नहीं बताया है अगर उन्हें ऐसा बताना इष्ट होता तो वे "माननीयाः" की बजाय "पूजनीयाः" शब्द का प्रयोग कर सकते थे। किन्तु ऐसा है नहीं, सोमदेव ने तो यशस्तिलक चम्पू के आश्वास 6 श्लोक 139 से 142 में सूर्य को अर्घप्रदान करना यक्षादि की सेवा पूजा करना इनको स्पष्ट मूढता—मिथ्यात्व बताया है[17]।

इन्द्र शासनदेवादि का आह्वान और उन्हें अर्घ-समर्पण जिनपूजा ही के लिये करता है इसकी अभिव्यक्ति जिन यज्ञ कल्प (आशाधार कृत) अध्याय 3 के निम्नांकित श्लोकों से भी अच्छी तरह होती है :–

प्रभु भक्तु मिहागत्य प्राचीं चिन्वन्निज श्रिया ।
बलिं विजययक्षेश मंत्रपूतां स्वसात्कुरु ।।196।
नकाषाचीमलंकृत्य भजमानो जगत्पतिम् ।
यथार्हबलिसंतुष्टो वैजयंत जयं तनु ।।197।
देवाधिदेवसेवार्थं प्रतीचीं दिशमास्थितः ।
बलिदानेन संप्रीतो जयंत जय दुर्जयान् ।।198।।

इनमें कहीं भी पूजाद्रव्यों से यक्षों को पूजित करने की बात नहीं लिखी है किन्तु जिनेन्द्र की पूजा के लिये दिये गये पूजाद्रव्यों से उनका संतुष्ट होना लिखा है।

प्रश्न—जिनयज्ञकल्प अपरनाम प्रतिष्ठा सारोद्धार यानि आशाधर प्रतिष्ठापाठ के अध्याय 3 श्लोक 50 में अच्युतादेवी के लिये "प्रणौमि" (नमस्कार करता हूं) यह कैसे लिखा है? इसी तरह श्लोक 192 में अनिल दिग्पाल के लिये भी 'प्रणौमि' (नमस्कार करता हूं) कैसे लिखा है?

उत्तर—जैन ग्रन्थ उद्धारक कार्यालय बम्बई से वि. सं. 1974 में मुद्रित प्रति का पाठ गलत है। हमने आमेर शास्त्र भंडार की वि. सं. 1590 की प्राचीन हस्तलिखित प्रति मंगाकर देखी तो उसमें 'प्रणौमि' की जगह 'पृणामि' (संतुष्ट करता हूं) शुद्ध पाठ मिला है।

देवदेवियों की पूजा भक्ति की रूढिवश अविवेकी प्रतिलिपिकरों ने ऐसे गलत पाठ बना दिये हैं। शुद्ध पाठ पृणामि (संतुष्ट करता हूं) ही है इसकी पुष्टि उपरोक्त श्लोकों के आगे पीछे के श्लोक 54, 45 तथा 190, 191 में दिये 'प्रीणिताः', 'प्रमोदस्व', 'तर्पयामि', 'प्रीणयामि' पाठों से भी होती है। ये सब पाठ भी 'सन्तुष्ट करता हूं' इस अर्थ के ही वाचक हैं।

'अभिषेक पाठ सग्रह' पुस्तक में जितने अभिषेक पाठ दिये हैं उनमें एवं अन्य अभिषेक पाठों में तथा प्रतिष्ठादि ग्रन्थों में जो अनेक मंत्र यंत्र दिये हैं उन सब में सिर्फ पंच परमेष्ठी वाचक नामों के आगे ही नमः शब्द का प्रयोग किया गया है चतुर्णिकाय देवों के लिये कहीं भी नमः शब्द का कोई

प्रयोग नहीं किया गया है इन देवों के लिये तो सिर्फ स्वाहा शब्द का प्रयोग किया गया है।[18]

देवसेन कृत "भावसंग्रह" गाथा 443 से 470 तक सिद्ध चक्र यंत्र, शांति चक्र यंत्र, पंचपरमेष्ठी चक्र यंत्रों का वर्णन है इन सब में बताया है कि-मध्य में ॐ अर्हद्भ्यो नमः इत्यादि लिखकर पंचपरमेष्ठी का स्थापन करना चाहिये और उनके परिकर रूप में भवनत्रिक देवों के लिए 'ॐ देवदेव्यै स्वाहा' लिखकर देवों का स्थापन करना चाहिये इनमें कहीं भी देवदेवियों के लिए नमः शब्द का कोई प्रयोग नहीं किया गया है। गाथा 468 में इन सब यंत्रों को स्पष्टतया पंचपरमेष्ठी वाचक ही बताया है (कहीं भी देव देवी यंत्र मंत्र नहीं बताया है) देखो :—

ए ए जंतुद्धारे पुज्जइ परमेट्ठिपंचमहिहाणे।
इच्छइ फलदायारो पाव घण पडल हंतारो ॥468॥

अर्थात्—ये यंत्रोद्धार पंचपरमेष्ठी वाचक हैं इनकी पूजा करने से इच्छानुसार फल की प्राप्ति होती है तथा पापरूपी बादलों के पटल विनष्ट हो जाते हैं।'

महापुराण में जिनसेनाचार्य ने पीठिकादि अनेक मंत्र लिखे हैं उनमें कहीं भी शासनदेवों का नामोल्लेख तक नहीं है। वहां अरिहंत सिद्ध ऋषिवाची मंत्रों के आगे तो 'नमः' शब्द का प्रयोग किया है और सुरेन्द्र निस्तारकादि मंत्रों के आगे सिर्फ 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग किया है कहीं भी नमः शब्द का प्रयोग नहीं किया है। स्वाहा आह्वान के लिये है और नमः पूजन के लिये है।

'स्वाहा' शब्द का प्रयोग करने से बहुत से लोग ऐसा समझते हैं कि-अग्नि में आहुति देना उन देवों की पूजा करना है किन्तु ऐसा नहीं है। स्वाहा और आहुति शब्दों का अर्थ आह्वान करना,[19] स्मरण करना है इस क्रिया की बाह्याभिव्यक्ति के लिए जल में भी अग्नि में द्रव्य अर्पण किया जाता है अथवा ठूणे आदि में पुष्पक्षेपण किया जाता है यह पूजा नहीं है किन्तु आह्वानमात्र है।

'स्वाहा' शब्द का प्रयोग मंत्र की पूर्ति के लिए भी होता है यानि आखिर में 'स्वाहा' लिखकर उस मंत्र की समाप्ति की सूचना दी जाती है यथा—ॐ ह्रीं श्रीपीठं स्थापयामि स्वाहा। ॐ ह्रीं कलशोद्धरणं करोमि स्वाहा। (अभिषेक पाठ संग्रह, पृ. 42-44)

इस विषय में विशेष जिज्ञासुओं को "महावीर जयन्ती स्मारिका 1970" में प्रकाशित हमारा लेख—"पीठिकादि मंत्र और शासनदेव" देखना चाहिये।

प्रश्न—अकृत्रिम चैत्यालयों की पूजा में लिखा है—"वंदेभावन व्यन्तरान् द्युतिवरान् कल्पामरान् सर्वगान्" इसमें चतुर्णिकाय देवों को नमस्कार बताया है। यह कैसे ?

उत्तर—यह पाठ ही अशुद्ध है शुद्ध पाठ जैन सिद्धांत भवन, आरा आदि ग्रंथ भंडारों की हस्तलिखित प्रतियों में इस प्रकार है :—

"वंदे भावन व्यंतर द्युतिवर स्वर्गामरावासगान्"। अर्थात् भवनवासी व्यंतर, ज्योतिष्क और कल्पवासी देवों के आवासों में विद्यमान अकृत्रिम चैत्यालयों को नमस्कार हो। पूजा का नाम भी "कृत्रिमाकृत्रिम चैत्यालय पूजा" है पूजा के अंत में जो मंत्र भाग दिया है उसमें भी यही नाम दिया है देखो —"ॐ ह्रीं त्रिलोकसंबंधि कृत्रिमाकृत्रिम चैत्यालयेभ्योऽर्घं निर्वपामीति स्वाहा"। कहीं भी चतुर्णिकाय देवों की वंदना-पूजा नहीं बताई है। किन्तु सर्वत्र चतुर्णिकाय देवों के निवास स्थानों में विद्यमान अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना-पूजा बताई है। उपर्युक्त पूजा के श्लोक नं. 3 और 5 में भी पुनः यही प्ररूपण किया है :—

वनभवन गतानां दिव्यवैमानिकानां।
जिनवरनिलयानां भावतोऽहं स्मरामि ॥3॥
.................व्यंतरे स्वर्गलोके।

ज्योतिर्लोकेऽभिवंदे भवनमहितले यानि चैत्यालयानि।।

यही बात 'मंगलाष्टक' के श्लोक नं. 7 में बताई है देखो—

ज्योतिर्व्यन्तर भावनामरगृहे ...

जिनगृहाः कुर्वन्तु ते मंगलं ।।7।।

चैत्य भक्ति में भी देखो—

भवनविमान ज्योतिर्व्यंतर नरलोक विश्व चैत्यानि ।
त्रिजगदभिवंदितानां वंदे त्रेधा जिनेन्द्राणाम् ।।8।।

प्रश्न—'जिनयज्ञ कल्प' अध्याय 4 श्लोक 217 में लिखा है—सर्वाणि सैष निहृताद् दुरितानि नोऽर्हन् ।। अर्थात्—वे अरहंत हमारे सब पापों को नष्ट करें। इसी तरह श्लोक 216 में शासन देवता के लिए भी लिखा गया है कि–'निवारयंती दुरितानि नित्यं'। इससे शासन देवता की पापनाशकता यानि पूज्यता सिद्ध होती है।

उत्तर—श्लोक 216 में 'दुरितानि' का अर्थ 'पाप' नहीं है किन्तु 'विघ्न' है। अर्थात्—शासन देवता को विघ्न निवारण करने वाली बताया गया है इसी से श्लोक 217 की तरह निहृताद् (नाश करें) क्रिया का प्रयोग न करके श्लोक 216 में निवारयंती (दूर करने वाली) साधारण क्रिया का प्रयोग किया है।

अगर शासन देवता को पापनाशिनी माना जायेगा तो वह बिल्कुल संगत नहीं होगा क्योंकि इन देवों के स्वयं के ही पाप (कर्म बंध) नष्ट नहीं हुए हैं तो ये दूसरों के पाप कैसे नष्ट कर सकते हैं। यह पापनाश अर्थ तो जिनेन्द्र के ही साथ संगत होगा। शासन देवता के साथ तो विघ्ननिवारण अर्थ ही संगत होगा।[21]

आशाधर ने तो शासन देवों को कुदेव और अवंद्य लिखा है देखो 'अनगार धर्मामृत' अध्याय 8—

श्रावकेणापि पितरौ गुरु राजाप्यसंयताः ।
कुलिंगिनः कुदेवाश्च न वंद्यासोऽपि संयतैः ।।52।।

(स्वोपज्ञ टीका–कुदेवाः = रुद्रादयः शासनदेवतादयश्च)

यह श्लोक 'मूलाचार' अ. 7 गाथा 95 के अनुसार बनाया गया है, इस गाथा की संस्कृत टीका में वसुनंदि सैद्धांतिक ने भी नाग यक्षादि समग्रदेव जाति को अवंद्य बताया है।

आशाधर ने 'सागारधर्मामृत' अध्याय 3 श्लोक 7 में लिखा है कि—दर्शनिक श्रावक आपत्ति आने पर भी उसके निवारण के लिये शासनदेवतादि की कभी भी उपासना नहीं करता। सिर्फ पंचपरमेष्ठी की ही शरण ग्रहण करता है। (अर्हदादि पंच गुरु चरणेषु अन्तर्दृष्टि यस्य स आपदाकुलितोऽपि–दर्शनिकस्तन्निवृत्यर्थं शासनादेवतादीन् कदाचिदपि न भजते)

प्रतिष्ठासारोद्धार में भी आशाधर ने लिखा है :—

नाभेयाद्यापसव्यपार्श्वं विहितन्यासांस्तदाराधकान् ।
अव्युत्पन्नदृशः सदैहिकफल प्राप्तीच्छयार्चन्ति यान् ।।
127।। अध्याय 3

(अर्थात् - ऋषभादि तीर्थंकरों के दायें पार्श्व में स्थित और तीर्थंकरों के भक्त ऐसे शासन देवों को कमजोर श्रद्धा वाले नासमझ लोग ही लौकिक फलाकांक्षा से पूजते हैं)

अव्युत्पन्नदृशां शांतक्रूरैहिक फलार्थिनां ।
मंत्रवीर्य प्रकाशार्थं मंत्रवादे स दर्शितः ।।43।।
अध्याय 6

अर्थात्—शासन देवताओं की प्रतिष्ठापना मंत्रबीज के प्रकाशनार्थ मंत्र शास्त्रों में ही बताई गई है इनकी उपासना तामसी लौकिक फलाकांक्षी जिन्हें सम्यक्त्व पैदा नहीं हुआ है ऐसे अविवेकी मनुष्य ही करते हैं।

भगवत्कुन्दकुन्द ने मोक्षपाहुड में लिखा है—

कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च वंदए जोदु ।
लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सोहु ।।92।।

(अर्थात्—भयादि से भी जो कुदेव कुधर्म कुगुरु की वंदना करता है वह मिथ्यादृष्टि होता है)

इसकी श्रुतसागरी टीका में यक्षादि को कुदेव के अन्तर्गत लिया है और उन्हें अवंद्य बताया है।

सपरावेक्खं लिंगं राई देवं असंजदं वंदं ।
मण्णइ मिच्छादिट्ठी ए हुमण्णइ सुद्ध सम्मत्ती । 93

अर्थात्—कुगुरु, रागी देव और असंयमी को जो वंदनीय मानता है वह मिथ्यात्वी है शुद्ध सम्यक्त्वी नहीं।

बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 41 की ब्रह्मदेवजी कृत टीका में लिखा है :—

"रागद्वेषोपहतार्तरौद्रपरिणत क्षेत्रपाल चंडिकादि मिथ्यादेवानां यदाराधनं करोति जीवस्तद्देवमूढत्वं न च ते देवा किमपि फलं प्रयच्छंति। कथमितिचेत् ? रावणेन रामलक्ष्मण विनाशार्थं बहुरूपिणी विद्यासाधिता कौरवैस्तु पांडव निर्मूलनार्थं कात्यायनी विद्या साधिता कंसेन च नारायणनाशार्थं बह्व्योऽपि विद्या साधिता। ताभिः कृतं न किमपि रामपांडवनारायणानां। तैस्तु यद्यपि मिथ्या देवता नानुकूलिताः तथापि निर्मल सम्यक्त्वोपार्जितेन पूर्वकृतपुण्येन सर्वं निर्विघ्नं जात मिति ॥

अर्थात्—रागीद्वेषी आर्त्तरौद्र परिणामी क्षेत्रपालादि मिथ्यादेवों की जो जीव आराधना करता है वह देवमूढ है। ये मिथ्यादेव कुछ भी लाभ नहीं पहुंचा पाते। यह कैसे ? यह ऐसे कि—रावण ने राम-लक्ष्मण के विनाश के लिये बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की, कौरवों ने पांडवों को खतम करने के लिये कात्यायनी विद्या सिद्ध की, और कंस ने श्रीकृष्ण को मारने के लिये बहुत सी विद्यायें सिद्ध की किन्तु वे विद्यायें राम-पांडव-श्रीकृष्ण का कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकी। इसके विपरीत राम पांडव श्रीकृष्ण ने इन मिथ्या विद्या देवताओं की कोई आराधना नहीं की तो भी उनके निर्मल सम्यक्त्व और पूर्वकृत पुण्य से उनके सर्व कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो गये।

प्रश्नः—तब फिर शुभचन्द्रकृत पांडवपुराण के पर्व 20 में अर्जुन द्वारा शासन देवता की आराधना और उससे सहायता की प्रार्थना का वर्णन कैसे किया गया है ? देखो—

स्थितस्तत्र स धैर्येण दध्यौ शासनदेवतां। आराधितो मया धर्मो जिनदेवः सुसेवितः ।82।

गुरुश्च यदि प्राकट्यं भज शासनदेवते। इति ध्यायन् जिनं चित्ते स्थितोऽसौ स्थिर मानसः ।83।

उत्तर इन श्लोकों का पूरा अर्थ इस प्रकार है—

"अर्जुन वहां (चबूतरे पर) धैर्यपूर्वक बैठ गया और शासनदेवता को इस प्रकार सम्बोधन किया कि अगर मैंने धर्म का आराधन किया हो, अर्हन्त और गुरु की सेवा की हो तो तू प्रकट हो। फिर स्थिर मन से जिनेन्द्र का ध्यान करने लगा।"

इसमें शासनदेवता की कोई आराधना नहीं बताई है। आराधना तो धर्म की और सेवा अर्हन्त गुरु की तथा ध्यान जिनेन्द्र का बताया है। अर्जुन ने शासनदेवता से सहायता की भी याचना नहीं की है। आगे के श्लोक 85–86 में बताया है कि शासनदेवता ने प्रकट होकर अर्जुन से कहा कि मैं तुम्हारी किंकर हूं मेरे लिए जो आदेश हो वह बताओ।' इससे शासनदेवता अर्जुन की सेवक सिद्ध होती है अर्जुन उसका सेवक नहीं।

प्रश्न—पूज्यता संयम से होती है और देवगति में संयम होता नहीं अतः सभी चतुर्णिकाय के देव अपूज्य हैं तो फिर अग्नित्रय और निर्वाण क्षेत्रादि में संयम हेतु न रहने पर भी पूज्यता कैसे है ? अगर यह कहा जाय कि महापुरुषों के संसर्ग[31] से अग्नित्रय और निर्वाण क्षेत्रादि पूज्य हो जाते हैं जो सदा तीर्थंकरों के पास रहने वाले, जिनभक्त, जिनशासनरक्षक शासनदेव क्यों पूज्य नहीं ?

उत्तर—यहां सचेतन से अचेतन की तुलना की गई है इससे विरोध विषमता पैदा हो गई है। पूज्यता में संयम हेतु सचेतन (पंचेन्द्रिय) की अपेक्षा से बताया है अचेतन (स्थावर) की अपेक्षा से नहीं। जिस प्रकार पत्थर की प्रतिमा अचेतन-असंयमी होने पर भी प्रतिष्ठित पूज्य भगवान् हो जाती है किन्तु कोई सचेतन-देव नारकी पशु गृहस्थ मनुष्य भगवान पूज्य नहीं होता क्योंकि अचेतन शुद्ध वस्तु में ही सकल्प सद्भाव स्थापना होती है सचेतन (पंचेन्द्रियादि अशुद्ध) में नहीं। एक म्यान में जैसे दो तलवार नहीं समाती उसी तरह शासनदेवों में यक्षत्व (असंयम) और पूज्यत्व (संयम) दोनों कभी नहीं रह सकते एक यक्षत्व ही रहेगा। सफेद कागज पर कुछ भी लिखा जा सकता है लिखे हुए पर नहीं। सोमदेव ने भी यशस्तिलकचम्पू में लिखा है—संकल्पोऽपि दलफलोपला दिष्विव न समयान्तर प्रतिमासु विधेय:। यत:

शुद्धे वस्तुनि संकल्प: कन्याजन इवोचित:
नाकारान्तर संक्रांते यथा पर परिग्रहे ।23।।
अष्टम आश्वास

(संकल्प पत्रफल पत्थरादि में ही होता है दूसरों की प्रतिमाओं में नहीं। जिस तरह कन्या ही में पत्नी का सकल्प होता है क्योंकि वह शुद्ध है दूसरों की विवाहिता में पत्नी का संकल्प नहीं होता) इसी तरह पार्श्वनाथ की मूर्ति तो पूज्य मानी जाती है किन्तु किसी मनुष्य देवादि को पार्श्वनाथ भगवान मानकर नहीं पूजा जाता। लोक में भी देखा जाता है कि किसी देश के राजा की मूर्ति (स्टेच्यू) बनाकर सम्मान करे तो राजा उस पर खुश होता है किन्तु किसी पुरुष को उस देश का राजा मानकर कोई राज्य व्यवहार करे तो वह राजा द्वारा दंडनीय होता है।

अग्निमय और निर्वाणक्षेत्रादि शुद्ध होने से उनमें तीर्थंकरों के संसर्ग से पूज्यता का प्रवेश हो जाता है किन्तु यक्षदेव पर्याय (असंयमी) अशुद्ध होने से उनमें तीर्थंकरों के सानिध्य से भी पूज्यता नहीं आती यह तो द्रव्य-स्वभाव है इसमें कोई कुछ नहीं कर सकता। हीरे का पत्थर शाण पर चढ़ाने से चमकदार रत्न हो जाता है किन्तु साधारण रत्न लाख शाण पर चढ़ावो कभी चमकदार रत्न नहीं होता।

नवदेवों में सजीव पंच परमेष्ठी अलग बताये हैं। और उनकी अचेतन मूर्ति तथा—मंदिर अलग बताये हैं तीनों पूज्य बताये हैं किन्तु नवदेवों में न तो कोई देवगति का देव बताया है और न उनकी कोई मूर्ति और मंदिर बताये हैं अतः शासनदेव साक्षात् हों चाहे उनकी कोई मूर्ति और उनका कोई मंदिर हो तीनों कभी भी पूज्य नहीं हैं। उनको पूज्य मानना जिन शासन की बगावत है।

पास में रहने से जैसे नौकर मालिक नहीं होता अथवा गंगा में बहने वाली मछलियां और मगर पवित्र नहीं होते उसी तरह शासन देव भी पूज्य पवित्र नहीं होते। इसी तरह भक्ति और रक्षण हेतु में भी कोई दम नहीं है यह तो तिर्यंच और मनुष्य भी करते हैं इसी से शासनदेवों को पूज्य माना जायेगा तो फिर तिर्यंच मनुष्य सभी पूज्य हो जायेंगे। अतः किसी भी युक्ति और प्रमाण से शासन देव पूज्य सिद्ध नहीं होते। उनकी पूज्यता के लिए आजतक जितने युक्ति और प्रमाण दिये गए हैं वे सब युक्त्याभास और प्रमाणाभास हैं—सब गलत और मिथ्या हैं।

प्रश्न—वसुनंदिप्रतिष्ठासार संग्रह में लिखा है—

नंद्यावर्त्त प्रदीपं च दिशास्वष्टासु पूजयेत् ।।
अध्याय 6

कृत्वा महोत्सवं तत्र पूजयेत् कुम्भ पंचकं ।।34।।
अध्याय 3

इनमें नंद्यावर्त्त, प्रदीप और पंचकुंभों को पूजने की बात लिखी है यह कैसे ?

उत्तर—इन श्लोकों के आगे लिखा है "इति मंगलद्रव्य स्थापनं" इससे पूजन का तात्पर्य इन मंगलद्रव्यों के स्थापन से है आगे के श्लोकों में भी स्पष्ट 'निवेशयेत्, विन्यसेत्, स्थाप्याः' शब्दों के प्रयोग किये गए हैं जिससे सिद्ध है कि इन मंगल-द्रव्यों को यथास्थान स्थापित करना ही उनका पूजन है। श्लोक 34 में पूजयेत् के स्थान में 'पुंजयेत्' पाठ भी संभव है जिसका अर्थ होगा—5 कलशों को (पंचघटों को) एक जगह (एकत्र) रखें।

प्रश्न—महापुराण पर्व 24 में आठध्वजाओं को जलगंधादि द्रव्यों से पूजना बताया है देखो—

ततो द्वितीय पीठस्थान् बिभौरष्टौ महाध्वजान्।
सोऽर्चयामास संप्रीतः पूतैर्गंधादिवस्तुभिः ॥20॥

यह कैसे?

उत्तर—मूल में जलद्रव्यों का वाची कोई शब्द नहीं है अतः जलादि अष्टद्रव्यों से ध्वजाओं को पूजना सिद्ध नहीं होता। मूल में तो पवित्र गंधादि (सुगंधित) द्रव्यों से पूजना बताया है जिसका तात्पर्य यह है कि ध्वजाओं के पास सुगंधित द्रव्य रखे गए जिससे वह स्थान सुरभित हो गया।

ध्वजा धर्मचक्रादि का अन्य रूप से भी पूजन सत्कार करे तो भी वह आपत्तिजनक नहीं है क्योंकि ये तीर्थंकर की समवशरण विभूति के अंग होने से धार्मिक क्षेत्र में आ जाते हैं अतः संमान्य समादरणीय हो जाते हैं।

प्रश्न—एक मुद्रित 'वसुबिंदु प्रतिष्ठापाठ' है जिसे जयसेन प्रतिष्ठापाठ भी कहते है इनके कर्त्ता का सही नाम क्या है? यह कितना प्राचीन ग्रंथ है?

उत्तर—इस प्रतिष्ठापाठ के अन्त में लिखा है—

वासवेन्दुरिति प्राहुस्तवादि गुरवो मतः।
जयसेन पराख्यां मां तन्नमोऽस्तु हितैषिणां ॥926॥

इस श्लोक में ग्रंथकर्त्ता का नाम वासवेन्दु = वासवचन्द्र (वासव + इन्दु) दिया है यह सही नाम है वसुबिन्दु जो प्रचलित नाम है वह बिलकुल गलत है। वासवेन्दु नाम योगीन्दु (योगिचन्द्र) कुमुदेन्दु (कुमुदचन्द्र) नामों की तरह उन्हीं की शैली का चन्द्रान्त नाम है। वासवेन्दु का अपर नाम इस श्लोक में जयसेन भी दिया है। इसी से इस ग्रंथ का नाम जयसेन प्रतिष्ठापाठ भी प्रसिद्ध है।

आशाधर ने अपने प्रतिष्ठापाठ के अध्याय 2 में 'महर्षि पर्युपासन के अन्तर्गत दिगम्बर वासवेन्दु को भी अर्घप्रदान किया है देखो—

प्रभाचन्द्रं रामचन्द्रं वासवेन्दु मबाससं ॥115
वीरांग जातानर्घेण सर्वान् संभावयाम्यह ॥116

ये वासवेन्दु उक्त प्रतिष्ठापाठ के कर्त्ता ही ज्ञात होते हैं अतः ये आशाधर (13वीं शती) से पूर्व के प्राचीन ग्रंथकार हैं। ग्रंथ की रचनाशैली बड़ी सुन्दर और प्रसादमयी है इस ग्रंथ की शुद्ध प्राचीन हस्तलिखित प्रति की खोज होनी चाहिये।

भवनवासी, व्यंतर ज्योतिष्क ये 3 भवनत्रिक देव कहलाते हैं। दिग्पाल शासनदेव इन्हीं में से हैं। त्रिलोकसार गाथा 450 में लिखा है कि—

जो जीव विपरीत धर्म पालते हैं, अग्निजलादि से मरते हैं, भोगाकांक्षा से धर्माराधन करते हैं, कष्ट पूर्वक मरते हैं, पंचाग्नि आदि कुतप करते हैं, सदोष चारित्र पालते हैं, वे इन भवनत्रिकों में जन्म लेते हैं। (और वहां भी अपर्याप्त काल में तो सभी नियम से एक मिथ्यात्व दशा में ही रहते हैं)

तिलोयपण्णत्ती अध्याय 3 गाथा 204 में बताया है कि—

तीर्थंकर-संघ-आगमादि से प्रतिकूल मति रखने वाला दुर्विनयी, मायाचारी जीव किल्विष जाति के भवनत्रिकों में जन्म लेता है। सम्यक्त्वी जीव भवनत्रिकों में कभी जन्म नहीं लेता।

शासनदेवों को न पूजे तो कोई हानि नहीं है। जहां इनकी पूजा की गई है वहां भी विघ्न हुए हैं। और जहां इनकी पूजा नहीं की गई है वहां भी सब

कार्य सिद्ध (सफल) हुए हैं तब फिर इनकी पूजा रूपी मिथ्यात्व के सेवन करने में क्या लाभ और क्या समझदारी ? अर्थात् कुछ भी नहीं ।

बिना पूजन नमस्कार किये ये शासनदेवता रक्षणादि नहीं करते हों ऐसी भी कोई बात नहीं है । वे तो सम्यक्त्वी व्रती पुरुषों के गुणों से आकृष्ट हो स्वयं उनकी सेवा करते हैं यह इनकी ड्यूटी ही है । इनकी पूजा सेवा करना तो इन्हें रिश्वत देना है जो देने लेने वाले दोनों के लिये जिनशासन में जुर्म है ।

एक तरफ तो यक्षादिक को तो शासनदेवता—रक्षक माना जाता है और दूसरी तरफ इन्हीं भूतप्रेत व्यंतर नवग्रहादि के उपद्रवों की शांति के लिए शांति विधान किए जाते हैं । यह विडंबना और परस्पर विरुद्धता कैसे ? इससे भी शासनदेव पूजा में कोई तत्त्व (तंत) सिद्ध नहीं होता इसी से विद्वज्जनबोधक खंड 1 पृष्ठ 209 से 214 में शासन देवों का आह्वान विसर्जन तो माना है किन्तु पूजन नमस्कार का निषेध किया है जो योग्य है ।

फिर भी शासनदेवों को पूज्य और इनकी पूजा को विधेय माना जायेगा तो निम्नांकित आपत्तियां खड़ी होंगी :—

(i) सौधर्मेन्द्र बना मुख्य पूजक अपने से हीन और किंकर भवनत्रिक देवों की पूजा कैसे करेगा ? तथा स्वयं अपनी भी पूजा कैसे करेगा[23] ?

(ii) तप-ज्ञान-मोक्षादि कल्याणकों में इन्द्रादि-देव आते हैं समवशरण में भी सब देव बैठे रहते हैं तब वहां तो इन्द्र ने शासनदेवतादि की पूजा कहीं की नहीं । प्रथमानुयोगादि किसी ग्रंथ में ऐसा नहीं लिखा है तब यहां ही उनकी पूजा कैसे संभव है ?

(iii) अगर देवदेवियों की पूजा का विधान ग्रंथकारों को इष्ट होता तो वे अर्हंतपूजा के बाद इनकी पूजा का कथन करते अर्हंतपूजा के पूर्व नहीं ।

(iv) कल्याणक महोत्सव तो जिनेन्द्र का और सर्वप्रथम पूजा देवदेवियों की यह तो स्पष्ट ही विरुद्ध और असंगत क्रिया है । यह तो "विवाह किसका और गीत किसके" इस कहावत को चरितार्थ करता है ।

(v) इन्द्र के पास द्रव्यों की कोई कमी नहीं थी जो वह अर्हंतपूजा के द्रव्य में से ही इन देव-देवियों की पूजा करता । अगर उसे देवदेवियों की पूजा ही करनी होती तो वह अलग प्रबंध कर सकता था ।

(vi) देवदेवियों के लिये जो "इदं नैवेद्यं गृहाण" (यह नैवेद्य ग्रहण करो) लिखा है सो जैनधर्म में तो देवों के कवलाहार नहीं बताया है उनके तो मानसिक अमृत आहार बताया है । अतः देवदेवियों को नैवेद्यादि ग्रहण कराना और वे नैवेद्यादि ग्रहण करते हैं (उपात्त बल्यर्चना ।।108।। नित्यमहोद्योत, लब्धभागा यथाक्रमं ।। विसर्जनपाठ) ऐसा अर्थ प्रकल्पित करना सिद्धांत विरुद्ध और असंगत है[24] ।

जिस तरह पायजामा के उपयोग से अजानकार पाजामा के दोनों हिस्सों को पैरों में न डालकर हाथों में डाल ले और मध्य भाग को कमर में न डालकर गले में डाल के बांध ले वही उलटी हालत आज अनेक क्रिया कांडों के सही विधान को नहीं समझने के कारण हो रही है । इससे परस्पर विसंवाद बढ़ रहे हैं और शास्त्रों में अनेक असंगतियां, पूर्वापरविरुद्धता एवं अप्रमाणता उत्पन्न होकर जैनाचार्यों के कथनों पर अश्रद्धा बन रही है । यही हालत शासनदेव - पूजा के संबंध में है । शासनदेवों को अर्घसमर्पण का अब तक ठीक सुसंगत अर्थ ग्रहण न हो पाने से ही इस विषय में भी अनेक विसंवाद और असंगतियां प्रवर्त्तमान हैं अतः हमने जो पूर्व में शासनदेव पूजा का रहस्यार्थ (शासनदेवों द्वारा अर्हंतपूजा यानि देवताओं का

आह्वान और उन्हें अर्घसमर्पण जिनपूजार्थ ही होता है) बताया है उसे ग्रहण करने पर किसी भी प्रकार की कोई भी आपत्तियां कतई नहीं उत्पन्न होती। और सब कथनों की सहज संगति होजाती है। इससे न सांप मरे न लाठी टूटे' वाला काम हो जाता है। एवं सब विसवाद समाप्त हो जाते हैं और इस विषय में प्रायः किसी ग्रंथ को अप्रमाण[25] करने की भी जरूरत नहीं रहती।

कुछ भाई यह सोचते हैं कि—दूसरे धर्मों के कुदेवों को नहीं पूजकर अपने धर्म के कुदेवों को पूजा जाय तो क्या हानि है? किन्तु यह सोचना बहुत ही भूलभरा है क्योंकि जहर दूसरों के घर का खावो चाहे अपने घर का खावो वह तो मृत्यु को ही प्राप्त करायेगा। इनके सिवा शास्त्रों में यह नहीं बताया है कि—अमुक देव तो जिन शासन के हैं और अमुक देव अन्य शासन के ही बताये हैं।

जैनधर्म में शिथिलाचार और मिथ्यात्व[30] को कोई स्थान नहीं है क्योंकि नाव में छोटा सा भी छिद्र हो जाने पर उससे धीरे-धीरे पानी भर कर नाव ही डूब जाती है उसी तरह छोटी सी भी शिथिलता आगे भयंकर रूप धारण कर लेती है।

अपनी धुरी से डिगने पर मनुष्य को अनेक संकट उठाने पड़ते हैं जैसे—लक्ष्मणरेखा से बाहर निकलने पर सीताजी का हरण हुआ और रामचन्द्रजी व रावण में महान् युद्ध हुआ जिसमें असंख्य प्राणी मारे गये।

अतः जिस तरह क्षुधानिवृत्ति के लिए कोई भी समझदार जहर नहीं खाता और भ्रष्ट ग्रंथों के कथन से विष्टा ग्रहण नहीं करता उसी तरह विवेकियों का कर्त्तव्य है कि—वे भी किसी भी दृष्टि से शासनदेव पूजा रूप मिथ्यात्व का कभी सेवन नहीं करें।

अन्त में विद्वानों और पाठकों से प्रार्थना है कि—वे इस निबंध पर पूर्ण गंभीरता के साथ विचार करने की कृपा करें और उन्हें यह उचित एवं उपयोगी प्रतीत हो तो वे इसका प्रचार प्रसार करें।

इस विषय में किन्हीं को किसी भी प्रकार की शंका उत्पन्न हो तो वह इस निबंध को आद्योपान्त पुनः पढ़ने का कष्ट करें उनकी शंका का समाधान इसी में से उन्हें स्वतः हो जायेगा फिर भी कदाचित् समाधान न हो तो वे हमें लिखकर पूछ सकते हैं हम तत्काल उन्हें उत्तर देंगे।

उपासना नैव विना विवेकं।
विन गमं नैव विवेकभानुः।
ततो विवेकाय सदागमानां।
रहस्यलाभे सततोद्यमी स्याः॥

---

1. देखो पद्मपुराण, अभिषेकपाठसंग्रह आदि। सभी अभिषेक पाठों में रक्षण, विघ्ननिवारण के लिये दिग्पालों (लोकपालों) का ही आह्वान किया गया है शासन देवों का कहीं कोई नामोल्लेख तक नहीं किया गया है।

2. क्षेत्रपाल, लोकपाल दिग्पाल की तरह इनका नाम भी शासनपाल रखा जाता तो ज्यादा अच्छा रहता फिर शासनाधिष्ठाता रूपक कोई प्रश्न या भ्रम ही उत्पन्न नहीं होता।

3. जयतु (लोट्लकार) की जगह यहां जयति (लट्लकार) का प्रयोग क्यों है? क्या जयति कोई अव्यय है? समाधान—ऐसे प्रयोग अनेक पाये जाते हैं देखो—(1) जयति भगवान् हेमांभोज (2) तज्जयति परंज्योतिः (3) जयंति ते जिनाः येषां। इनमें 'जयति' और जयति' अव्यय नहीं है किन्तु ये जयतु और जयन्तु के स्थान में प्रयुक्त किये गये हैं। ऐसा ही एक प्रयोग

पुरुषोत्तम देव कृत "त्रिकाण्डशेष" ग्रंथ के मंगलाचरण में है-जयंति सतः कुशलं प्रजानां। इसकी टीका में शीलांकाचार्य ने लिखा है-"जेस्तुबन्त्योस्तिबन्ती" इत्यनुशासनात् अन्तुस्थाने अंति। अर्थात् 'जि' धातु के तु और अन्तु के स्थान में क्रमशः ति और अंति भी होते हैं। यह नियम सिर्फ 'जि' धातु के ही लिये है और उसमें भी लोट्लकार के प्रथम पुरुष के एक वचन और बहुवचन के लिये ही है।-यह व्याकरण शास्त्र का नियम है।

4. सिद्धं सिद्धट्ठाणं ठाणमणोवम सुहं उवगयाणं। कुसमय विसासणं जिणाणं भव जिणाणं ॥1॥ सम्मति सूत्र की इस मंगल-गाथा में भी शासन शब्द का प्रयोग शास्त्र अर्थ में ही किया गया गया है। ऐसा ही वसुनंदि श्रावकाचार गाथा 387 और 389 में है।

5. बारह अंग गीजा दंसण तिलया चरित्त वत्थ धरा, चोदह पुव्वाहरणा ठावेयव्वा य सुयदेवी ।.391॥ वसुनंदि-श्रावकाचार

6. छिलकों का सेवन पशु करते हैं मनुष्य नहीं। मनुष्य तो फलों का सेवन करते हैं उसी तरह शासनदेवों की सेवा-पूजा मूढ़ अविवेकी करते हैं। सम्यक्त्वी-विवेकी नहीं। विवेकी तो जिनेन्द्र की ही सेवा-पूजा करते हैं। अनाज के साथ भूसा और कंकर भी होते हैं साथ होने से वे कभी ग्राह्य नहीं होते-ग्राह्य तो अनाज ही होता है। भूसा कंकर नहीं, यही स्थिति शासन देवों के साथ समझ लेनी चाहिये।

7. जटासिंह नंदि कृत वरांग चरित (8वीं शती का) प्राचीन ग्रन्थ है उसके पर्व 23 में जिन बिम्ब प्रतिष्ठा विधि का विस्तृत वर्णन है उसमें भी कहीं दिग्पाल-शासनदेवादि का आह्वान और उनका पूजन कतई नहीं बताया है।

8. चतुर्णिकायामर संघ एष आगत्य यज्ञे विधिना नियोगं।
स्वीकृत्य भक्त्याहि यथार्हं देशे सुस्था भवन्त्वाह्निक कल्पनायां ॥1॥
महपूजासु जिणाणं कल्लाणेसु य पजंति कप्पसुरा ।।554 त्रिलोकसार।
देवा सर्वेऽच्युतान्तर विकुरुत सुतनूः क्ष्मामिमामेत शान्त्यै ।।8।। नित्य महोद्योत "जिन यज्ञ कल्प" अं. 3 श्लोक 1

तद्वन्मैशानमुख्या कृततदवभृथस्नातयोऽन्यैपि चार्यां। 4॥
पंचकल्याणकादि में जिन-पूजार्थ देवगणों के आने की बात तिलोयपण्णत्ती महापुराणादि बीसों ग्रन्थों में भी लिखी है किन्तु किसी में उन देवताओं की पूजा करने की बात कहीं भी नहीं लिखी है।

9. एते तेति त्वरितं ज्योतिर्व्यन्तर दिवौकसाममृत भुजः।
कुलिश भृदाज्ञापनया कुर्वन्त्यन्ये समंततो व्याह्वानम् ॥12॥ नंदीश्वर भक्ति
इसकी प्रभाचन्द्र कृत टीका में लिखा है कि-देवों का आह्वान अर्हत्पूजार्थ किया जाता है देखो- (देवा कुर्वन्ति व्याह्वानं शब्दं अर्हत्पूजार्थं इन्द्राज्ञया।

10. आशाधर कृत 'नित्यमहोद्योत' (श्रुतसागर कृत टीका) में लिखा है —
पूजापात्र करात्रतः सरमुपेत्यो पात्त बल्यर्चनाः ॥108॥
(टीका-पूजापात्राणि करेषु येषां ते पूजापात्रकरास्तेः अग्रतः सरः पुरोगामिनो यस्मिन्नु पायन कर्माणि तत्तथोक्तं, उपेत्य – आगत्य, उपात्तबल्यर्चनाः – उपात्त गृहीतं बल्यर्चनं पूजोपहारपूजनं यैस्ते उपात्तबल्यर्चनाः।

11. अगर पूज्य अर्थ लिया जायेगा तो उन द्रव्यों को पूजना अर्थ हो जायेगा और आगे की क्रिया से भी उसका अर्थ जुड़ेगा।

12. जिस प्रकार जिन पूजा में "अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा" लिखा गया है ऐसी भवनत्रिक देवों के अर्घ्य समर्पण में कहीं भी नहीं लिखा है वहां तो "इन्द्र अर्घ्यं गृह्णीध्वं। इदं नैवेद्यं प्रति गृह्यतां" अर्घ्यं गृह्णीध्वं। इदं नैवेद्यं प्रति गृह्यतां" ऐसा साधारण लिखा है। जिसका अर्थ यह अर्घ्यादि ग्रहण करो है। वह अर्घ्य नैवेद्य ग्रहण भी पूजार्थ ही होता है।

13. नेमिचन्द्र प्रतिष्ठातिलक में भी इसी बात को शासन देवियों के विशेषण रूप में इस प्रकार लिखा है "सर्वज्ञयज्ञ सहकारितां प्राचंरतीनां"।

ज्वलद्दर्भपूलानलेन भूमिं ज्वालयेत्। इति भूमिशोधनं (अभिषेक पाठ संग्रह पृष्ठ 146)

ॐ नमोऽर्हते भगवते पवित्रतर जलेन पीठप्रक्षालनं करोमि।

14. किसी ग्रंथकार ने यज्ञ धातु के पर्यायवाची रूप में अर्च, पूजा, मह आदि धातुओं का भी कहीं प्रयोग कर दिया हो तो उसका भी यही (दान, संगतिकरण ही) अर्थ लेना चाहिये, अष्ट द्रव्य पूजा रूप अर्थ नहीं क्योंकि चतुर्णिकाय देवों के साथ यह असंगत और असमीचीन है।

15. ज्वद्दर्भपूलानलेन भूमिं ज्वालयेत्। इति भूमि शोधनं (अभिषेक पाठ संग्रह पृ० 146)

16. ॐ नमोऽर्हतेभगवते पवित्रतर जलेन पीठ प्रक्षालनं करोमि।

किसी ग्रंथकार ने यज्ञ धातु के पर्यायवाची रूप में अर्च पूजा यह आदि धातुओं का भी कहीं प्रयोग कर दिया हो तो उसका भी यही (दान, संगतिकरण ही) अर्थ लेना चाहिये, अष्ट द्रव्य पूजा रूप अर्थ नहीं क्योंकि चतुर्णिकायदेवों के साथ यह असंगत और असमीचीन है।

17. सूर्यार्घोग्रहण-स्नानं""रत्नवाहन भू यक्ष शस्त्र शैलादि सेवनं। एवमादि विमूढानां ज्ञेयं मूढमनेकधा ॥139-142॥

18. अगर भूले भटके गलती से चतुर्णिकाय देवों के लिए कहीं 'नमः' लिखा मिल जाये तो उसे प्रमाण नहीं मान लेना चाहिये क्योंकि वह पूर्वाचार्यों से सम्मत नहीं है। प्रतिलिपिकारों के प्रमाद व अज्ञान से ही ऐसी गलतियां-अशुद्ध पाठ हो जाते हैं। प्राचीन शुद्ध प्रतियों से उन्हें ठीक कर लेना योग्य है।

19. सुष्ठु आहूयंते देवा अनेन इति स्वाहा।

20. नेमिचन्द्रकृत 'प्रतिष्ठा तिलक' अध्याय 7 पृ. 276 में भी ऐसा ही बताया है देखो—

भवनज वनजानां ज्योतिषां कल्पजानां, मणिमयनिलयस्था येऽर्हमिन्द्रालयस्थाः।

बहुविभव युताः हि ये च मध्ये त्रिलोकी जिनपति निलयांस्तांस्तांश्च सर्वान्महामि॥

21. शास्त्रों में भी विघ्ननिवारण के रूप में ही इनका वर्णन किया गया है।

22. पावनानि हि जायन्ते स्थानान्यपि सदाश्रयात्।

सद्भिरध्युषिता धात्री सपूज्येति किमद्भुतम्॥

कालायसं हि कल्याणं कल्पते रसयोगतः॥ —क्षत्र चूड़ामणि (लम्ब 6)

इक्षो विकार रस पृक्त गुणेन लोके, पिष्टोधिकं मधुरतामुपयाति यद्वत्।

तद्वच्च पुण्य पुरुषै रुषितानि नित्यं, जातानि तानि जगतामिह पावनानि॥

—निर्वाणभक्ति (पूज्यपादकृत)

23. इस आपत्ति का उत्तर यह दिया जाता है कि—"पूजा में जो इन्द्र बना है वह स्थापना निक्षेप से है इसलिए वह यह भी नहीं भूल जाता कि—भावइन्द्र की पूजा मुझे करनी है"। इस उत्तर में 'सौधर्मेन्द्र अपने से हीन अकल्पिक देवों की पूजा कैसे करेगा' इस आपत्ति का कोई उत्तर नहीं दिया गया है इसे छोड़ दिया गया है क्योंकि इसका कोई उत्तर ही संभव नहीं है। आपत्ति के दूसरे भाग का जो उत्तर दिया गया है वह भी ठीक नहीं है वह भी आपत्तिजनक है क्योंकि—भावइन्द्र चतुर्थ गुणस्थानी ही है और भावपूजक श्रावक पंचम गुणस्थानी है। पंचम (उच्च) गुणस्थानी भावइन्द्र (नीचे के गुणस्थानी) की कभी पूजा नहीं कर सकता। इस तरह इन्द्र भी चाहे भाव से हो चाहे निक्षेप से हो वह अपने से हीन देवों की और स्वयं अपनी कभी भी पूजा नहीं कर सकता।

24. प्रति प्रश्न:—अर्हन्त प्रभु भी कवलाहारी नहीं है तब उनके नैवेद्य क्यों चढ़ाया जाता है?
प्रत्युत्तर—न तो अर्हन्त को नैवेद्य ग्रहण कराया जाता है और न किसी शास्त्र में ऐसा लिखा है कि—वे नैवेद्य ग्रहण करते हैं। "क्षुधारोग विनाशाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा" यह मंत्र बोलकर अर्हन्त के सामने नैवेद्य चढ़ाया जाता है। इसमें नैवेद्य क्षुधा की तृप्ति के लिये नहीं है किन्तु क्षुधा के नाश के लिए है वह भी गृहाण (ग्रहण करो) इस रूप में नहीं है किन्तु निर्वपन (त्याग) रूप से है। अर्थात् पूजक अपने क्षुधा रोग के नाश के लिए जिनेन्द्र के सामने नैवेद्य का निर्वपन-त्याग करता है। इसमें जिनेन्द्र के साथ नैवेद्य आदि का कोई संबंध नहीं है वे तो सिर्फ एक तरह से साक्षी रूप में हैं।

25. जिन शास्त्रों में शासन देव-पूजा लिखी है अब तक उन शास्त्रों को अप्रमाण मान कर शासनदेव पूजा का निषेध किया जाता रहा है किन्तु हमने इस निबंध में उन शास्त्रों को अप्रमाण करार न करके उन शास्त्रों के रहस्यार्थ को प्रकट करने का प्रयत्न किया है।
वैसे शास्त्रों को अप्रमाण करने का प्रयत्न 'चर्चा सागर' (पांडे चंपालाल जी कृत) में भी किया गया है वहां पृष्ट 5 में रविषेण कृत पद्म पुराण को काष्ठासंघी और अमान्य बताया है इसी तरह पृष्ठ 482 में पांडे रूपचंद कृत पंच मंगल को भी काष्ठा संघी और अमान्य बताया है। इस संबंध में पृष्ठ 444 में लिखा है कि--इन जैनाभासों के ग्रंथ सम्यग्ज्ञानियों को श्रद्धान करने योग्य नहीं है।

26. मिथ्यात्व को प्रथम गुणस्थान में माना है इससे वह गुण-कोटि में आता है फिर उस का निषेध क्यों? उत्तर-मिथ्यात्व वास्तव में गुण रूप नहीं है उसे पुद्गल की अपेक्षा से जीव का गुण माना है। जीव की अपेक्षा तो वह सब अवगुणों की जड़ है उसके रहते जीव में कोई गुण प्रस्फुटित नहीं हो सकते उसका मोक्ष मार्ग ही बंद हो जाता है उससे बढ़ कर जीव का कोई शत्रु नहीं है। दूसरी बात यह है कि—जिस तरह सोना खान से अशुद्ध ही निकलता है उसी तरह इस जीव के साथ भी शुरू से ही मिथ्यात्व लगा रहता है वह एकतरह से जीव की मूल प्रकृति रूप हो जाने से जड़ की अपेक्षा गुण मान लिया गया है वस्तुतः वह जीव का मल और विकार ही है। उसके हटाने पर ही जीव में धर्म का प्रारंभ होता है।

वीर निर्वाण वंदना

□ निर्मला कुमारी जैन "लाकली"
स० माधोपुर

सुनलो बहनो कथा सुनाऊं, वीर प्रभु निर्वाण की।
जय जय जय सब मिलकर बोलो, महावीर भगवान की।।

छह महने पहले से बरसे, कुंडलपुर में रतन अपार।
और अनेकों अतिशय होते, देव थे करते जय जयकार।।
षाढ़ शुक्ल छट की तिथि को, जानो गर्भ कल्याण की ...सुनलो.......

उसी नगर के राय सिद्धारथ, रानी त्रिशला थी पटनार।
जिसकी कुक्ष से जन्मे वीरा, धन्य धन्य वह नार अपार।।
चैत सुदी १३ की तिथि को, जानो जन्म कल्याण की ...सुनलो.......

ब्रह्मचर्य को पालन करते, छोड़ चले सब घर का भार।
पंच मुष्टि में केश उखारे, नगन दिगम्बर वेश को धार।।
मगसिर दशमी कृष्ण की, जानों तप कल्याण की ...सुनलो.......

मोह शत्रु को जीत कर, लगे करम को काटने।
कर्म रिपु को दूर भगाया, द्वादश तप करतार ने।।
दशमी शुभ वैशाख की, जानों ज्ञान कल्याण की ...सुनलो.......

दे उपदेश भविक जन तारे, विपुला चल के शीश पर।
समवशरण में इन्द्र सहित तब आया गौतम बुद्धि पर।।
मेघ गर्जनासम थी वाणी, जन जन के कल्याण की ...सुनलो.......

पावापुर के सुन्दर बन में, ध्यान धरा श्री वीर ने
"निर्मल" जल में शिव पद पाया, पांवापुर में वीर ने
कातिक कृष्णा मावस आई, जानों मोक्ष कल्याण की ...सनलो.......

धर्म अफीम अथवा अमृत ?

□ श्री कपूरचन्द जैन

[लेखक ने धर्म को अमृत रूप बताया है सो ठीक ही है। बाजार में आज नकली और स्वास्थ्य को हानि पहुंचाने वाली वस्तुओं की भरमार है। उसके लिये लेखक ने जो उपाय सुझाये हैं उनकी सफलता में यद्यपि सन्देह हो सकता है किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ न कुछ किये जाने की आवश्यकता अवश्य है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। —प्र० सम्पादक]

आजकल लोग धर्म को भूलते जा रहे हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो भ्रष्टाचारी शासन और दूसरे धर्म पर लोगों की श्रद्धा का न रहना। जब तक न्याय प्रिय तथा सशक्त राज्य न हो धर्म से रहना कठिन हो जाता है। ऐसे राज्य में गुण्डों की बन आती है और अधिकतर लोग उनके हाथों में खेलते हैं। आजकल रुपये के द्वारा इतने सुख साधन सुलभ हैं कि स्वर्ग के सुखों को भी मात करते हैं। शास्त्रों में लिखा है कि स्वर्ग में संयम का पालन नहीं हो सकता है; ऐसी सूरत मे यहां किस प्रकार हो सकता है ? सरकार को ऐसे अश्लील गानों पर जिनसे सैक्स उभरता है तथा ऐसे चलचित्रों पर भी जिनसे शील की दीवारें चरमरा जाती हैं- रोक लगा देनी चाहिए। इस प्रकार की रंगीन दुनियां में नौजवान किस प्रकार संयम निर्वाह कर सकते हैं ?

कम से कम विवेकशील लोगों से मेरा अनुरोध है कि वे धर्म के विषय में शंका न रखें। समझ सोच करके अपना धर्म के विषय में मत पक्का करलें। 'देखा जायगा' ऐसा विचार बड़ा ही खतरनाक है। इस जीवन के सुख अधिक से अधिक 100 वर्ष के हैं। आगे अनन्त जीवन है जिसमें 84 लाख जीवाजोन भुगतनी पड़ती है जिसमें निश्चित दारुण दुःख है। जब तक कि मोक्ष नहीं हो जाता, पुनर्जन्म अवश्य है। हजारों बच्चों ने अपने पिछले जन्म के बारे में बताया है वह सत्य पाया गया। एक लड़का जन्म से अंधा पैदा होता है और दूसरा सुआंखा एक गरीब के घर पैदा होता है और एक अमीर के। एक दुःख पाता है और दूसरा सुख। इसका कारण उनके पिछले जन्मों के कर्म हैं जिनके अनुसार उन्हें सुख दुःख इस जन्म में मिलता है और जो कर्म इस जीवन में किये जाते हैं उनका फल अगले जन्मों में भी मिलता रहता है। बिना पुनर्जन्म के माने कोई बात सही बैठती ही नहीं है। आखिर जन्म से ही एक सुखी और एक दुःखी किस कारण से होता है ? पुनर्जन्म के लिए देखिये 'कल्याण' का परलोक और पुनर्जन्मांक जनवरी 1969 ई.।

प्रकृति में 84 लाख प्रकार के जीवों में आत्मा तो एक ही जैसी है केवल शरीरों में भिन्नता है। जिसका कारण उनके भिन्न-2 प्रकार के कर्म हैं। जैसा जीव कर्म करता है वैसा ही वह शरीर तथा सुख दुःख पाता है। शरीरधारी के शरीर तो नश्वर है किन्तु आत्मा अमर है। प्रत्येक आत्मा के साथ एक दूसरा अति सूक्ष्म कार्माण शरीर लगा रहता है जो एक फिल्म के सदृश है जो मोक्ष होने से पहिले कभी नष्ट नहीं होता है और सदा मृत्यु के बाद भी आत्मा के साथ ही रहता है। जो कुछ जीव राग द्वेष सहित सोचता है, बोलता है अथवा करता है वह सब आत्मा के कार्माण शरीर की फिल्म पर निरन्तर अंकित होता रहता है। यह एक प्रकार का टेपरेकार्डिंग ही है जिसमें आवाज

तथा अक्ल दोनों चीजें होती हैं यह टेपरेकार्डिंग एक जन्म से दूसरे जन्म में चलता रहता है। जो कर्म फल देकर खिर जाते हैं वे टेप में से हट जाते हैं; बाकी के बिना फल दिये उसमें शेष रहते हैं। अतः हमारा पहला कर्तव्य है कि हम कोई भी काम राग द्वेष से नहीं करें; सरल परिणाम रखें और सदैव बिना किसी भेदभाव के अपना कर्तव्य पूरी निष्ठा से करें।

दूसरों के प्रति सर्वदा अच्छे भाव रखें, अच्छी वाणी बोलें, तथा श्रेष्ठ कर्म करें। यदि कोई मारने को आवे तो अपनी तथा अपने आश्रितों की रक्षा अवश्य करें? उस झगड़े में यदि कोई मर भी जावे तो उसके दोषी हम नहीं होंगे, चूंकि हमारे दिमाग में तो हिंसा का भाव था ही नहीं; केवल रक्षा का भाव था। यह हमारा कार्य अहिंसा कहलायगा अर्थात् हिंसा को दूर करना इस तथ्य को बहुत ही कम लोग समझते हैं।

डा. हुकमचन्द भारिल्ल ने अपनी पुस्तक 'तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ' पन्ना 191 पर द्वितीय पैरा की अन्तिम चार पंक्तियों में लिखा है कि जैन दर्शन का कहना है कि मारने का भाव तो हिंसा है ही, किन्तु बचाने का भाव भी निश्चय से हिंसा ही है, क्योंकि वह भी राग-भाव ही है, और राग चाहे वह किसी भी प्रकार का क्यों न हो, हिंसा ही है। ऐसा उनका लिखना सर्वथा आपत्तिपूर्ण है और जैन दर्शन के विरुद्ध है। उपरोक्त उक्ति उस समय की है जबकि आत्मा ऊंची श्रेणी में चढ़कर केवल ज्ञान की प्राप्ति के आसपास होती है; उस समय में जरा सा भी राग चाहे वह शुभ ही हो मिथ्यात्व में आता है और जहां मिथ्यात्व शेष है सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता। चूंकि वह पुस्तक सर्व साधारण गृहस्थियों के लिए लिखी गई है और जिसे साधारण आदमी पढ़ता है उसमें ऐसी उक्ति को स्थान नहीं देना चाहिए और यदि दिया भी जावे तो उसमें स्पष्ट उपरोक्त सूरत दर्शानी चाहिए थी।

गृहस्थियों के लिये तो ऐसा शुभ राग पुण्य बन्ध का कारण है, वह हिंसा की परिधि में नहीं आता है। और बिना पुण्य के गृहस्थी की गाड़ी एक पैंड भी नहीं चल सकती। यह है जैन धर्म का अनेकान्त। मैं आशा करता हूं कि डा. भारिल्लजी उक्त पुस्तक में उक्त सुधार कर लेंगे। धर्म तो मनुष्य को अधः पतन से बचाकर उत्तम सुख में धारण करता है। धर्म मनुष्य को संयम से रहना सिखाता है। धर्म साधना के लिए निम्न पांच बातों पर चलना अनिवार्य है :—

1. हिंसा मत करो अर्थात् किसी जीव को मत सतावो; अपनी तथा अपने आश्रितों की रक्षा करो। परस्परोपग्रहो जीवानाम्। जहां तक बन पड़े हिंसा को दूर करने के लिए प्रयत्न करो। इसके लिए संयम पालन करना अति आवश्यक है। संयम = यम के सहित। यम पांच हैं जिनका आजीवन पालन करना होता है। वे हैं अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। सभी लोग संयम का पालन करें। कभी आपने यह भी विचारा कि एक व्यक्ति के गलत कार्य करने के कारण सम्पूर्ण संसार का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। किसी एक की गल्ती के ही कारण युद्ध होते हैं और युद्ध में विजय पाने के लिए एटम बम्ब का आविष्कार हुआ। किसी न किसी दिन एटम बम्ब के द्वारा सर्वनाश सम्भव है। अतः पक्षपात को छोड़कर सही बातों का पता लगावें और दुनियां में शान्ति फैलावें।

मेरा विचार है कि इसके लिए जैन लोग पहल करें। 'अखिल भारतीय जैन संयम नियन्त्रक बोर्ड' की स्थापना की जावे जिसमें केवल संयमी आदमियों को ही स्थान दिया जावे। बड़े-बड़े शहरों में तथा कस्बों में शाखायें खोली जावें जहां कम से कम एक या अधिक दुकानें खोली जावें जहां कि

आम जनता को बिना किसी मिलावट के ताजा शुद्ध जीवनोपयोगी वस्तुयें उचित भाव पर आराम से मिल सकें। यदि इन दुकानों से ईमानदारी से तथा पूर्ण निष्ठा से काम किया तो जैन धर्म की अच्छी प्रभावना होगी। धीरे 2 हो सकता है कि सरकार भी इन दुकानों के माध्यम से कन्ट्रोल की खरीद फरोख्त कराये।

2. झूंठ मत बोलो। एक झूंठ को सत्य साबित करने के लिए सैंकड़ों झूंठ बोलनी पड़ती है। झूंठे आदमी का कोई विश्वास नहीं करता— स्वयम् झूंठे का मन डांवाडोल रहता है यदि जीवन में सफलता चाहते हो तो सत्य का सेवन करो।

सांच बराबर तप नहीं, झूंठ बराबर पाप।
जाके हिरदे सांच है, ताके हिरदे आप॥

3. चोरी मत करो बिना किसी की दी हुई चीज मत लो। वस्तुओं में मिलावट करना, कम या अधिक तोलना चोरी ही है। करोड़ों लोगों को चोर के भय से रात में गहरी नींद भी नहीं आती। इस बड़े पाप की जिम्मेदारी चोरों पर है तथा सरकार पर है।

जासु राज्य प्रिय प्रजा दुखारी,
सो नृप अवसि नरक अधिकारी।

4. कुशील का सेवन मत करो। इसमें पर स्त्री गमन तथा पर पुरुष गमन मना किया गया है। क्वांरी लड़की तथा क्वारे लड़कों और विधवा स्त्रियों तथा वेश्या आदि का भी सेवन मना है। कुशील सेवन से वीर्य अधिक नष्ट होता है बीमारी का भी डर है। टी. बी., कुष्ट आदि अधिकतर बीमारियां वीर्य की कमी तथा खराबी के कारण पैदा होती हैं। जिनका वीर्य शुद्ध तथा पुष्ट होता है उन्हें किसी प्रकार की छूत की बीमारी नहीं लगती। वीर्य से ही शरीर पुष्ट होता है तथा मस्तिष्क भी। कुशील सेवन करने वालों का मन अशान्त रहता है तथा उनका शरीर कृश (कमजोर) तथा दो चार घड़ी भी एक आसन लगाकर बैठने के अयोग्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में उनका मोक्ष के लिये साधना करना अति कठिन हो जाता है।

5. आवश्यकता से ज्यादा परिग्रह मत रखो। यदि इस बुराई को सब लोग छोड़ दें तो किसी भी वस्तु की कमी न रह जाय। लोग आवश्यकता से अधिक वस्तुयें संग्रह कर लेते हैं; उनके काम में तो बहुत थोड़ी ही आती है, बाकी की या तो नष्ट हो जाती हैं, सड़ जाती हैं तथा बेकार पड़ी रहती है। इस संग्रह की प्रवृत्ति के कारण वस्तुओं के भाव अनाप-शनाप बढ़ गये हैं। एक लड़की के दहेज में बीसियों साड़ियां दी जाती हैं, यह सब उचित नहीं है। दो साड़ियों से ज्यादा नहीं दी जानी चाहिए। बहुत सा सामान खरीदकर लड़की को देने से—उसमें से अधिकतर सामान तो व्यर्थ नष्ट होता ही है उस सामान के रखने के लिए एक कमरा रुक जाता है तथा लड़की के अभिभावकों पर वृथा बोझा डाला जाता है।

यदि पुनर्जन्म मान लिया जाय, जो एक वास्तविकता है, तो संसार के संपूर्ण मनुष्य, इस बात को विचारेंगे कि यदि वे इस जन्म में खोटे कर्म करेंगे तो उन्हें अगले जन्म में उन खोटे कर्मों के फल भुगतने पड़ेंगे और फलस्वरूप वे खोटे कर्म करने से बाज आयेंगे। मतलब साफ है कि इस तरह जो नापाक हरकतें संसार भर में कमोबेश की जा रही हैं, रुक जायगीं तथा संसार में अमन चैन आ जायगा। मौजूदा सूरत में, जबकि नवयुवक धर्म को अफीम जानकर और पुनर्जन्म को एक झूंठा हव्वा समझकर मनमानी ऐशो इशरत कर रहे हैं और संसार को भ्रष्ट किये जा रहे हैं, किसी भी सरकार का कानून, पुलिस तथा लाठी गोली के द्वारा देश के लोगों पर नियंत्रण रखना आसान नहीं है।

अतः सरकार को चाहिए कि वह सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन तथा प्रेस के द्वारा पुनर्जन्म को

सिद्ध करें और हमेशा करती रहे ताकि जन जन के मन में वैज्ञानिक तथ्य जैसी सही भावना जम जाये। दूसरे शराब तथा धूम्रपान बन्द करे। केवल संयमी स्त्री-पुरुषों को ही नौकरी में रखे असंयमियों की छटनी करदी जावे. जासूसों की एक पल्टन भरती की जावे जो कि सरकारी अफसरों तथा कार्य कर्ताओं की सही रिपोर्ट सरकार को समय 2 पर प्रस्तुत करें। किसी भी कार्यकर्ता को असंयमी पाकर उसे फौरन नौकरी से निकाल दिया जावे। जासूसों को (कैमरा+टेपरेकार्डर) दिये जावें। जो 150 मीटर की दूरी तक से असंमयियों की गतिविधि का चित्र लेकर उनका पर्दाफाश कर सकें।

धर्म का सारांश : जैन धर्म के अनुसार धर्म के मायने हैं जो धर्म का आचरण करने वालों को अध: पतन से बचाकर उत्तम सुख में स्थित करे। अर्थात् उन्हें संसार के दुखों से उबार कर मोक्ष प्राप्त कराये। सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः। अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक चारित्र तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग है।

यहां दर्शन के मायने दृष्टिकोण, जैसे जैन दृष्टिकोण, बौद्ध, सांख्य, वैष्णव, मुस्लिम दृष्टिकोण। सर्वश्रेष्ठ दृष्टिकोण (दर्शन) सम्यक दर्शन है। शास्त्रों में कहा है कि जिस व्यक्ति को सम्यक् दर्शन प्राप्त हो जाता है वह चाहे अव्रती ही हो फिर भी उसे स्वर्ग व देव नमस्कार करते हैं और कालान्तर में मोक्ष प्राप्त कर सकता है। मतलब साफ है कि जब तक आदमी को सर्व श्रेष्ठ दृष्टिकोण (दर्शन) ही प्राप्त नहीं हुआ अर्थात् सच्चा शास्त्र प्राप्त नहीं हुआ वह किस प्रकार सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकता है और सच्चे ज्ञान के बिना सच्चा चरित्र हो ही नहीं सकता। सच्चे सुख के इच्छुक है तो जैन धर्म के शास्त्रों का स्वाध्याय नित-प्रति करें। सर्व प्रथम जैन बनने के 8 मूल गुणों को धारण करें जो निम्न प्रकार हैं-

अणुव्रतों का पालन जो ऊपर बताये जा चुके है। और 3 मकार अर्थात् मांस मदिरा तथा मधु (शहद) का जीवन भर के लिये त्याग करें। बाकी व्रत जो जैन ग्रंथों में दी गई हैं उपरोक्त 5 व्रतों पर चलाने के लिए साधन मात्र हैं। जो व्यक्ति अटूट श्रद्धा से उक्त पांचों व्रतों को अपने जीवन में पालन करता है वह एक न एक दिन मोक्ष प्राप्त कर ही सकता है। जैन धर्म के अनुसार ईश्वर कर्ता नहीं है। ऊपर बताया ही जा चुका है कि जीव के कर्म ही कर्ता है तथा सुख दु:ख के देने वाले हैं। अत आप मूल गुणों को धारण करते हुए राग-द्वेष तथा मिथ्यात्व का त्याग करें। राग-द्वेष के कारण ही कर्मों का बन्ध हूता है। जहां जितने अंश में रागद्वेष है वहां उतने ही अंश में अज्ञान है। जब तक अज्ञान दूर नहीं किया जाता सम्यक ज्ञान किस प्रकार प्रकट हो सकता है। परिग्रह का ऊपरी त्याग कोई महत्व नहीं रखता। ममता ही परिग्रह है अर्थात् हम राग द्वेष से रहित होकर संसार में सुख से जीवन यापन करें 'न तो किसी को अपना मित्र समझें और न शत्रु। छल-कपट का भी त्याग करें। कोई भी काम मन से करें दिखावे मात्र के लिए नहीं। तप की भी आवश्यकता है। इन्द्रियाणाम् निग्रहो तप: अर्थात् पांचों इन्द्रिया तथा छठे मन पर अपना नियन्त्रण रखें यही तप है। शरीर को स्वस्थ रखने हेतु सर्वोत्तम कसरत जो आसन तथा प्राणायाम है उन्हें प्रतिदिन करें। नित प्रति प्रातः काल कम से कम 2 घड़ी सामाइक करें। जिसमें आलोचना, प्रतिक्रमण तथा पच्चखान (प्रत्या ख्यान) अवश्य करें। थोड़ी देर मन को एकाग्र करके ध्यान भी करें। नवकार मन्त्र की एक अथवा पांच माला फेरें। मेरी भावना का भी पाठ कर सकते है। नित प्रति बिना देव दर्शन किये भोजन न करें। तथा बन पड़े तो पूजन भी करें। रात्रि के समय भोजन न करें।

भगवान महावीर का निर्वाण शताब्दी वर्ष जैन समाज के लिये आत्म-चिन्तन का क्षण

□ श्री चन्दनमल 'चांद'

[गरीबी और दु:ख के हाहाकार में हाथी घोड़ों पर चढ़कर की गई जय-जयकार प्रिय नहीं लगती। निर्वाण महोत्सव मनाने का सही तरीका यह है कि दीन दु:खी के आंसू पोंछे जाय। उन पर दान का अहसान न लादते हुए उन्हें सहयोग और सहारा दिया जाय। करोड़ों रुपयों की राशि वैभव प्रदर्शन में खर्च न करते हुए सेवा के कामों में लगाई जाय। अवसरवादी भ्रष्ट राजनेताओं से दूर रहकर अकिंचन त्यागियों और सच्चे सेवकों का समादर किया जाय' ये हैं विद्वान् लेखक के विचार मगर..........?

—प्र. सम्पादक]

अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह के उद्घोषक महान त्यागी, तपस्वी भगवान महावीर का 2500वां निर्वाण महोत्सव राजसी ठाठबाट और वैभव से मनाया जा रहा है। देश भर में सभाएँ, जुलूस, हाथी-घोड़ों के बीच रजत-स्वर्ण-मंडित सिंहासनों पर भगवान महावीर की मूर्तियों का प्रदर्शन हो रहा है। जिलाधीश से लेकर प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति तक विविध सभाओं में महावीर के उपदेशों का केवल मौखिक यशोगान कर रहे हैं। ऐसा लगता है अपरिग्रह पर परिग्रह छा गया है। ऐसा दिखाई देता है मानों त्याग सत्ता के सहारे प्रसारित किया जा रहा हो। त्याग और तप की ऊँचाई को पहुंचने के लिए कहीं राजनीतिक वैशाखियों का सहारा लिया जा रहा है तो कहीं लक्ष्मी पुत्रों के द्वारा उसे वैभव के साथ लोगों को दिखाया जा रहा है। क्या सचमुच यही भगवान महावीर का निर्वाणोत्सव है? यह प्रश्न मेरे जैसे एक बौद्धिक साधारण व्यक्ति के मन में उठना सहज स्वाभाविक था।

भगवान महावीर ने स्वयं राज्य-सिंहासन छोड़ा, ऐश्वर्य और भोग को ठुकरा कर साधना एवं संयम स्वीकार किया। राज्य वैभव में पले वर्द्धमान संन्यासी बनकर 12॥ वर्षों तक संयम की कठोर साधना करते हुए क्षमा, धैर्य और शांति से आपदाओं, संघर्षों और उपसर्गों को सहन करते रहे। कैवल्य ज्ञान प्राप्त होने पर महावीर ने तीर्थ-स्थापना की और जनभाषा में जन-जन को शांति, सुख और सत्य का मार्ग दिखाया। तीर्थंकर महावीर की वाणी का मुख्य हार्द अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह था। महावीर वस्तुतः क्रांतिकारी थे जिन्होंने जीवन से लेकर अध्यात्म तक के क्षेत्र में एक वैचारिक और आचार पक्ष की क्रांति प्रस्तुत की। धार्मिक क्षेत्र में यज्ञ-बलिदान और हिंसा पर चोट की तो सामाजिक क्षेत्र में जातिवाद, वर्ण-व्यवस्था एवं वर्ग विषमता पर आघात किया। नारी-जाति के लिए ढाई हजार वर्षों पूर्व भगवान महावीर ने समता और समानता का मार्ग प्रशस्त करते हुए साधना के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण स्थान दिया। हाट-बाजारों में दासियों की भांति बेची जाने वाली नारी महावीर के साधना-मार्ग से महासती चन्दनबाला बनी।

उन्हीं भगवान महावीर को सारा राष्ट्र अथवा

समग्र विश्व इस वर्ष उनकी वन्दना अर्पित कर रहा है। क्योंकि महावीर किसी एक जाति, समाज, प्रान्त, प्रदेश के लिए नहीं, अपितु प्राणीमात्र के थे। उनका सन्देश सम्प्रदाय की सीमा में बंधा हुआ वर्ग विशेष के लिए नहीं बल्कि आकाश के समान विस्तृत और सूर्य के समान सबके जीवन को आलोकित करने वाला था। प्रत्येक महापुरुष के साथ उनके अनुयायियों द्वारा यह खिलवाड़ होता ही रहा है कि वे उन्हें सम्प्रदाय या सीमा में बांध कर अपनी सम्पत्ति समझने लगते हैं। महावीर के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ, मानना चाहिये। आज वर्तमान जैन समाज महावीर को केवल अपना आराध्य, अपना भगवान मानकर उन्हें मन्दिरों, स्थानकों और स्थान विशेष में ही कैद किये बैठा है। महावीर का त्याग स्वर्ण-मंडित मुकुटों, सिंहासनों में बन्दूकों और संगीनों के पहरे में कैद किया हुआ देखा जा सकता है। त्याग, संयम, तप की यशोगाथा गाने वाले महावीर के अनुयायी स्वयं परिग्रह, असंयम आदि में कितने लिप्त हैं यह कहने की आवश्यकता नहीं।

वस्तुतः भगवान महावीर का तत्वज्ञान अथवा सन्देश प्राणीमात्र के लिये हैं किन्तु जो जैन समाज भगवान महावीर को अपना आराध्य और उपास्य मानता है उसके लिये यह वर्ष आत्म-चिन्तन का महत्वपूर्ण वर्ष है। क्या भगवान को श्रद्धांजलि केवल शब्दों अथवा यशोगान से ही दी जा सकती है? प्रभु के गुणगान करना निसन्देह हमारी भक्ति और आदर का सूचक है। किन्तु भगवान महावीर ने स्वयं कहा है कि केवल भक्ति से कुछ नहीं हो सकता। उसके साथ शक्ति याने पौरुष को मिलाकर आचरण की आवश्यकता है। इसीलिये जैन दर्शन में मोक्ष मार्ग के लिये सम्यक्ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य त्रिरत्न बताये गये हैं। अतः अजैन समाज के मन पर निर्वाण-महोत्सव के भव्य कार्यक्रमों, राजनेताओं के साथ खींची गई तस्वीरों अथवा शोभायात्राओं से सही छाप नहीं पड़ सकती। जन-जन के मन पर छाप डालने का भी नहीं बल्कि अन्तर-चेतना को टटोलने का है। क्या चाबियों, पेपरवेटों, कलैण्डरों आदि पर भगवान महावीर की फोटुएं छाप कर ही हम अपने कर्तव्य की इतिश्री मान बैठे हैं? डाक्टर और उसकी दवाई की प्रशंसा करने से बीमारी नहीं मिट जाती बल्कि दवा सेवन के साथ ही साथ यथोचित परहेज भी करना पड़ता है। अतः आवश्यकता है जैन समाज भगवान महावीर के जीवन एवं दर्शन को प्रचारित अवश्य करे किन्तु स्वयं उन उपदेशों को व्यक्तिगत जीवन से लेकर सामाजिक और राष्ट्रीय क्षेत्र तक विकसित करे।

जैन धर्म के अनुयायी मुख्यतः व्यापारी हैं। हालांकि महाराष्ट्र और दक्षिण भारत में लाखों कृषक जैन भी हैं किन्तु अन्य लोगों के समक्ष जैन समाज का व्यापारी वर्ग ही उभर कर सामने आता है। जैन समाज के इस वर्ग की अपनी कुछ विशेषताएं हैं। राष्ट्रीय जीवन की धारा के साथ मिलकर चलना, सेवा और सहयोग के कार्यों में महावीर की करुणा के अनुरूप दिल खोलकर दान देना एवं सात्विक जीवन जीना आदि। ये गुण जैन समाज को विरासत में मिले हैं। किन्तु इसके साथ ही समाज का जो वर्तमान रूप है उसे भी दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। धन-लिप्सा की दौड़ में न्याय-अन्याय का विवेक किये बिना अर्थोपार्जन, फैशन एवं भोग-विलासमय जीवन, खान-पान का अविवेक आदि जिस कदर उभर कर सामने आ रहे हैं वह दूसरों को यह सोचने के लिये प्रेरित करता है कि क्या महावीर के अनुयायी ऐसे हो सकते हैं? जहां महावीर ने सन्यासियों के लिये परिग्रह को पूर्णतः त्याज्य एवं गृहस्थों के लिये परिग्रह-परिमाण की बात कही वहीं जैन समाज का साधुवर्ग अर्थ के चक्रव्यूह में फंसा हुआ है। श्रावक-वर्ग परिग्रह की कहीं सीमा न मानते हुए हर ऐसा कार्य कर लेना चाहता है जो चाहे राष्ट्रविरोधी

हो अथवा समाजविरोधी। क्या महावीर के साथ या उनके उपदेशों के साथ वह विडम्बना नहीं ?

भगवान महावीर ने शोषण और संग्रह को पाप माना किन्तु आज भी भारत में विशेषतः दक्षिण भारत में गिरवी का व्यवसाय करने वाले जैन समाज के व्यापारी ही मुख्य हैं। मैं यह नहीं कहता कि सभी गिरवी व्यवसायी जैन ही हैं किन्तु उनमें जितने भी जैन हैं क्या उनके लिये यह आत्म-निरीक्षण का वर्ष नहीं? अत्यन्त लाचार और दुःखी व्यक्ति अपनी धरोहर रखकर उधार मांगता है और हम उसकी मजबूरी का नाजायज फायदा उठाते हुये मनमाना ब्याज वसूलने में पाप नहीं मानते। चींटियों और पशु-पक्षियों पर दया करने वाला अहिंसक जैन समाज दुःखी मानव के लिये इतना क्रूर क्यों बन जाता है? लाभ और मुनाफा यदि एक सीमा तक रहता है तो किसी को कोई जरूरत नहीं। किन्तु यदि लाभ लोभ में बदल जाता है तो निसन्देह वह पाप माना जायेगा। खाद्य वस्तुओं में मिलावट, व्यापार में हेरा-फेरी, तोल-माप में कमी एव अन्य अनेक ऐसी व्याधियां व्यापारी वर्ग में इस कदर फैलती जा रही है उसके लिये एकमात्र वे ही जिम्मेदार नहीं है फिर भी भगवान महावीर के अनुयायी होने के नाते इस वर्ष उन्हें आत्मचिन्तन करना चाहिए।

भगवान महावीर का उपदेश यदि जैन समाज स्वयं अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के आचरण से प्रतिफलित नहीं कर सका तो इन उत्सवों, सभाओं एवं धूमधाम से कुछ भी कल्याण होने वाला नहीं है। जैसे अन्य महापुरुषों की जयन्तियां और शताब्दियां जलसों अथवा भाषणों तक ही होकर रह जाती है वैसा महावीर के साथ भी हो सकता है। भगवान महावीर के अनेकांत की दुहाई देने वाला जैन समाज यदि स्वयं संप्रदाय के टुकड़ों में बंटा हुआ एक दूसरे की आलोचना करता रहा तो दूसरे लोग न केवल जैन समाज की बल्कि अनेकान्त की ही मखौल करेंगे। बाह्य क्रिया काण्डों और वेश-परिधानों में भिन्नता होने के कारण यदि जैन समाज श्वेताम्बर और दिगम्बर के रूप में तीर्थों के मुकदमें लड़ता हो तो क्या वह अनेकान्त का मखौल नहीं? मुंह पर पट्टी रखनी चाहिए या नहीं, छोटी रखनी चाहिए या बड़ी, कपड़े पहनने चाहिए या नहीं आदि ऊपर की सामान्य बातों को लेकर झगड़ने वाला जैन समाज अनेकान्त का उपदेश दूसरों के लिये प्रसारित करे तो हास्यास्पद ही लगेगा।

भगवान महावीर ने अनेकान्त के माध्यम से समन्वय, सामंजस्य और उदारता की व्यापक दृष्टि दी, अहिंसा का पारलौकिक और लौकिक भेद करते हुये मुनियों तथा श्रावकों के लिये आचारसंहिता दी। इसी प्रकार अपरिग्रह, संयम और साधना से भी महावीर ने एकान्तिक दृष्टि न रखते हुये व्यक्ति की शक्ति, परिस्थिति और क्षमता के अनुसार उसे सन्तुलित रूप दिया। क्या भगवान महावीर का वह सन्तुलित दर्शन जैन समाज में है? सारा समाज भगवान महावीर के उपदेशों के आलोक में अपनी अन्तरात्मा का निरीक्षण करे। केवल वैभव और राजनेताओं अथवा आयोजनों से ही निर्वाण महोत्सव की संपन्नता न मानते हुये स्वयं के जीवन में अहिंसा का सही स्वरुप अनेकान्त की दृष्टि और त्याग को महत्व दे। गरीबी और दुःख के हाहाकार में हाथी-घोड़ों पर चढ़कर की गई जय-जयकार प्रिय नहीं लगती। निर्वाण महोत्सव मनाने का सही तरीका यह है कि दीन-दुखी के आंसू पोंछे जाय। उन पर दान का अहसान न लादते हुये उन्हें सहयोग और सहारा दिया जाय। करोड़ों रुपयों की राशि वैभव-प्रदर्शन में खर्च न करते हुये सेवा के कामों में लगाई जाय। अवसरवादी भ्रष्ट राजनेताओं से दूर रहकर अकिंचन त्यागियों और सच्चे सेवकों का समादर किया जाय। हमें आशा करनी चाहिए कि जैन समाज इस वर्ष अपना आत्म-निरीक्षण कर भगवान महावीर के जीवन एवं सन्देश से प्रेरणा लेगा और सही अर्थों में निर्वाण महोत्सव मनायेगा।

धर्म चक्र आया है

—नीरज जैन

जन पथ से जन पद तक
घर घर सतत प्रवर्तन करता।
महावीर सर्वोदय का
सबल समर्थन करता ॥
सह अस्तित्व लोक मंगल का
संदेशा लाया है।
धरा धन्य हो उठी द्वार पर,
द्वार पर धर्म चक्र आया है ॥

महावीर का जीवन–दर्शन

जहाँ अहिंसा से
आचरण-संहिता बंधी हुई है।
स्याद्वाद की मंजुलता से
वाणी सधी हुई है ॥
अनेकान्त का इन्द्र धनुष
चिन्तन ने जहां छुवा है।
महावीर का जीवन दर्शन
सार्थक वहीं हुवा है ॥

धार्मिक एवं सामाजिक उत्थान में पुरानी व नई पीढ़ी

☐ श्री कैलाशचन्द्र वैद्य
जयपुर

[यह बात अब छुपी नहीं रही है कि 2500वें महावीर निर्वाण महोत्सव वर्ष में जैसा काम देश और समाज में होना चाहिये था वैसा हुआ। नहीं शायद लेखक का यह लिखना ठीक ही है कि इस सम्बन्ध में बनी समितियों का निर्माण समाज के सहयोग से नहीं हुआ। वे समाज पर ऊपर से थोपे गये। जब कभी इस सम्बन्ध में आवाज उठी भी तो स्वार्थी तत्वों ने या तो उसे दबा दिया या झूंठे आश्वासन दिये गये। खेद की बात यह रही कि केन्द्र के नेताओं ने भी ऐसे तत्वों को प्रोत्साहन दिया जो कि स्वाभाविक था क्योंकि वे भी वहां वैसे ही पहुंचे थे और मौसेरे भाई वाली बात थी। हम नहीं समझते कि लेखक की इस पीड़ा भरी वाणी को कोई सुनेगा किन्तु फिर भी हम इसे प्रकाशित कर रहे हैं। प्र० सम्पादक]

भगवान महावीर के उपदेशों पर जो भी चले वो ही महावीर का अनुयायी कहलाने का अधिकारी है। भगवान महावीर प्राणीमात्र के थे। परन्तु इस भौतिक युग में जैन सम्प्रदाय के लोग यह मानते हैं कि भगवान महावीर केवल उनके हैं और केवल वे ही जैन धर्म के ठेकेदार हैं।

यह वर्ष भगवान महावीर के 2500वें परिनिर्वाण का वर्ष है जिसे समारोह वर्ष के रूप में मनाया जा रहा है। इसमें सरकार का पूर्ण सहयोग प्राप्त है। आधा वर्ष समाप्त हो रहा है किन्तु अभी तक कोई ठोस काम इस अवसर पर नहीं हुआ है। राजस्थान में ही नहीं अपितु समस्त देश में कई प्रकार की समितियां बनाई गई हैं इनमें भी कई प्रकार के खण्ड हैं। समितियों की बाढ़ सी आ गई है। स्थान-स्थान से इस समारोह के नाम पर पैसा एकत्र किया जा रहा है। राजस्थान भी इस दौड़ में पीछे नहीं रहा है।

राष्ट्रीयस्तर पर सरकार की ओर से एक केन्द्रीय समिति का गठन हुआ है जिसमें जैन समाज के पांचों सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व है। इस समारोह को एक रूप से मनाने की योजना बन जाने के बाद भी दिगम्बर व श्वेताम्बर सम्प्रदाय के लोग अलग-अलग ही मना रहे हैं।

पहले जब यह सुना गया था कि समस्त जैन इस मंगलमय वर्ष पर एक सूत्र में बन्ध जावेंगे परन्तु यह केवल समितियों-सभाओं व भाषणों तक ही सीमित रह गया और आशा दुराशामात्र ही रही। यह तभी सम्भव हो सकता था जब साम्प्रदायिक सौहार्द बढ़ता।

दिगम्बर सम्प्रदाय ने भारत भर में चार धर्मचक्र चलाये हैं जो चारों दिशाओं से प्रारम्भ हुये हैं और एक वर्ष तक समस्त भारत में घूमेंगे व धर्म प्रभावना करेंगे तथा भगवान महावीर के सिद्धान्तों को जन-जन तक पहुंचायेंगे। दिल्ली से रवाना होने वाला धर्मचक्र जयपुर आया व यहां पर उसकी सवारी केवल तीज गणगौर की सवारियों की भांति निकाली गई व मेला सा बन गया व धर्मचक्र 2-2॥ दिवस रुक कर आगे के लिए प्रस्थान कर गया। आज भी अधिकांश लोग यह नहीं जानते हैं कि उस धर्मचक्र का क्या महत्व था, केवल दर्शन करने व उसका भाव-भरा स्वागत समारोह कर लेने से कोई लाभ नहीं हुआ। धर्मचक्र समिति को चाहिये था

कि जिस प्रकार इसके भ्रमण का कार्यक्रम बनाया उसी प्रकार जन-जन तक धर्मचक्र में क्या-क्या है व इसका क्या महत्व है यह प्रचारित किया जाता। दैनिक समाचार-पत्रों में इसका पूर्ण विवरण होता तो उसका अधिक लाभ होता।

धर्मचक्र प्रत्येक प्राणिमात्र के लिए होना चाहिये था, परन्तु आयोजकों ने इसे भी अपने ही तक सीमित रखा। इस धर्मचक्र का संवाहक एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिये था जो कि भगवान महावीर का सच्चा अनुयाई होता, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। व स्थान-स्थान पर धर्मचक्र पर बैठने हेतु नीलामी लगाकर धर्मचक्र की भारी मजाक बनाई गई।

भगवान महावीर का सच्चा भक्त पैसे वालों की टक्कर से पीछे ही रह गया व पैसे वाले जो कि अपने आप को भगवान महावीर का अनुयाई कहलाने का अधिकार ही रखते हैं व नियमों का पालन नहीं करते वो ही आगे आये और अपने पैसे के बूते पर लम्बी-लम्बी बोलियां लगाकर धर्मचक्र पर बैठे और इस धर्म-प्रचार के माध्यम से धर्मचक्र को धन संग्रह का माध्यम बना दिया गया।

निर्वाण महोत्सव हेतु गठित समितियों में समाज के वो ही ठेकेदार व सेठियां लोग है, जो जैन धर्म व महावीर से अनभिज्ञ और परिग्रह के संवाहक हैं। इन समितियों में जैन विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों व समाज-सेवा करने वालों लोगों का प्रतिनिधित्व होना चाहिये था, लेकिन ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि ये समितियां चुनाव होकर नहीं बनाई गई। अपितु एक या दो व्यक्तियों की इच्छा पर बनी थीं। चुनाव कराने पर ऐसे लोगों को भय था कि हमारे कारनामों से जनता कहीं हमें ठुकरा न दे और हमारी कुर्सी छिन जाय।

युवा पीढ़ी समाज, राष्ट्र व विश्व की रीढ़ की हड्डी है जिसके सबल कंधों पर देश व राष्ट्र के नवनिर्माण का उत्तरदायित्व है। युवा पीढ़ी का अध्ययन करें तो हमें स्पष्ट पता चलता है कि आज का युवा वर्ग पुरानी पीढ़ी की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान है। उनमें समाज में कुछ कर दिखाने की तड़फ है। जिज्ञासा उत्साह व लगन है बशर्ते कि बुजुर्ग वर्ग कुछ कर दिखाने का अवसर दे। समितियों के गठन में युवा वर्ग की उपेक्षा धर्म से कटकर अलग-थलग सा पड़ गया है। इससे युवा वर्ग को किसी कार्य के करने का अवसर न मिलने के कारण उनकी उत्कण्ठ भावनाओं को व कुछ कर गुजरने की जिज्ञासा को ठेस लगती है। जिसका परिणाम होता है आपसी मन-मुटाव, झगड़े। फिर भी युवा वर्ग बड़े ही संयम से काम लेता है व बुजुर्गों को पूर्ण सहयोग देते हैं। युवकों को साथ न लेने का ही एकमात्र यह कारण है कि जहां समाज में एक दो संस्थायें थीं। आज दर्जनों के रूप में समितियां, संघ, मंडल आदि है। अगर बुजुर्ग युवा पीढ़ी को साथ रखते तो आज इतनी संस्थाओं की आवश्यकता ही नहीं होती व समाज की शक्ति तितर-बितर न होती—व एक महान शक्ति एक साथ होती।

परिनिर्वाण महोत्सव पर महिलाओं के लिए कोई कार्यक्रम नहीं बनाया गया है। भारतीय संस्कृति में नारी का अपना महत्व रहा है। नारी ही वह शक्ति है जो चाहे वो कार्य कर गुजर सकती है। भगवान महावीर ने नारी जाति को भी पुरुषों के समान ही अधिकार दिये थे। उन्हें पुरुषों से भिन्न नहीं माना। नारी स्वतन्त्रता की बात करने वाले लोगों को महावीर से प्रेरणा लेनी चाहिये। उन्होंने अपने शासन में साध्वियों को दीक्षा दी एवं भावना के मार्ग में समानता का मार्ग प्रशस्त किया। किन्तु आज हमारा समाज नारी को समानता का अधिकार देने को तैयार नहीं।

महिला वर्ग का निर्वाण महोत्सव के कार्यक्रमों में योगदान लिया जाता तो शायद इस वर्ष के होने वाले कार्यक्रम और अधिक सफल हो सकते। आज थोड़ा-बहुत धर्म का जो स्वरूप दृष्टिगोचर हो रहा

है वह आज नारियों के कारण है। (शायद लेखक भूल गए योजना निर्माता पुरुष थे ?)

सामाजिक कुरीतियाँ बटवृक्ष की तरह पनप रही है। विवाह जो पवित्र बन्धन माना जाता था, वो आज अभिशाप बना हुआ है। चारित्रिक पतन भी बढ़ता जा रहा है। जैनियों के बालक अण्डा, मांस आदि अभक्ष्य का सेवन करने लगे हैं रात्रि भोजन तो आज का फैशन बन गया है। उन्हें इस ओर से हटाने का कोई प्रयास नहीं किया जा रहा है। धार्मिक संस्कारों का अभाव है। इनके लिए संस्थाओं की ओर से कार्य प्रारम्भ होना चाहिये था लेकिन युवकों में सामाजिक व धार्मिक जागृति का कार्यक्रम हाथ में ले कौन ?

समाज के दायित्व प्रधान व्यक्ति वे ही है जो युवकों को आगे नहीं बढ़ने देना चाहते। भगवान महावीर का यह निर्वाण महोत्सव जितना सफल होना चाहिये था उतना नहीं हो पाया। राजस्थान की योजनाएं कागजों में ही रह गई—इन सबके पीछे बुजुर्ग कुर्सीधारी वह नेतृत्व है, जो अपनी गद्दी को नहीं छोड़ना चाहता चाहे वह उससे सम्बन्धित क्षेत्र हो या न हो ?

किसी भी कार्य को करने के लिए अधिकांश समितियां उन्हीं बुजुर्गों की बनती है जिनके पास न समय है और न ही कार्य करने की दिलचस्पी और शक्ति।

हमारे क्षेत्रों की प्रबन्ध समितियों में, मन्दिरों की व्यवस्था समितियों में व विभिन्न संस्थाओं में जो लोग बैठे हैं, वे आज हटना नहीं चाहते और नींव के पत्थर के समान उन्होंने अपने पांव जमा रक्खे हैं। राजनीतिक गुटों की तरह गुटबन्दियां बनाये हुये हैं। ये सदस्यतायें गद्दीवार व आजन्म होती है। इस 2500वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर तो समाज से ये परम्परायें समाप्त होनी चाहिये और नई परम्पराओं का श्रीगणेश होना चाहिये। सदस्यताओं के लिये यह नियम बनने चाहिये कि समितियों में वो ही सदस्य आवे जो श्रमण संस्कृति को समर्पित हों। अगर हमने यह कर लिया तो हमारी इन सामाजिक संस्थाओं का कलेवर ही पलट जावेगा व युवा पीढ़ी के मनों में जो आक्रोश है वो समाप्त हो जावेगा और वह धर्म पथ की ओर आकर्षित होगी। जिससे धर्म जीवित रह सकेगा।

भगवान की माता के सोलह—स्वप्न

☐ श्री घासीराम जैन "चन्द्र"

शिवपुरी

(शिवपुरी पंचकल्याणक प्रतिष्ठोत्सव में पठित)

आई पिछली रैन मंद भई निशि की अंधियारी।

देखे सोलह-स्वप्न नाथ मन अचरज है भारी ॥

देख धवल-गजराज सबल-तन-ऐरावत सोहै ।
उन्नत शुभ्र वृषभ सुन्दर प्रिय मेरे मन मोहै ॥

केहरि-केशर-वरण अरुण नख अद्भुत मनहारी ।
देखे सोलह-स्वप्न नाथ मन अचरज है भारी ॥

कमलासन पर कमला राजत कुंजर जल ढारैं ।
पुष्पमाल निरखी सुगंधमय अलिगण गुंजारें ॥

तारावलि-मंडित पूरण-शशि ज्योति-पुंज-धारी ।
देखे सोलह-स्वप्न नाथ मन अचरज है भारी ॥

दीप्त-दिवाकर अरुण-वरण छवि उदयाचल आये ।
कंचन-कलश युगल जल-पूरित कमल-पत्र छाये ॥

युगल-मीन जल डोलत देखी मंजु नयनहारी ।
देखे सोलह-स्वप्न नाथ मन अचरज है भारी ॥

केलि करें कलहंस सरोवर कमल पंक्ति छाई ।
तरल-तरंगित-सागर लेतीं लहरें अंगड़ाई ॥

सिंहासन मणि-रतन जड़ित कंचनमय अविकारी ।
देखे सोलह-स्वप्न नाथ मन अचरज है भारी ॥

अमर विमान लख्यौ कंचनमय रतनन उजियारे ।
फणपति भुवन मनोहर उज्ज्वल धवल कांति धारे ॥

निरखी रतन राशि ज्योतित जगमग उद्योतकारी ।
देखे सोलह स्वप्न नाथ मन अचरज है भारी ॥

अग्नि शिखा आकाश छू रही धूम रहित वन में ।
सुवरण वरण-विशाल वृषभ करता प्रवेश तन में ॥

कहो नाथ इनको फल मति-श्रुति-अवधि ज्ञानधारी ।
देखे सोलह-स्वप्न नाथ मन अचरज है भारी ॥

महावीर के गर्भहरण की कथा एक : अनुशीलन

□ श्री मूलचन्द पाटनी
बम्बई

भगवान महावीर के गर्भहरण को लेकर दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में पर्याप्त मतभेद है। दिगम्बर परम्परा में इस घटना का कोई जिक्र नहीं है जबकि श्वेताम्बर परम्परा के विद्वानों में भी इस सम्बन्ध में मतभेद है। भगवान महावीर के जीवन सम्बन्धित और भी बहुत सी घटनाएं ऐसी हैं जैसे ग्वाले द्वारा उनके कान में कीले ठोकना, चण्डकोशिक द्वारा उनके काटना, उनका तपस्याकाल में वस्त्र धारण करना आदि-आदि। इस लेख में महावीर के गर्भ सम्बन्धी घटना को लेकर जो विचार प्रकट किये हैं ऐसे ही विचार कुछ-कुछ आचार्य रजनीश ने भी अपनी पुस्तक में किये है।

प्र० सम्पादक

महावीर का गर्भ हरण एक अछेरा है, श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ऐसी मान्यता है। अछेरा का अर्थ है—आश्चर्यजनक घटना जो एक महापुरुष के जीवन में कालदोष से घट जाती है। यह ठीक है कि कालदोष से कोई बात तो संभव है, पर ऐसी बात नहीं जो असंभव हो। किसी का गर्भहरण एक असंभव बात है। अछेरा का आधार है– महावीर के गर्भहरण की कथा। उसका सार यह है कि "महावीर एक ब्राह्मणी के गर्भ में आए और देवताओं ने उस गर्भ को उठाकर क्षत्राणी के गर्भ में रख दिया"।

यह कथा पढ़कर कोई यही अर्थ निकालेगा कि महावीर के गर्भ के माता-पिता ब्राह्मण और जन्म और जन्म के माता पिता क्षत्रिय थे। इस तरह किसी के दो माताएं और दो पिता होने संभव नहीं। प्रश्न तो यह है कि एक साधारण व्यक्ति के जीवन में जो बात सम्भव नहीं वह एक सातिशय, पुण्य के धनी, तीर्थंकर–महावीर के जीवन में कैसे सम्भव हो सकती है? पुराण तो यह कहते हैं कि महावीर का जीव स्वर्ग से सीधा राजा सिद्धार्थ की प्रियदर्शिनी त्रिशला के गर्भ में आया। राजा सिद्धार्थ के घर में गर्भ-कल्याणक महोत्सव हुआ। अतः महावीर की माता त्रिशला और पिता राजा सिद्धार्थ थे। ऐतिहासिक तथ्य भी यही है। न तो यह कोई तथ्य है कि महावीर ब्राह्मणी के गर्भ में आए और न यह कोई तथ्य है कि वहां से फिर देवताओं ने हटाकर क्षत्राणी के गर्भ में रख दिया।

प्रश्न :–यदि गर्भहरण कोई तथ्य नहीं तो फिर कथा क्यों बनी ?

उत्तर :–कथा बिल्कुल ठीक और सरस है। उसके रचयिता बड़े काव्य कुशल कथाकार हैं। निःसंदेह कथा में तथ्य पर अनोखा काव्य चढ़ा है। कथाकार का तथ्य की अभिव्यक्ति का अपना अनोखा ढंग है। यदि तथ्यों पर काव्य नहीं चढ़ाया जाय तो तथ्य नीरस हो जाते हैं। यह स्मरणीय रहे—काव्य एक ऐतिहासिक तथ्य नहीं बन जाता; क्योंकि काव्य के शब्द कुछ और अर्थ कुछ और ही होता है। काव्य में छिपे तथ्य का उद्घाटन हर कोई के लिए आसान नहीं। इसके लिए काव्य को समझना आवश्यक है। हम प्रायः काव्य को नहीं समझ पाते। काव्य के शब्दों को ऐसी ना समझी से पकड़ लेते हैं कि काव्य का तथ्य हमारी समझ की पकड़ से बाहर हो जाता है। उस हालत में हम तथ्यों को तोड़ने मरोड़ने के आदी हो

जाते हैं। जैसे हम पवनपुत्र हनुमान के विषय में बड़े विश्वास के साथ कहते हैं कि उनमें अतुल बल था। इसीलिए उन्होंने पहाड़ उठा लिया था। हम उनको एक ऐतिहासिक तथ्य के रूप में हथेली पर पहाड़ उठाते हुए चित्रों में प्रदर्शित करते हैं। किन्तु हकीकत यह है कि हनुमान ने कोई पहाड़ उठाया ही नहीं था बात कुछ और ही थी। वह यह थी कि एक बार उन्हें एक पहाड़ पर से एक जड़ी बूंटी लाने को भेजा गया था। वे ढेर की ढेर जड़ी बूंटी उठा लाये। इस पर कहा गया कि हनुमान! तुम जड़ी बूंटी क्या लाये पहाड़ ही उठा लाये।" इस काव्य से हमने यह अर्थ निकाला कि हनुमान ने वास्तव में पहाड़ उठाया था। आज यह नासमझी से ऐतिहासिक सत्य बन गया।

कुछ दिन हुए गोरखपुर में कवि सम्मेलन था जिसके संचालक थे सूंड फैजाबादी। उसमें बेधड़क बनारसी भी शामिल हुए थे। सूंड फैजाबादी ने बेधड़क बनारसी के मूल नाम काशीनाथ को शंकर और स्वयं को गणेश मान कर पिताजी सम्बोधित किया। सूंड फैजाबादी ने बेधड़क बनारसी के गंजे माथे पर व्यंग कसते हुए कहा–देखो आज शंकर जटा विहीन होकर विराजमान हैं। इसके उत्तर में बेधड़क बनारसी ने सूंड फैजाबादी की ओर हाथ उठाते हुए कहा–तुम जैसा पाकर मेरे माथे पर बाल क्या सही सलामत रह सकते थे? इस बात को सुनकर समूचे सम्मेलन में जोर का कहकहा मच गया। इस काव्यात्मक संवाद के आधार पर आगे जाकर कोई इतिहासकार यह उल्लेख कर दे कि सूंड फैजाबादी बेधड़क बनारसी का पुत्र था तो उसका इतिहास ही गलत हो जायगा।

इसमें जरा भी सदेह नहीं यह अधेरा भी कथा के अर्थपूर्ण काव्य को यथार्थ न समझने का परिणाम बना है। जो अद्भुत व्यक्ति होते हैं। उनका अद्भुत ही काव्य होता है। अद्भुत व्यक्ति के विषय में ढेर के ढेर काव्य बन जाते हैं। महावीर भी एक अद्भुत व्यक्ति थे। कथाकार ने महावीर के जन्म की बड़ी सरस कथा बनाई है। इसमें कुछ बातों के संकेत हैं। पहला संकेत तो यह है कि महावीर और ब्राह्मण दोनों सत्य के खोजी हैं। किन्तु दोनों की खोज के मार्ग में जमीन आसमान का अन्तर है। क्षत्रिय का अर्थ है जीतना। जीतने के सिवा क्षत्रिय का अन्य कोई मार्ग नहीं। जीतने का एक ही सूत्र है श्रम। श्रमहीन लोगों को जीत नसीब नहीं होती। महावीर श्रमण परंपरा के के अंतिम तीर्थंकर थे। वे अपने ही श्रम पर सत्य को उपलब्ध कर विजेता (जिन) बने।

ब्राह्मण का मार्ग है–मांग कर प्राप्त करना। सत्य की उपलब्धि मांगने से नहीं हो सकती। महावीर का जन्मना क्षत्रिय का व्यक्तित्व है। उसने कभी मांगा नहीं। किसी के सामने हाथ फैलाया नहीं। क्षत्रिय जो जीतने वाला है वह कभी माग नहीं सकता। किसी के सामने हाथ फैला नहीं सकता। क्षत्रिय का जीवन ही विजय है। वह अपने विजय मार्ग का अकेला पथिक है। ब्राह्मण के मार्ग में तो विजय की कोई बात ही नहीं। वह तो भगवान के प्रसाद पर ही भरोसा किए बैठा है। वह तो निश्चित है कि सत्य की उपलब्ध प्रसाद से ही होगी। जीवन भर हाथ ही फैलाए रहेगा। दान लेने में बड़प्पन मानता रहेगा। ब्राह्मण की वृत्ति ही है–मांगना ही उसका जन्म सिद्ध अधिकार है जिसके पीछे उसकी बड़ी अकड़ है। उसकी झूंठी अकड़ को तोडना आवश्यक था। इसीलिए कथा में गूढ तथ्य यह है कि महावीर जैसा तीर्थंकर ब्राह्मण परम्परा में जन्म नहीं ले सकता। ब्राह्मणी की कोंख महावीर जैसे तीर्थंकर को जन्म देने में बिल्कुल असमर्थ है। यदि भूल से ब्राह्मणी के गर्भ में आजाय तो वहां से देवताओं को हटा देना पड़ेगा। आगया तो समझो हटा ही दिया। याने कथाकार ने ब्राह्मणी की कोंख से

महावीर के जन्म की जरा भी संभावना की गुंजाइश नहीं छोड़ी। इसीलिए श्रमण परम्परा के सभी चौबीसों तीर्थंकरों का जन्म पुण्यशाली क्षत्रिय कुल में ही हुआ है। ब्राह्मण सत्य को उपलब्ध तो हो सकते हैं पर महावीर के मार्ग पर। अगणित ब्राह्मण महावीर के मार्ग पर आए और सत्य को उपलब्ध किया। महावीर के सभी गणधर जन्मना ब्राह्मण थे।

दूसरा संकेत यह है कि भारत में ब्राह्मणों पर एक सामाजिक दायित्व था:—समाज को शिक्षा व संस्कार देना। मांगने से जो कुछ भी मिलता उसी में संतोष था। प्रारम्भ में ब्राह्मणों में बड़ी संतोष वृत्ति थी जिसके कारण समाज में ब्राह्मणों का सम्मान पूर्ण स्थान था। उनका समाज पर खासा वर्चस्व था। ज्यों-ज्यों समय बीता ब्राह्मण-परंपरा अपने दायित्व के निर्वाह में शिथिल होगई। प्रारम्भ में जो यह नीति थी कि समाज से लेना कम देना अधिक उसके स्थान पर लेना अधिक देना कम यह नीति होगई। आखिर लेने-देने में सौदा बाजी भी होने लगी। सामाज में ऐसे लोग भी थे जो सौदाबाजी करके ब्राह्मण को अगूंठा दिखा देते थे। ब्राह्मणों ने घोषणा की–ब्राह्मण को दान ब्राह्मण की रक्षा, ब्राह्मण को दान नहीं, ब्राह्मण की हत्या"। समाज ब्राह्मण हत्या के दोष से भयभीत होगया। ब्राह्मणों ने भयभीत समाज को अपने हाथ का खिलौना बना लिया। उन्होंने समाज को नाना अंध-विश्वासों, मूढताओं, थोथे अनुष्ठानों एवं रूढ़ियों से जकड़ दिया। महावीर के समय में यह जकड़ सीमा पार कर गई, समाज ब्राह्मणों से बड़ा संत्रस्त था। बड़े गहरे अभाव व संकट में था। ब्राह्मणों की समाज पर की जकड़ को तोड़ना और समाज को पतन से उबारना आवश्यक था। वह सब क्रांति से ही संभव था। किन्तु ब्राह्मण–परंपरा में जन्मे व्यक्ति से क्रांति का सिंहनाद संभव नहीं। क्योंकि क्रांति हमेशा विपरीत दिशा से ही उठती है। महावीर ब्राह्मण परम्परा में जन्म लेकर क्रांति के सूत्रधार नहीं बन सकते थे। अत: क्षत्रिय तीर्थंकर महावीर क्रांति के महान् सूत्रधार बने। उन्होंने समाज को नाना बुराइयों से उबारने एवं समाज पर की ब्राह्मणों की परंपरागत जकड़ को तोड़ने के लिए ज्ञानज्योति की दिव्य मशाल जलाई! उन्होंने सबको विवेक का दिव्य सूत्र दिया। क्योंकि आध्यात्मिक एवं भौतिक जगत में विजय का एकमात्र आधार भूत मूलतत्व विवेक ही है। इसीलिए महावीर ने दिव्य प्रेरणा दी–स्वयं को विवेक की भीतरी आंख से देखो, और वहीं रहने का प्रयत्न करो। सत्य की उपलब्धि का यही एक मात्र मार्ग है। जीवन के हर क्षण में विवेक का उपयोग करो। उठो तो विवेक से, चलो तो विवेक से, बैठो तो विवेक से, सोओ तो विवेक से, पीओ तो विवेक से, बोलो तो विवेक से। इससे सामाजिक जीवन में महान् परिवर्तन हुआ। ब्राह्मणों से समस्त समाज ने चैन की सांस ली। ब्राह्मण परम्परा में हलचल मच गई। उसमें भी विवेक जागा। महावीर की क्रांति काम कर गई।

इस तरह गर्भ हरण की कथा बड़ी अर्थ पूर्ण है। गहरे काव्य में तथ्य छिपा है। इसे ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं, काव्य की दृष्टि से देखना चाहिए। अतः मानना होगा महावीर के जीवन में गर्भ हरण जैसी कोई घटना नहीं घटी है।

दिव्य दृष्टा महावीर

□ श्री अनोखीलाल अजमेरा
इन्दौर

एक दिव्य, ज्योति, मुक्ति का प्रकाश, जो बता गई,
अज्ञान, अन्धकार को, संसार से हटा गई।

वह देव, देव, था, देवत्व से जो दूर, था,
ममत्व, मातृ पितृ, के ममत्व से जो दूर था।

वह सूर था, सूरों का, सूरत्व से जो दूर था,
अज्ञान, अन्धकार की वसुन्धरा से दूर था।

जो, दिव्य ज्ञान, चक्षु से, त्रैलोक्य को निहारता,
क्षुधित, दुखित, दलित, जनों को त्रास से उबारता।

मगन, रहा न, महल में, विमुख, रही विलासिता,
कमल, नयन, कनक, रतन, न ला सके समानता।

वह पुंज था, प्रकाश था, अमरत्व का विकास था,
जो मुक्ति का था अधिपति, वो महावीर भगवान था।

धार्मिक संस्कारों के विकास में नारी की भूमिका

☐ सुशीलाकुमारी बैद
जयपुर

नारी का महत्व किसी भी अवस्था में पुरुष से कम तो है ही नहीं, अधिक ही है। तीर्थंकरों जैसी महान् आत्माओं को जन्म देने वाली नारी ही होती है। वास्तव में समाज के चारित्र निर्माण का काम जितना अच्छा वह कर सकती है अन्य कोई नहीं क्योंकि जीवन निर्माण का सबसे पहला पाठ नारी ही बच्चे और बच्चियों को पढ़ाती है। नारी की यह महत्ता ही उसे कवि के मुख से 'नारी तुम श्रद्धा हो' यह शब्द कहलाती है।

—प्र० सम्पादक

'नारी' समाज शास्त्र की पुस्तक का प्रथम सुवर्ण पृष्ठ है, जहां से मानव के गरिमामय इतिहास का आरम्भ होता है। नारी नर की जन्मदात्री है। उसकी कोमल गोद संस्कारों की पाठशाला है। सामान्य शिशु से लेकर तीर्थंकर तकनें इस मखमली व सुखदाई गोद का भरपूर स्वाद लिया है। नारी के दूध की उज्ज्वलता मानव को निरलांछन चारित्र प्रदान करता है। अपने नैतिक आदर्शों के द्वारा वह मानव को सम्यकत्व का पाठ पढ़ाती है। कष्ट सहिष्णु नारी को इसीलिए प्राचीन साहित्य में देवी कहकर पुकारा गया। युग-युगान्तर तक मूक और मौन रहकर भारतीय नारी ने इस संसार को स्वर्ग से भी उन्नत ऊँचाइयों पर पहुंचाया। सारांश यह है कि धर्म, अर्थ, कर्म आदि कार्यों में नारी का प्रमुख स्थान व हाथ रहा। धर्म के विकास में वह अग्रणी रही। अपने नित्य कर्मों को कुशलतापूर्वक करने के बावजूद भी नारी ने धर्म के विकास में अपनी अच्छी भूमिका प्रस्तुत की। प्रातः उषावेला में ही उठकर वह अपने बुजुर्गों के पद वन्दन में नाना भांति के शुभ आशीर्वाद प्राप्त करती है और तत्पश्चात् अपने घरों के बासीपन को दूर करती है। नित्य कर्मों से निवृत्त होकर. चक्की पीसती हुई महिलाएं जिन भजन गुन-गुनाती रहती है। देव-दर्शन के लिए पुरुषों से भी पहले मन्दिर में पहुंच जाती है। देव-पूजा से वह स्व-आत्म कल्याण करती है और अपने परिवार के लिए मंगल सम्पदाओं को बटोरती है। साधुओं को आहार-दान देती और तत्पश्चात् अपने पति व परिवार को सात्विक भोजन खिलाती है। इन सबके पश्चात् भी वह अपने दैनिक व्यवहार में तप तपती, शील पालती, दान करती और सबसे बढ़कर प्रमुख धार्मिक संस्कारों को व्यावहारिक बनाती, पुरुष के जीवन में नियमितता लाती और बच्चों को सच्चरित्रता का पाठ पढ़ाती; देव पूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप, त्याग आदि नित्य कर्मों का अपने बच्चों को ज्ञान कराती; अपने घर को स्वर्ग के समान रखती; परिवार में धार्मिक विचारों का पोषण करती हुई आचार व विचार दोनों को उच्च बनाये; घर में शान्ति बनायें रखती और अपनी बोली के मिठास से घर भर की प्रियकारिणी बनी रहती है। किन्तु धर्म के विकास की यह कहानी पुरानी है। जिसमें अपना अस्तित्व बहुत पीछे छोड़ दिया है। आधुनिक युग में भी जैन धर्म के विकास में वह अपना अमूल्य योगदान देकर धर्म के विकास को आकाश की ऊँचाइयों तक पहुंचाने में सक्षम हो सकती है बशर्ते कि यह अपने कर्तव्य रूपी रथ पर आरूढ़ रहें। बच्चों में धार्मिक संस्कार डालें। उन्हें जैन धर्म के आवश्यक सिद्धान्तों से

परिचित करायें। उन्हें सिद्धान्तों के महत्व को समझायें नियमों के पालन से होने वाले लाभ का ज्ञान करायें। बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा में ही धर्म का बीज इस ढंग से बोये कि अंकुर फूटने व वृक्ष बनने में समय ही न लगे। याद रहे कि टहनी के पक जाने के पश्चात् उसे नहीं मोड़ा जा सकता है इसलिए प्रारम्भ में ही बच्चों को जैन धर्म के प्रभाव से प्रभावित करें जिससे भविष्य में वे धर्म से विमुख न हो सकें।

महिलाओं को चाहिए कि वे अपने बच्चों को जैन धर्म के प्रारम्भिक व आवश्यक सिद्धान्तों की अधिक से अधिक शिक्षा दें। उन्हें देव-दर्शन के लाभों से परिचित करायें, बच्चों को धार्मिक कहानियाँ सुनाकर उनमें देव-दर्शन की अभिरुचि उत्पन्न करें। बच्चों को समझायें कि देवदर्शन हम जैनियों का आवश्यक नियम है, देव-दर्शन से जीवन में अपूर्व शान्ति मिलती है विचार निर्मल बनते हैं, और ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय होता है। धर्म वृद्धि हेतु महिलाएं पुरुषों और बच्चों को मंदिर जाने के लिए बाध्य करें। मन्दिर न जाने पर वह परिवार के सदस्यों को, बच्चों को व पुरुषों को खाना बना कर ही न डालें। यदि सम्पूर्ण जैन महिलाएं इस प्रकार का दृढ़ निश्चय कर लें तो आधे से अधिक व्यक्ति दर्शन के लिए आने लगे। इतना भी नहीं तो दिन में एक बार किसी भी समय मन्दिर जाने का नियम तो बना ही सकती है। साथ ही वे स्वयं भी मन्दिर जायें किन्तु तेरी-मेरी, बहू-बेटी, सास-बहू, लेन-देन व लड़के लड़कियों की वार्ता के उद्देश्य से नहीं वरन् देव-दर्शन से पुन्यार्जन करने के उद्देश्य से जायें।

इसी प्रकार महिलाएं अपने बच्चों को जल छान कर पीने की शिक्षा दें। उन्हें छने हुए जल के पीने से कई सूक्ष्म कीटाणु जो हमारी आंखों से नहीं देख सकते शरीर में आने से बच जाते हैं, हम निरोगी बने रहते हैं और हिंसा के पाप से भी बच जाते हैं। महिलाएं अपने घर के नलों पर साथ ही से छन्ना या थैली बांधलें जिससे छना हुआ पानी ही काम में आये।

रात्रि भोजन त्याग का आदर्श भी बच्चों को महिलाएं ही सिखा सकती है। बचपन में ही उनमें ऐसे संस्कार डाले कि वे रात्रि भोजन से डरते रहें। रात्रि भोजन से जीव हिंसा होती है, मनुष्य रोग का शिकार बनता है, स्त्री वर्ग की परेशानियां बढ़ती है, उन्हें आराम का समय ही नहीं मिलता है, रात्रि के ग्यारह, बारह बजे तक खाना खाने के कारण बेचारी स्त्री दिन रात चौके-चूल्हे में ही फंसी रहती है। इसके अतिरिक्त रात को खाना खाने से छिपकली जैसे विषेले जन्तु का खाने में गिर जाना स्वाभाविक बात है, छोटे छोटे कीटाणु, मच्छर आदि का खाने के साथ पेट में चला जाना भी साधारण बात है। कई बार खाने में विषैले जन्तुओं से विष फैल जाता है जिससे परिवार के परिवार नष्ट हो जाते हैं। आये दिन पत्रों में ऐसी खबरें पढ़ने को मिलती है। किन्तु इसकी दोषी स्वयं महिलाएं हैं। उन्होंने अपने ही हाथों से अपने ऊपर कुल्हाड़ी चलाई है। पुरुष को रात्रि भोजन में सहयोग देकर उसने स्वयं की परेशानियां बढ़ाली है। एक समय था जब रात्रि भोजन का लाभ जैनियों की अमिट छाप थी। किन्तु दुःख व खेद की बात है कि जैनियों की यह छाप मिटती जा रही है। अधिकांश जैनियों ने रात्रि भोजन को सभ्यता का अंग समझ लिया है। दैनिक जीवन को छोड़कर अब तो शादी-ब्याह के भोज की रात्रि को दिये जाने लगे हैं। महिलाएं इस बात की प्रतिज्ञा करें कि हम स्वयं भी रात्रि में नहीं खायेंगी और पुरुषों व बच्चों को भी नहीं खिलायेगी, उन्हें रात्रि को भोजन बनाकर ही नहीं देंगी तो ये जैन सिद्धांत समाज में पुनः लागू हो सकते हैं।

इन सब बातों के साथ-साथ वे बच्चों को झूठ न बोलना, चोरी न करना, हिंसा न करना,

प्रेम से बोलना, बड़ों का आदर करना, देव पूजा, गुरु सम्मान, स्वाध्याय व प्रेम भाव जैसे सद्गुणों का पाठ पढ़ायें। पुरुषों को मद्य, मांस, मदिरा आदि के निषेध के लिए बाध्य करें। दुर्व्यसनों को छुड़ाने के लिए भरसक प्रयत्न करें और उसमें सफलता हासिल करें। महावीर के महान् व अनुपम सिद्धांतों अहिंसा, स्याद्वाद, अपरिग्रह, अनेकान्त को जीवन में लाने से पूर्व प्रारम्भिक जैनधर्म के सिद्धान्तों को अपनालें तो वही धर्म के विकास में अपूर्व सहयोगी बन सकते हैं। तभी हमारा निर्वाण वर्ष मनाना सफल हो सकता है और वास्तविकता में हम महावीर के अनुयायी कहलाने को अधिकारी हो सकते हैं।

तीन सत्य

सुशीला कुमारी बैद
एम. ए. धर्मालंकार

1

ज्ञानी वह कहलाता है जो।
सद्गुण तीन ये रखता है॥
त्याग, चरित्र, कार्य तत्परता।
जीवन में अपनाता है॥

2

स्व-आत्मा में रत रहकर जो।
परपीड़ा को हरता है॥
अथक परिश्रम करते रहकर।
जीवन अर्पित करता है॥

3

वीर वही कहलाता है जो।
नहीं किसी से डरता है॥
भेद-भाव मन में नहीं रखता।
समदृष्टि से रहता है॥

महावीर अवतरण

श्री ज्ञानचन्द 'ज्ञानेन्द्र', बाना

था संतप्त अवनि हृदय स्थल,
अनाचार, अत्याचारों से
द्रवित हुई थी दिशि-विदिशायें
हा! हा कार चीत्कारों से ॥१॥
पग, पग, पर पाखण्डी-पण्डों के
पैशाचिक ढंग बढ़े थे
भेड़ और बकरे ही क्या
बलिवेदी पर नर मुंड चढ़े थे ॥२॥
वैशाली से हुआ विस्फुटित
अहिंसा परमो धर्मः नारा
गूंज उठा तब दिग-दिगन्त तक
अवनी व अम्बर तल सारा ॥३॥
बीत गई वैरिन अंधियारी
व सुख का हो गया सवेरा
किया क्रूरता को निर्वासित
डाल दिया करुणा ने डेरा ॥४॥
और अहिंसा की मुस्कानों ने
हिंसा को जीत लिया था
'जियों और जीने दो' जन-जन को
जीवन संगीत दिया था ॥५॥
तुम जिस पथ पर चले
और जग को भी मार्ग प्रशस्त किया है
भटक गये हैं हम उससे
दुःख विपदाओं ने त्रस्त किया है ॥६॥
आज जन्म दिन पर उनके हम
एक बार फिर से प्रण ठानें
'जियो और जीने दो' की
जगती पर फिर से गूंजे तानें ॥७॥
सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह का
अवनी तल पर पुनः उदय हो
तभी बोल सकते हैं हम सब
भगवान् महावीर की जय हो ॥८॥

जिन-शासन जयवन्त हो

□ डा० जयकिशनप्रसाद खण्डेलवाल
आगरा

डा० खण्डेलवाल द्वारा लिखित जैन शासन का ध्वज शीर्षक पुस्तक से प्रेरणा पाकर ही समाज में पंचरंगी ध्वज को अपनाया गया है। उन्हीं डा० साहब के स्वस्तिक और धर्म-चक्र के सम्बन्ध में कुछ शब्द यहां पाठकों की जानकारी हेतु प्रकाशित किये जा रहे हैं। प्र० सम्पादक

भगवान महावीर के 2500 वें परिनिर्वाण महोत्सव की धूम इस समय ऋषभ-पुत्र चक्रवर्ती भरत के भारत में ही नहीं है, वरन् इस देश की सीमाओं को लांघ कर विश्व के अन्य देशों में भी पहुंची है। जिन-शासन जयवन्त हो। आचार्य नेमिचन्द अपने 'प्रतिष्ठा तिलक में लिखते हैं—

शिवमस्तु सर्वजगतां परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषाः प्रयान्तु नाशं तिष्ठतु जिनशासनं सुचिरम्॥

अर्थात् 'सर्व लोकों का कल्याण हो, जीवमात्र पर-हित में तत्पर रहें। दोषों का नाश हो, जैन-शासन चिरकाल तक पृथ्वी पर प्रवर्तित रहे।'

श्री दामोदर मिश्र द्वारा विरचित 12वीं शती का 'हनुमन्नाटक' संस्कृत नाट्य साहित्य में अपने वृहदाकार तथा रामकथात्मक होने से सुप्रसिद्ध हैं। नाटककार ने जैन-शासन की चर्चा इन शब्दों में की है—

अर्हन्नु-नित्यच जैनशासनरतः। 1/3

जैन शासन स्वस्ति-कल्याणमय है। इसका प्रतीक स्वस्तिक भी तदनुरूप है। स्वस्तिक चिन्ह अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। स्वस्तिक का भाव है—

स्वस्ति करोतीति स्वस्तिकः।

अर्थात् जो स्वस्ति-कल्याण का सम्पादन करे। इसलिए प्रत्येक शुभ कार्य में स्वास्तिकदर्शन का महत्व है। यह संसार से मुक्ति तक की सभी अवस्थाओं की ओर प्राणियों का ध्यान आकर्षित करता है। स्वस्तिक के सम्बन्ध में प्रसिद्धि है कि—

नर-सुर-तिर्यङ् नाटक योनिषु परिभ्रमति जीव लोकोऽयम्। कुशला स्वस्तिक रचनेतीव निदर्शयति धीराणाम्॥

—'यह जीव इस लोक में मनुष्य, देव, तिर्यञ्च तथा नारकी योनियों (चतुर्गतिक) में परिभ्रमण करता रहता है, मानो इसी को स्वस्तिक की कुशल रचना व्यक्त करती है।'

स्वस्तिक सर्वथा मंगलकारी है। डा० लक्ष्मी नारायण साहू के शब्दों में 'स्वस्तिक चिन्ह जैन-धर्म का 'आदि चिन्ह' है और उनके द्वारा प्रतिनित्य इसका शुभ कार्यों में प्रयोग किया जाता है।' यह चिन्ह जैन-धर्म के ग्रन्थों एवं मंदिरों में अधिक दिखाई पड़ता है। जैनियों की अक्षत-पूजा में यह चिन्ह आज भी बनाया जाता है।

देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक ये चार गतियाँ हैं, जिन्हें स्वस्तिक के चारों कोण इंगित करते हैं। स्वस्तिक पर तीन बिन्दु की कल्पना मोक्षमार्ग के मार्गभूत सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र को लक्षित करते हैं और उसके ऊपर अर्धचन्द्र सिद्धशिला का प्रतीक है। इस प्रकार जैन शासन का फलित रूप स्वस्तिक के द्वारा मूर्त रूप में सामने आ जाता है और हमें संसार से उठकर मोक्ष

के प्रति उद्यमशील होने का पाठ पढ़ाता है अतः इसे स्वस्तिक नाम दिया गया है। स्वस्तिक शब्द 'सु-अस' धातु से बना है 'सु' का अर्थ है सुन्दर मंगल और 'अस्' अर्थात् अस्तित्व या उपस्थिति। तीनों लोकों में, तीनों कालों तथा प्रत्येक वस्तु में जो विद्यमान हो, वही सुन्दर-मंगल-उपस्थिति का स्वरुप है—यही भावना है स्वस्तिक की।

स्वस्तिक का शिलाङ्कित चिन्ह प्रथम शती का पार्श्वनाथ की मूर्ति पर बने सप्त सर्प-फणों में से एक पर अंकित है, जो मथुरा संग्रहालय में रखी है। इससे भी पूर्व मोहन-जो-दरो के उत्खनन में प्राप्त सील-मुहरों पर भी स्वस्तिक चिन्ह मिलता है। विद्वानों का मत है कि पांच हजार वर्ष पूर्व की सिन्धु सभ्यता में स्वस्तिक पूजा प्रचलित थी।

भगवती आराधना में जिनशासन के धर्मचक्र की चर्चा बड़ी महत्वपूर्ण है। देखिए—

सम्मद्दंसणतुंबं दुबालसंगारयं जिणिदाणं।
वयणेमियं जगे जयइधम्मचक्कं तवोधार ।। 7/1865

—जिनेन्द्रदेव का धर्मचक्र जगत् में जयवन्त होकर प्रवर्तित हो रहा है। इस धर्मचक्र का सम्यग्दर्शन रूप मध्य तुंब (केन्द्र) है। आचारांगादिक द्वादश अंग उसके अरे (आरा) है। पंच महाव्रत आदि रूप उसके नेमि (धुरा) हैं। तप रूप उसका आधार है। ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव का धर्मचक्र अष्टकर्मों को जीतकर परम विजय को प्राप्त करता है।

महाकवि असग ने वर्द्धमानचरित में सूर्य की भांति भास्कर सहस्र किरणों वाले धर्मचक्र का वर्णन किया है, जो तीर्थङ्करों के आगे आगे चलता है—

अग्रेसरं व्योमनि धर्मचक्रं तस्य स्फुरद् भास्कर
रश्मिचक्रम्।
द्वितीयतिग्मद्युतिबिम्बशंका क्षणं बुधनामपि कुर्वीत् ।।
18/89

'वर्धमान तीर्थङ्कर के आगे-आगे आकाश में चलता हुआ धर्मचक्र, जिसकी चमकती हुई किरणों की आभा क्षणभर के लिए बुद्धिमान मनुष्यों को भी यह शंका पैदा करती थी कि यह द्वितीय सूर्य है।'

जैन शासन के प्रणेता चौबीस तीर्थङ्कर हुए हैं। आचार्य अकलंकदेव ने लिखा है—

धर्म तीर्थकरे भ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः।
ऋषभादि महावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ।।
लघीयस्त्र0 1

—'धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने वाले, स्याद्वाद के संस्थापक ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त हुए। चतुर्विंशति जिनेन्द्रों को स्वात्मा की प्राप्ति के लिए बारम्बार नमो नमः।'

जैन शासन में सम्पूर्ण प्रजाओं के कल्याण को महत्व दिया है। प्रत्येक श्रावक एवं साधु की यही कामना है कि—

जैनेन्द्र धर्मचक्रं प्रसरतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि।

'सर्व जीवों को सुख-शांति प्रदान करने वाला 'जिन-शासन' रूपी धर्मचक्र को उत्तम क्षमादि दशांग पूर्ण है, विश्व में सर्वकाल प्रसारित रहकर अनन्त सुखों को देता रहे।'

बदलते सन्दर्भों में महावीर का धर्म

☐ डा० प्रेम सुमन जैन
उदयपुर

'जैन धर्म अपने इतिहास के प्रारंभ से ही उन तथ्यों और मूल्यों का प्रतिष्ठापक रहा है जो प्रत्येक युग के बदलते संदर्भों में सार्थक हों तथा जिनकी उपयोगिता व्यक्ति और समाज दोनों के उत्थान के लिए हो' यह है वह निष्कर्ष जो विद्वान् लेखक की इस रचना का है और जिसका किसी भी रूप से खण्डन नहीं किया जा सकता। वास्तव में धर्म की कसौटी ही यह है कि वह सार्व और सार्वकालिक हो किसी व्यक्ति अथवा काल विशेष के लिए नहीं।

प्र० सम्पादक

प्रत्येक युग कुछ नये परिवर्तनों के साथ उपस्थित होता है। कुछ परम्पराओं को पीछे छोड़ देता है; किन्तु कुछ ऐसा भी शेष रहता है, जो अतीत और वर्तमान को जोड़े रहता है। बौद्धिक मानस इसी जोड़ने वाली कड़ी को पकड़ने और परखने का प्रयत्न करता है। अतः आज के बदलते हुए सन्दर्भों में प्राचीन आस्थाओं, मूल्यों एवं चिन्तनधाराओं की सार्थकता का अन्वेषण स्वाभाविक है। जैन धर्म मूलतः बदलते हुए सन्दर्भों का ही धर्म है। वह आज तक किसी सामाजिक कठघरे, राजनैतिक परकोटे तथा वर्ग और भाषागत दायरों में नहीं बंधा। यथार्थ के धरातल पर वह विकसित हुआ है। तथ्यों को स्वीकारना उसकी नियति है, फिर चाहे वे किसी भी युग के हों, किसी भी चेतना द्वारा उनका आत्मसाक्षात्कार किया गया हो।

वर्तमान युग जैनधर्म के परिप्रेक्ष्य में बदला नहीं, व्यापक हुआ है। भगवान् ऋषभदेव ने श्रमण-धर्म की उन मूलभूत शिक्षाओं को उजागर किया था जो तात्कालिक जीवन की आवश्यकताएं थीं। महावीर ने अपने युग के अनुसार इस धर्म को और अधिक व्यापक किया। जीवन-मूल्यों के साथ-साथ जीव-मूल्य की भी बात उन्होंने कही। आचरणगत अहिंसा का विस्तार वैचारिक अहिंसा तक हुआ। व्यक्तिगत उपलब्धि, चाहे वह ज्ञान की हो या वैभव की, अपरिग्रह द्वारा सार्वजनिक की गयी। शास्त्रकारों ने इसे महावीर का गृहत्याग, संसार से विरक्ति आदि कहा, किन्तु वास्तव में महावीर ने एक घर, परिवार, एवं नगर से निकल कर सारे देश को अपना लिया था। उनकी उपलब्धि अब प्राणिमात्र के कल्याण के लिए समर्पित थी। इस प्रकार उन्होंने जैनधर्म को देश और काल की सीमाओं से परे कर दिया, यही कारण है कि वह विगत दो हजार वर्षों के बदलते सन्दर्भों में कहीं खो नहीं सका है, मानव-विकास एवं प्राणि-मात्र के कल्याण में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

आज विश्व का जो स्वरूप है, सामान्यतः, चिन्तकों को बदला हुआ नजर आता है। समाज के मानदण्डों में परिवर्तन, मूल्यों का ह्रास, अनास्थाओं की संस्कृति, कुण्ठाओं और संत्रासों का जीवन, अभाव और भ्रष्ट राजनीति, सम्प्रेषण की माध्यम भाषाओं का प्रश्न, भौतिकवाद के प्रति लिप्सा-संघर्ष तथा प्राप्ति के प्रति व्यर्थता का बोध आदि वर्तमान युग के बदलते सन्दर्भ हैं, किन्तु महावीर-युग के परिप्रेक्ष्य में देखें तो यह सब परि-

वर्तन कुछ नया नहीं लगता। इन्हीं सब परिस्थितियों के दबाव ने ही उस समय जैनधर्म एवं बौद्ध धर्म को व्यापकता प्रदान की थी। अन्तर केवल इतना है कि उस समय इन बदलते सन्दर्भों से समाज का एक विशिष्ट वर्ग ही प्रभावित था। सम्पन्नता और चिन्तन के धनी व्यक्तित्व ही शाश्वत मूल्यों की खोज में संलग्न थे। शेष भीड़ उनके पीछे चलती थी, किन्तु आज समाज की हर इकाई बदलते परिवेश का अनुभव कर रही है। आज व्यक्ति सामाजिक प्रक्रिया में भागीदार है; और वह परम्परागत आस्थाओं-मूल्यों से इतना निरपेक्ष है, हो रहा है, कि उन किन्हीं भी सार्वजनिक जीवन-मूल्यों को अपनाने को तैयार है, जो उसे आज की विकृतियों से मुक्ति दिला सकें। महावीर का धर्म चूंकि लोकधर्म है, व्यक्ति विकास की उसमें प्रतिष्ठा है; अतः उसके सिद्धान्त आज के बदलते परिवेश में अधिक उपयोगी हो सकते हैं।

महावीर के धर्म में अहिंसा की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है। आज तक उसकी विभिन्न व्याख्याएं और उपयोग हुए हैं। वर्तमान युग में हर व्यक्ति कहीं-न-कहीं क्रान्तिकारी है; क्योंकि वह आधुनिकता के दंश को तीव्रता से अनुभव कर रहा है, वह बदलना चाहता है प्रत्येक ऐसी व्यवस्था को, प्रतिष्ठान को, जो उसके प्राप्य को उस तक नहीं पहुंचने देती। इसके लिए उसका माध्यम बनती है हिंसा, तोड़-फोड़, क्योंकि वह टुकड़ों में बंटा यही कर सकता है, लेकिन हिंसा से किये गये परिवर्तनों का स्थायित्व और प्रभाव हमसे छिपा नहीं है। समाज के प्रत्येक वर्ग पर हिंसा की काली छाया मंडरा रही है, अतः अब अहिंसा की ओर झुकाव अनिवार्य हो गया है। अभी नहीं तो कुछ और भुगतने के बाद हो जाएगा। आखिरकार व्यक्ति विकृति से अपने स्वभाव में कभी तो लौटेगा।

आज की समस्याओं के सन्दर्भ में "जीवों को न मारना, मांस न खाना, आदि परिभाषाओं वाली अहिंसा" बहुत छोटी पड़ेगी; क्योंकि आज तो हिंसा ने अनेक रूप धारण कर लिये हैं। परायापन इतना बढ़ गया है कि शत्रु के दर्शन किये बिना ही हम हिंसा करते रहते हैं, अतः हमें फिर महावीर की अहिंसा के चिन्तन में लौटना पड़ेगा। उनकी अहिंसा थी—'दूसरे' को तिरोहित करने की, मिटा देने की। कोई दुःखी है तो 'मैं' हूं और सुखी है तो 'मैं' हूं। अपनत्व का इतना विस्तार ही अहंकार और ईर्ष्या के अस्तित्व की जड़ें हिला सकता है, जो हिंसा के मूल कारण हैं। जैनधर्म में इसीलिये 'स्व' को जानने पर इतना बल दिया गया है क्योंकि आत्मज्ञान का विस्तार होने पर अपनी ही हिंसा और अपना ही अहित कौन करना चाहेगा?

जैनधर्म की अहिंसा की भूमिका वर्तमान युग की अन्य समस्याओं का भी उपचार है। अपरिग्रह का सिद्धान्त इसी का विस्तार है, किन्तु अपरिग्रह का अर्थ गरीबी या साधनों का अभाव नहीं है। महावीर ने गरीबी को कभी स्वीकृति नहीं दी। वे प्रत्येक क्षेत्र में पूर्णता के पक्षधर थे। इस दृष्टि से अपरिग्रह का आज के समाजवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस युग के समाजवाद का अर्थ है कि मुझ से बड़ा कोई न हो। सब मेरे बराबर हो जाएं किसी भी सीमित साधनों और योग्यता वाले व्यक्ति अथवा देश को इस प्रकार की बराबरी पर लाना बड़ा मुश्किल है। महावीर का अपरिग्रही चिन्तन है—मुझसे छोटा कोई न हो; अर्थात् मेरे पास जो कुछ भी है वह सबके लिए है, परिवार, समाज व देश के लिए है। यह सोचना व्यावहारिक हो सकता है। इससे समानता की अनुभूति हो सकती है। अब केवल नारा बनकर अपरिग्रह नहीं रहेगा। वह व्यक्ति से प्रारम्भ होकर आगे बढ़ता है, जबकि समाजवाद व्यक्ति तक पहुंचता

ही नहीं है। अपरिग्रह सम्पत्ति के उपयोग की सामान्य अनुभूति का नाम है, स्वामित्व का नहीं; अतः विश्व की भौतिकता उतनी भयावह नहीं है, उसका जिस ढंग से उपयोग हो रहा है, समस्याएं उससे उत्पन्न हुई हैं। अपरिग्रह की भावना एक ओर जहां आपस की छीना-झपटी, संचय-वृत्ति आदि को नियंत्रित कर सकती है, वहीं दूसरी ओर भौतिकता से परे आध्यात्म को भी इससे बल मिलेगा।

विश्व में जितने झगड़े अर्थ और भौतिकवाद को लेकर नहीं है, उतने आपसी विचारों की तना-तनी के कारण हैं। हर व्यक्ति अपनी बात कहने की धुन में दूसरे की कुछ सुनना नहीं चाहता। पहले शास्त्रों की बातों को लेकर वाद-विवाद तथा आध्यात्मिक स्तर पर मतभेद होते थे; आज के व्यक्ति के पास इन बातों के लिए समय ही नहीं है। रिक्त हो गया है वह शास्त्रीय ज्ञान से; तथापि वैचारिक मतभेद हैं और उनकी दिशा बदल गयी है। अब सीमा-विवाद पर झगड़े हैं, नारों की शब्दा-वली पर तनातनी है, लोकतन्त्र की परिभाषाओं पर गरमा-गरमी है। साहित्य के क्षेत्र में हर पढ़ने-लिखने वाला अपने मानदण्डों की स्थापनाओं में लगा हुआ है। भाषा के माध्यम को लेकर लोग खेमों में विभक्त हैं। ऐसी स्थिति में जैनधर्म, या किसी भी धर्म, की भूमिका क्या हो, कहना कठिन है; किन्तु जैनधर्म के इतिहास से एक बात अवश्य सीखी जा सकती है कि उसने कभी भाषा को धार्मिक बाना नहीं पहिनाया। जिस युग में जो भाषा सम्प्रेषण का माध्यम थी उसे उसने अपना लिया; और इतिहास साक्षी है, जैनधर्म की इससे कोई हानि नहीं हुई है। निष्कर्ष यह कि सम्प्रेषण के माध्यम की सहजता और सार्वजनीनता के लिए वर्तमान में किसी एक सामान्य भाषा को अपनाया जाना बहुत जरूरी है। मतभेदों में सामंजस्य एवं शालीनता के लिए अनेकान्तवाद का विस्तार किया जा सकता है, क्योंकि बिना वैचारिक उदारता को अपनाये अहिंसा और अपरिग्रह आदि की सुरक्षा नहीं है।

गहराई में खोजा जाए तो वर्तमान युग में जैनधर्म के अधिकांश सिद्धान्तों की व्यापकता दृष्टि-गोचर होती है। ज्ञान-विज्ञान और समाज-विकास के क्षेत्र में महावीर के धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। आधुनिक विज्ञान ने जो हमें निष्कर्ष दिये हैं—उनसे जैनधर्म के तत्वज्ञान की अनेक बातें प्रमाणित होती जा रही है। वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में द्रव्य 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' की परिभाषा स्वीकार हो चुकी है। जैनधर्म की यह प्रमुख विशेषता है कि उसने भेद-विज्ञान द्वारा जड़-चेतन को सम्पूर्णता से जाना है। आज का विज्ञान भी सूक्ष्मता की ओर निरन्तर बढ़ता हुआ सम्पूर्ण को जानने की अभीप्सा रखता है।

वर्तमान युग में अत्यधिक आधुनिकता का जोर है। कुछ ही समय बाद वस्तुएं, रहन-सहन के तरीके, साधन, उनके सम्बन्ध में जानकारी पुरानी पड़ जाती है। उसे भुला दिया जाता है। नित-नये के साथ मानव फिर जुड़ जाता है। फिर भी कुछ ऐसा है, जिसे हमेशा से स्वीकार कर चला जाता रहा है। यह सब स्थिति और कुछ नहीं, जैनधर्म द्वारा स्वीकृत जगत् की वस्तुस्थिति का समर्थन है। वस्तुओं के स्वरूप बदलते रहते हैं, अतः अतीत की पर्यायों को छोड़ना, नयी पर्यायों के साथ जुड़ना यह आधुनिकता जैनधर्म के चिन्तन की ही फलश्रुति है। नित-नयी क्रान्तियां प्रगतिशीलता, फैशन आदि वस्तु की 'उत्पादन' शक्ति की स्वाभाविक परिणति मात्र है। कला एवं साहित्य के क्षेत्र में अमूर्तता एवं प्रतीकों की ओर झुकाव वस्तु की पर्यायों को भूलकर शाश्वत सत्य को पकड़ने का प्रयत्न है। वस्तुस्थिति में जीने का आग्रह 'यथार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' के अर्थ का ही विस्तार है।

आज के बदलते सन्दर्भों में स्वतन्त्रता का मूल्य

तीव्रता से उभरा है। समाज की हर इकाई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व चाहती है। कोई भी व्यक्ति अपने अधिकार एवं कर्तव्य में किसी का हस्तक्षेप नहीं चाहता। जनतान्त्रिक शासनों का विकास इसी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के आधार पर हुआ है। महावीर ने स्वतन्त्रता के इस सत्य को बहुत पहले घोषित कर दिया था। वे न केवल व्यक्ति को अपितु प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को स्वतन्त्र कहते हैं; इसलिए उनकी मान्यता है कि व्यक्ति स्वयं अपने स्वरूप में रहे और दूसरों को उनके स्वरूप में रहने दे। यही सच्चा लोकतन्त्र है। एक दूसरे के स्वरूपों में जहां हस्तक्षेप हुआ, वहीं बलात्कार प्रारम्भ हो जाता है, जिससे दु:ख के सिवाय और कुछ नहीं मिलता।

वस्तु और चेतन की इसी स्वतन्त्र सत्ता के कारण जैनधर्म किसी ऐसे नियन्ता को अस्वीकार करता है, जो व्यक्ति के सुख-दु:ख का विधाता हो। उसकी दृष्टि में जड़ चेतन के स्वाभाविक नियम (गुण) सर्वोपरि हैं। वे स्वयं अपना भविष्य निर्मित करेंगे। पुरुषार्थी बनेंगे। युवाशक्ति की स्वतन्त्रता के लिए छटपटाहट इसी सत्य का प्रतिफलन है। इसीलिए आज के विश्व में नियम स्वीकृत होते जा रहे हैं, नियन्ता तिरोहित होता जा रहा है। यही बुद्ध वैज्ञानिकता है।

वस्तु एवं चेतन के स्वभाव को स्वतन्त्र स्वीकारने के कारण जैनधर्म ने चेतन सत्ताओं के क्रम-भेद को स्वीकार नहीं किया। शुद्ध चैतन्यगुण समान होने से उसकी दृष्टि में सभी व्यक्ति समान हैं। ऊंच-नीच, जाति धर्म आदि के आधार पर व्यक्तियों का विभाजन महावीर को स्वीकार नहीं था; इसीलिए उन्होंने वर्गविहीन समाज की बात कही थी। प्रतिष्ठानों को अस्वीकृत कर वे स्वयं जन-सामान्य में आकर मिल गये थे। यद्यपि उनकी इस बात को जैनधर्म को मानने वाले लोग अधिक दिनों तक नहीं निभा पाये। भारतीय समाज के ढांचे से प्रभावित हो जैनधर्म वर्ग-विशेष का होकर रह गया था, किन्तु आधुनिक युग के बदलते सन्दर्भ जैनधर्म को क्रमश: आत्मसात् करते जा रहे हैं; वह दायरों से मुक्त हो रहा है। महावीर का धर्म अब उनका नहीं रहेगा जो परम्परा से उसे ढो रहे हैं; वह उनका होगा जो वर्तमान में उससे जी रहे हैं।

वर्तमान युग में दो बातों का और जोर है— नारी-स्वातन्त्र्य और व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा। नारी-स्वातन्त्र्य के जितने प्रयत्न इस युग में हुए हैं संभवत: उससे कहीं अधिक पुरजोर शब्दों में नारी-स्वातन्त्र्य की बात महावीर ने अपने युग में कही थी। धर्म के क्षेत्र में नारी को आचार्य पद की प्रतिष्ठा देने वाले वे पहले चिन्तक थे। जिस प्रकार पुरुष का चैतन्य अपने भविष्य का निर्माण करने की शक्ति रखता है, उसी प्रकार नारी की आत्मा भी। अत: आज समाज अधिकारों के लिए संघर्ष करती हुई नारी अपनी चेतनता को स्वतन्त्रता को प्रमाणित कर रही हैं।

जैनधर्म में व्यक्ति का महत्व प्रारम्भ से ही स्वीकृत है। व्यक्ति जब तक अपना विकास नहीं करेगा वह समाज को कुछ नहीं दे सकता। महावीर स्वयं सत्य की पूर्णता तक पहले पहुंचे तब उन्होंने समाज को उद्बोधित किया। आज के व्यक्तिवाद में व्यक्ति भीड़ से कटकर चलना चाहता है। अपनी उपलब्धि में वह स्वयं को ही पर्याप्त मानता है। जैनधर्म की साधना, तपश्चर्या की भी यही प्रक्रिया है—व्यक्तित्व के विकास के बाद सामाजिक उत्तरदायित्वों को निबाहना।

जैनधर्म अपने इतिहास के प्रारम्भ से ही उन तथ्यों और मूल्यों का प्रतिष्ठापक रहा है, जो प्रत्येक युग के बदलते सन्दर्भों में सार्थक हों तथा जिनकी उपयोगिता व्यक्ति और समाज दोनों के उत्थान के लिए हो।

भगवान महावीर की वाणी : आधुनिक सन्दर्भ में

☐ सुश्री हेमलता बोल्या
उदयपुर

भगवान महावीर ने जो उपदेश दिये वे किस प्रकार विज्ञान सम्मत हैं और आज के प्रजातान्त्रिक युग में वे किस प्रकार से हमारी समस्याओं का समाधान करने में समर्थ हो सकते हैं यह बताना ही लेखिका की इस रचना का प्रमुख उद्देश्य है।

प्र. सम्पादक

आधुनिक युग में जहां भौतिक विज्ञान की उन्नति चरम सीमा पर हो रही है, वहां मानवता का ह्रास उतना ही अधिक हो रहा है। जहां आज एक ओर विज्ञान वरदान सिद्ध हो रहा है वहां दूसरी ओर एटमबम, परमाणुबम आदि के निर्माण से वह अभिशाप बन रहा है। इससे मानवता त्राहि-त्राहि कर रही है। भौतिकता के कारण आज मनुष्य का जीवन एक मशीन बनकर रह गया है। समाज में परस्पर घृणा एवं अविश्वास तथा व्यक्तिगत जीवन में मानसिक तनाव एवं अशान्ति के कारण विचित्र स्थिति पैदा हो रही है जिसके कारण आत्मग्लानि, व्यक्तिवादिता, आत्मद्रोह, अराजकता आर्थिक विषमता, तोड़फोड़ तथा जीवन की लक्ष्यहीनता की प्रवृतियां बढ़ती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में धर्म ही एक ऐसा तत्व है जो मानव की असीम कामनाओं को सीमित करके उसकी दृष्टि को व्यापक बना सकता है। किन्तु आज का बौद्धिक मानव किसी बात को इसलिये मानने को तैयार नहीं है कि वह शास्त्रों में कही गयी है। इसलिये आधुनिक युग में ऐसे धर्म एवं दर्शन की आवश्यकता है जिसका स्वरूप वैज्ञानिक हो, जो हमारी समस्याओं को सुलझाने में समर्थ हो तथा मानव को अपने ही प्रयत्नों पर विकास का मार्ग दिखा सके।

महावीर की भूमिका:

ऐसे समय में भगवान महावीर का धर्म आध्यात्मिक और व्यवहारिक दोनों ही दृष्टियों से उपयोगी है। साथ ही इनका जीवन-दर्शन और तत्व चिन्तन इतना अधिक वैज्ञानिक और सार्वकालिक प्रतीत होता है कि वह आज भी हमारी जटिल समस्याओं का समाधान करने में सक्षम है। महावीर आज भी हमारे प्रेरणा के स्रोत हैं।

तत्व विज्ञान:

महावीर के तत्व विचार आज विज्ञान के क्षेत्र में बहुत उपयोगी हैं। महावीर का कहना है कि यह लोक जीव, अजीव, धर्म (गति), अधर्म (स्थिति) आकाश (दिक्) और काल इन षट् द्रव्यों से बना है। आज माइन्ड (मनस्) मैटर (पदार्थ) की जो धारणा है वह महावीर के जीव-अजीव से भिन्न नहीं है। केवल भाषा और शैली का अन्तर है, तथ्य आज भी वे ही हैं।

महावीर ने मुक्ति के लिये जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्व बताये हैं किन्तु इन्होंने पुद्गल की सूक्ष्मतम व्याख्या के द्वारा भौतिक एवं रसायन विद्या के क्षेत्र में आज से हजारों वर्ष पूर्व ही अनेक आश्चर्य

अनेक तथ्य दिये हैं। आज विज्ञान के क्षेत्र में प्रचलित अणुसिद्धान्त भी कोई नया नहीं है महावीर बहुत पहले ही अणु की व्याख्या कर चुके हैं।

कर्म सिद्धांत :

महावीर का कर्म सिद्धान्त भी आज के युग में बहुत महत्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त के अनुसार जो जैसा कर्म करता है वैसा ही फल भोगता है। अच्छे का फल अच्छा और बुरे का फल बुरा। अच्छे और बुरे फलों को नियन्त्रित करने वाली कोई परोक्ष अलौकिक सत्ता नहीं है। व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। उसे जो सुख और दुःख उठाना पड़ता है उसका कारण ईश्वर नहीं है, अपितु उसके द्वारा किये गये अच्छे और बुरे कार्यों का परिणाम है। अतः कर्म सिद्धान्त व्यक्ति के पुरुषार्थ को जागृत करता हैं। महावीर का कहना है कि यदि व्यक्ति चाहे तो अपने पुरुषार्थ के द्वारा परमात्मा तक बन सकता है। वे स्वयं भी पुरुषार्थ के द्वारा ही महावीर बने। आज के युग में भी व्यक्ति किसी दूसरे पर आश्रित रहना नहीं चाहता, दूसरे की अधीनता उसे स्वीकार नहीं है। इसी का परिणाम है, लोकतन्त्र का विकास। इसी कारण आज का मानव ईश्वर की परतन्त्रता में विश्वास नहीं करता, अपना विकास स्वयं करना चाहता है।

अनेकांतवाद :

महावीर का अनेकान्तवाद का सिद्धान्त विश्व को बहुत बड़ी देन है। इसे अपनाने पर आज भी विश्व की अनेक समस्याओं का समाधान हो सकता है। महावीर के अनेकान्त का अर्थ है कि वस्तु अनेक धर्मात्मक है। अतः वह विभिन्न दृष्टिकोणों से देखी जा सकती है। वह हमें संकुचितता के दायरे से निकालकर व्यापक दृष्टि से सोचने की एक उदार दृष्टि प्रदान करता है। अनेकान्त के द्वारा हम यह सोचते हैं कि हम जो कह रहे है वही एक मात्र सत्य नहीं है, अपितु दूसरा जो कह रहा हैं वह भी सत्य हो सकता है। इस प्रकार महावीर का अनेकान्त दर्शन किसी भी वस्तु अथवा विचार के प्रति सहिष्णुता का वातावरण निर्मित करता है। महावीर का यह अनेकान्त वाद वैचारिक धरातल पर आज सापेक्षवाद के काफी निकट है।

अहिंसा और अपरिग्रह :

महावीर का कहना है कि अहिंसा, अचौर्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह इन पंच महाव्रतों के पालन द्वारा साधक उत्तरोत्तर आत्म-विकास के मार्ग पर बढ़ता जाता है। आज विश्व में चोरी और हिंसा का वातावरण उसे रोकने के लिए अनेक विध्वंसकारी अस्त्रों का निर्माण हो रहा है फिर भी हम आज हिंसा को रोकने में सफल नहीं हो सके हैं। ऐसी स्थिति में हमें महावीर के सिद्धांत का महत्व समझ में आता है। क्योंकि हिंसा को हिंसा के द्वारा नहीं, अपितु, अहिंसा के द्वारा ही रोका जा सकता है। महावीर की इस अहिंसा के महत्व को गांधी ने समझा और उसके द्वारा उस साम्राज्य को, जिसका सूरज कभी अस्त नहीं होता था, पराजित करके, यह सिद्ध किया कि हिंसा को अहिंसा के द्वारा ही रोका जा सकता है। अहिंसा की शक्ति अपरिमित है।

महावीर का अहिंसा का सिद्धान्त ही अन्य व्रतों में विकसित हुआ है। अपरिग्रह भी अहिंसा का विस्तार है। अपरिग्रह का अर्थ केवल वस्तुओं को छोड़ना नहीं है अपितु उनके प्रति महत्व का विसर्जन है। आज अपरिग्रह का महत्व और अधिक बढ़ जाता है जब मानव की परिग्रह करने की प्रवृति चरम सीमा पर पहुंच रही है तथा व्यक्ति अपने स्वार्थ को पहले देखता है और बाद में दूसरे का विचार करता है। व्यक्ति परिग्रह इसलिए करता है कि वह सुरक्षित होना चाहता है। अपने शरीर को आराम में रखना चाहता है। जिस दिन उसे यह ज्ञान हो जायगा कि शरीर मेरा नहीं है। आत्मा

को कोई भय नहीं है। उसी दिन वह परिग्रह करना छोड़ देगा। आज यह समस्त चाहत करती है।

ये व्रत व्यक्ति के सामाजिक और नागरिक गुणों का विकास कर उसे समाज का अच्छा व्यक्ति बनाते हैं। इस प्रकार व्यक्ति के सुधरने से समाज का सुधार स्वयमेव होता जाता है।

प्रतिक्रमण :

महावीर ने इन व्रतों के अतिरिक्त श्रावक के लिए प्रतिक्रमण का भी विधान किया है। प्रतिक्रमण का अर्थ है प्रायश्चित अर्थात्-अपने अच्छे बुरे कृत कार्यों की आलोचना करना। जिससे पहले हुई भूलों को दुबारा होने की सम्भावना मिट जाती है।

यह प्रतिक्रमण आज भी अपने आप में इतना सक्षम है कि व्यक्ति यदि इसका पालन नित्य प्रति करने लग जाये तो समाज में व्याप्त अनेक बुराइयां स्वतः ही समाप्त हो जायेगी। किन्तु आवश्यकता इस बात की है। कि हम इसके मूल स्वरूप को पहचानें क्योंकि आज प्रतिक्रमण का अर्थ सामायिक के समान ही कुछ पाठ करने से रह गया है। ऐसी स्थिति में यह हमारे लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है। प्रतिक्रमण का अर्थ है बाहर से अपनी आत्मा में लौटना। आत्मा के गुणों का विकास करना।

स्वतन्त्रता और समानता :

महावीर ने जातिवाद और दास प्रथा का घोर विरोध किया। और सर्व प्रथम आत्म स्वतन्त्रता की स्थापना की। महावीर का कहना है कि जातिवाद एक अवास्तविक और मिथ्या कल्पना है। तथा जाति, धर्म, वर्ण और लिंग की दृष्टि से किसी में कोई भेद नहीं है। सभी आत्मा समान है। इस विषय में तो महावीर का यहां तक कहना है कि.... हृथिसाय कुंकुस्य यसमें चेव जीवे' अर्थात आत्मा की दृष्टि से हाथी और कीड़ा दोनों एक समान हैं। इसका प्रमाण महावीर ने अपने संघ में हरिकेशबल जैसे चाण्डाल और आर्द्रकुमार जैसे अनार्य को प्रव्रजित करके दिया है। तथा महावीर ने सर्वप्रथम स्त्री एवं पुरुष में व्याप्त विषमता को दूर किया और धर्म के क्षेत्र में नारी को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करके, उसे समाज में भी पुरुष के ही समान सम्मान दिलाया इस प्रकार महावीर समाज सभी के अंगों को समान माना है। आज के समय में महावीर के स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्त का अत्यधिक महत्व है क्योंकि लोकतन्त्र का आधार ही स्वतन्त्रता और समानता है।

महावीर की दृष्टि और लोकमत :

महावीर के विचार आज की शासन व्यवस्था के सन्दर्भ में भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महावीर के समय गणतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था थी। आज लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था का विकास हो रहा है। ढाई हजार वर्ष-पूर्व महावीर ने जिन विचारों को प्रकट किया या जिन सिद्धान्तों का उपदेश दिया था, उनमें गणतन्त्रीय भावनाओं का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है। आज लोकतन्त्र की दुहाई दी जाती है, किन्तु हम सूक्ष्मतापूर्वक विचार करें तो हमारे देश में लोकतन्त्र नाम मात्र का है। लोकतन्त्र के नाम पर आज देश में नेताओं की तानाशाही का ही बोलबाला है। जिसके दमन चक्र में जनता पिस रही है। सच्चे अर्थों में लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्था की स्थापना आज महावीर के सिद्धान्तों को अपनाने पर हो सकती है। धर्म का आधार दण्ड नीति नहीं है, आत्म-शान्ति है और जनतन्त्र का आधार है जनता की शक्ति। व्यक्ति में जब स्वतन्त्र रहने की तड़फ होती है जो धर्म का उदय होता है और जब जनता में स्वतन्त्र रहने की तड़फ होती है तो जनतन्त्र का उदय होता है। महावीर ने कहा कि धर्म, जाति, वर्ण और लिंग की दृष्टि से व्यक्ति-व्यक्ति में कोई भेद नहीं है सभी में समान आत्मा है। जनतन्त्र का भी यही अर्थ है कि सभी को समान अधिकार हैं।

महावीर का दूसरा सिद्धान्त आत्म-निर्णय का है। महावीर ने कहा कि मानव अपने भाग्य का विधाता स्वयं ही है। दुख और सुख दोनों उसकी ही सृष्टि है वह स्वयं ही अपना शत्रु और मित्र है। यह निर्णय भी उसी को करना है कि वह होना क्या चाहता है। यह आत्म निर्णय का सिद्धान्त जनतन्त्र के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है। जहां व्यक्ति को आत्मनिर्णय का अधिकार नहीं होता वहां उसका व्यक्तित्व और कृतित्व कुण्ठित हो जाता है। जब निर्माण के लिये पुरुषार्थ और पुरुषार्थ के लिये आत्मनिर्णय का अधिकार आवश्यक है।

तीसरा सिद्धान्त आत्मानुशासन का है। महावीर का कहना है कि दूसरों पर शासन मत करो, शासन अपने शरीर आत्मा, मन और वाणी पर करो तथा जनतंत्र की सफलता आत्मानुशासन पर निर्भर है। क्योंकि बाह्य नियन्त्रण का प्रभाव जनता पर उतना अधिक नहीं पड़ता जितना आत्मानुशासन का।

लोकतंत्र की सफलता के लिए जनभाषा का प्रयोग आवश्यक है। महावीर ने भी अपने ज्ञान और उपलब्धि को जन-जन तक पहुंचाने के लिये जनभाषा प्राकृत का ही प्रयोग किया। महावीर का जनभाषा के प्रति झुकाव इस बात का संकेत करता है कि यदि हम देश में लोकतंत्र को सफल बनाना चाहते हैं तो हमें भी जनभाषा को अपनाना होगा। किसी विदेशी अथवा थोड़े से लोगों की भाषा के आधार पर देश को उन्नत नहीं बनाया जा सकता।

पूर्णता की ओर गमन :

त्रिरत्न—भगवान महावीर ने मोक्ष प्राप्ति के लिये सम्यक-दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को साधन माना है। वस्तुतः किसी भी क्षेत्र में पूर्णता प्राप्त करने के लिए इन तीनों गुणों की प्राप्ति आवश्यक है सम्यक् दर्शन का अर्थ है किसी भी समस्या की वस्तुस्थिति को जानना सम्यक् ज्ञान का अर्थ है जिस रास्ते पर हम जाना चाहते हैं उसकी सभी अपेक्षाओं का पूर्ण रूप से ज्ञान करना तथा सम्यक् चारित्र का अर्थ है जो कुछ हमने जाना और समझा है तदनुरूप जीवन में उसकी अभिव्यक्ति करना। महावीर के त्रिरत्न आज के सन्दर्भ में भी पूर्ण उपयोगी हैं। बिना स्वयं की शक्ति को जाने तथा पूर्ण ज्ञान प्राप्त किये किसी कार्य में सफलता नहीं मिल सकती है। अतः जगत को ठीक रूप से समझने और आत्मा का ज्ञान करने तथा अपने चारित्र को कल्याणकारी बनाने के लिये त्रिरत्नों का पालन करना आवश्यक है।

शान्ति :

महावीर का कहना है कि शान्ति कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो जीव से कहीं बाहर हो। इसलिए उसकी प्राप्ति के लिये बाहर भटकना व्यर्थ है। शान्ति स्वयं जीव के भीतर ही निहित है किन्तु आवश्यकता है इस बात के ज्ञान की। वर्तमान सन्दर्भ में महावीर का यह विचार बहुत महत्वपूर्ण है। आज सभी जीव शान्ति प्राप्ति के लिए लालायित हैं किन्तु भौतिक सामग्री से उन्हें कुछ समय के लिये शान्ति का अनुभव भले ही हो जाये, परन्तु चिर शान्ति का नहीं। चिर शान्ति के लिये उन्हें भीतर की ओर लौटना ही होगा।

तप और ध्यान :

महावीर स्वयं महान् तपस्वी थे। वे अनेक वर्षों तक ध्यानावस्थित रहे थे। इन्होंने तप और ध्यान को मुक्ति के लिये आवश्यक बताया है। उपवास का अर्थ केवल भूखे रहना ही नहीं है अपितु व्यक्ति अपनी आत्मा में इतना लीन या ध्यानावस्थित हो जाये कि उसे भूख और प्यास का अहसास ही न हो।

नवीन-साहित्य

भगवान महावीर : आधुनिक सन्दर्भ में

सम्पादक : डा. नरेन्द्र भानावत, प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर; सह सम्पादक—डा. शान्ता भानावत; प्रकाशक : श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, रामपुरिया सड़क, बीकानेर (राज०); प्रमुख वितरक : मोतीलाल बनारसीदास, जवाहर नगर, दिल्ली; प्रकाशन वर्ष : 1974 आकार प्रकार : 20×26 /8; पृष्ठ : 350; मूल्य : 40 रुपये।

भगवान महावीर के 2500वें परिनिर्वाण वर्ष के अवसर पर अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ की साहित्य प्रकाशन योजना के अन्तर्गत यह ग्रंथ सामने आया है। इस ग्रन्थ में भगवान महावीर का जीवन, व्यक्तित्व और विचार; भगवान महावीर के तत्व-चिन्तन का आधुनिक जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक सन्दर्भों में बहु आयामी विवेचन के अतिरिक्त भगवान महावीर द्वारा प्रतिष्ठापित मूल्य आज कितने प्रेरक ! कितने सार्थक !! विषय पर ।। विद्वानों की चिन्तनपूर्ण परिचर्चा का समावेश है।

ग्रन्थ में समाहित सामग्री को नौ खण्डों में प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक सन्दर्भ में विषय के अधिकारी विद्वानों के आलेख प्रस्तुत किये गये हैं। सामग्री के संकलन में जैन व जैनेत्तर विद्वानों का पूर्ण योगदान प्राप्त किया गया है। अन्त में ग्रन्थ में सहयोगी लेखकों, विद्वानों और मनिषियों का अकारादि क्रम से संक्षिप्त परिचय का समावेश किया गया है।

समस्त लेख पठनीय, विचारणीय एवं अपने विषय को स्पष्ट करने वाले हैं। लेखों का चयन एवं सम्पादन सुन्दर हुआ है। सभी लेख पाठक को चिन्तन की ओर गतिशील किये बिना नहीं रहते।

मुद्रण सामान्य, आवरण पृष्ठ आधुनिक चिन्तन से सम्बद्ध कलापूर्ण भाषा शैली में विविधता होते हुए भी सम्पादन के कारण सरस है। प्रयास स्तुत्य एवं सम्पादकगण एवं प्रकाशक बधाई के पात्र।

महावीर री ओलखाण

लेखक : डा. शान्ता भानावत एम. ए., पीएच. डी.; प्रकाशक : अनुपम प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर-3; आकार-प्रकार 20×30/16; पृष्ठ : 168; मूल्य : पांच रुपया (पुस्तकालय संस्करण : सात रुपया)।

भगवान महावीर के जीवन और उपदेशों पर राजस्थानी भाषा में यह पहला प्रकाशन सामने आया है। इस पुस्तक में बारह अध्याय हैं। जिसके प्रथम तीन अध्यायों में

काल चक्र, चौदह कुलकर और महावीर से पूर्व हुए 23 तीर्थंकरों का संक्षिप्त वर्णन है। बाद के छः अध्यायों में महावीर के जीवन काल की घटनाओं का वर्णन है। अन्तिम तीन अध्यायों में महावीर के सिद्धान्त और उपदेश और महावीर परम्परा पर सामग्री है। लोक-भाषा में महावीर पर यह पहला प्रयास अति सुन्दर बन पड़ा है। भाषा शैली सरस, सरल और हृदय-ग्राही है। पुस्तक को प्रारम्भ करने पर मध्य में छोड़ने को मन नहीं करता। लोक भाषा में महावीर पर जानने वालों की जिज्ञासा हेतु सुन्दर पुष्प प्रस्तुत किया है। बधाई !

तीर्थंकर भगवान महावीर

(३५ चित्रों का सम्पुट)

चित्रकार : श्री गोकुलदास कापड़िया, लेखक-संयोजक : मुनिश्री यशोविजयजी, प्रकाशक : जैन चित्रकला निदर्शन C/o जे. चितरंजन एण्ड को०, 312 मेकर भवन, 3, 21 न्यू मेरिन लाइन्स, बम्बई। मूल्य : प्रथम संस्करण 61 रुपये, दूसरा संस्करण : 101 रुपये

भगवान महावीर के 2500वें परिनिर्वाण वर्ष की स्मृति निमित्त तैयार हुए इस चित्र ग्रन्थ का सर्वत्र स्वागत हुआ है। भगवान महावीर के पद्मासन मुद्रा के आकर्षक चित्र के अतिरिक्त महावीर के जीवन प्रसंगों पर 33 अन्य चित्र व अन्तिम चित्र गौतम गणधर का है। ये सभी चित्र बहुरंगे, भावपूर्ण एवं मनमोहक दर्शनीय चित्र है। चित्रों के नीचे गुजराती, हिन्दी और अंग्रेजी में चित्र परिचय तथा बाईं ओर के पृष्ठ पर तीनों ही भाषाओं में चित्र प्रसंग का विस्तृत उल्लेख किया गया है। 3 भाषाओं में होने से ग्रन्थ की उपादेयता अधिक विकसित हुई है। परिशिष्टों में आवश्यक अन्य सामग्री दी गई है। 105 प्रतीक चित्रों का परिचय एवं 35 चित्र पट्टियों का परिचय भी समाहित किया गया है।

ग्रन्थ अति ही सुन्दर बन पड़ा है। इस संग्रहणीय ग्रन्थ का कागज उच्च क्वालिटी का मजबूत एवं मुद्रण ग्रन्थ के अनुरूप आकर्षक एवं नयनाभिराम है।

मुनिश्री यशोविजयजी महाराज की विद्वत्ता और चित्रकार श्री गोकुलदास कापड़िया का अनुभव इस ग्रन्थ को विदेशी संग्रहालयों के लिये भी उपयोगी बना पाया है। इन चित्रों के प्रस्तुतीकरण में आम्नाय-भेद का व्यामोह नहीं रखा जाता तो यह ग्रन्थ सभी सम्प्रदायों में मान्य होता। भगवान महावीर के 2500वें परिनिर्वाण मनाने हेतु गठित केन्द्रीय शासकीय समिति के अतिथि सदस्य मुनिश्री यदि साम्प्रदायिक व्यामोह से मुक्त रहकर इसे तैयार करवाते तो निश्चय ही भगवान महावीर को जन-जन की ओर से यह क्रांति सच्ची श्रद्धांजलि होती।

तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ

लेखक : डा. हुकमचन्द भारिल्ल शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम. ए., पीएच. डी., प्रकाशक : मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर-302004; आकार-प्रकार

18×22/8; पृष्ठ : 204; मूल्य : पांच रुपया (पुस्तकालय अंक 7 रुपया 50 पैसा) प्लास्टिक कवर : एक रुपया अतिरिक्त ।

प्रस्तुत कृति में भगवान महावीर के जीवन और सिद्धान्तों का संक्षिप्त किन्तु प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत करने का विद्वान लेखक ने सुन्दर प्रयास किया है। दो खण्डों में विभक्त उक्त कृति में भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित शाश्वत तत्वों एवं सिद्धान्तों की झलक चित्रित हुई है। मुक्तिमार्ग के विवेचन के अतिरिक्त सम्यग्दर्शन के अन्तर्गत सप्त तत्व, देव-शास्त्र-गुरु, भेद-विज्ञान और आत्मानुभूति का विवरण तथा सम्यग्ज्ञान के अन्तर्गत अनेकान्त स्याद्वाद और प्रमाणनय का तार्किक विवेचन है। सम्यक् चारित्र की विवेचना के साथ ही उपसंहार में महावीर वाणी को आधुनिक सन्दर्भ में मूल्यांकित किया गया है। तीसरे परिशिष्ट में स्वयं लेखक द्वारा रचित नवीन भावपूर्ण भगवान महावीर की पूजन दी गई है जिसमें भाव पक्ष के साथ-साथ काव्यगत सौन्दर्य भी द्रष्टव्य है।

सामग्री का चयन साम्प्रदायिक भेदभावों से दूर, प्रस्तुतीकरण जनसाधारण की भाषा में और मुद्रण दोषरहित है। पुस्तक जैन व जैनेतर सभी सम्प्रदायों में लोकप्रिय हुई है। अल्प समय में ही दूसरा संस्करण बाजार में उपलब्ध होना इसका प्रमाण है। पुस्तक का पाकेट बुक साइज भी अब बाजार में आ गया है जिसका मूल्य मात्र 2 रुपया है।

भगवान महावीर

(जीवन और उपदेश)

लेखक : विपिन जारोली; प्रकाशक : कृष्णलाल सनाढ्य, जवाहर विद्यापीठ, कानोड़ (राज.) आकार प्रकार : 18×22/8; पृष्ठ 14 मूल्य : पच्चीस पैसा

प्रस्तुत लघु पुस्तक में जिन परिस्थितियों और जिस वातावरण में महावीर जन्मे, पले और बढ़े; जिन समस्याओं से वे जूझे, उनका जो समाधान उन्होंने प्रस्तुत किया, उसकी अति-संक्षिप्त किन्तु रोचक झांकी लेखक ने प्रस्तुत की है। यह लघु रचना साम्प्रदायिक आग्रह से दूर रह कर महावीर के जीवन व दर्शन का विश्लेषण करती है। लेखक की अपनी एक कविता "वर्द्धमान तव अभिनन्दन है।" हृदयग्राही है।

वीर-विभूति

लेखक : पं. 'उदय' जैन; प्रकाशक : श्री जैन शिक्षण संघ, कानोड़ (राज.) आकार-प्रकार : 20×30/16; पृष्ठ : प्रथम खण्ड एवं द्वितीय खण्ड 278; मूल्य : 7 रुपये तृतीय खण्ड : पृष्ठ-106, मूल्य : 2 रु. 50 पैसा, प्रकाशन वर्ष : 1974

तीन खण्ड एवं दो पुस्तकों में मुद्रित इस पुस्तक का प्रथम खण्ड जिनवाणी मासिक में सितम्बर, 1950 से सितम्बर 1951 तक धारावाहिक प्रकाशित हुआ था -- उसे पुस्तकाकार किया गया है, शेष दो खण्ड हाल ही में लिखे गये हैं।

प्रथम पुस्तक में महावीर के जीवन एवं तत्कालिन परिस्थितियों का विवेचन किया गया है। इसमें महावीर के जन्म से निर्वाण तक की यात्रा का विवरण है। तृतीय खण्ड 'सर्वज्ञ महावीर' में महावीर के सिद्धान्त, दर्शन, तत्व, चारित्र और वर्तमान को छूते हुए सभी प्रश्न अनेकान्त के प्रकाश में रखने का प्रयत्न किया गया।

पुस्तक मौलिक चिन्तन से भरी हुई है और पाठक को आज के परिपेक्ष्य में सोचने को बाध्य करती है। लेखक ने विवादास्पद विषयों पर अपनी स्वतन्त्र धारणा भी व्यक्त की है जो विचारोत्तेजक होने के साथ-साथ लेखक के प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचायक है।

मुद्रण-सामान्य, कवर आकर्षक एवं मूल्य सर्व-स्वीकार्य है। लेखक का महावीर जीवन एवं दर्शन पर यह प्रयास गतानुगतिक न होते हुए सर्वथा भिन्न एवं मौलिक है।

आलोक

(महावीर निर्वाण शताब्दी एवं पं० 'उदय' जैन अभिनन्दन विशेषांक)

प्रबंध सम्पादक : विपिन जारोली; प्रकाशक : छात्र-संसद, श्री जवाहर विद्यापीठ, कानोड़ (उदयपुर) राजस्थान; आकार-प्रकार : 20 × 30/8: पृष्ठ : 100

यह पत्रिका श्री जवाहर विद्यापीठ छात्र संसद की वार्षिकी है। भगवान महावीर द्वारा बताये उपदेशों पर विशेष सामग्री के साथ ही विद्यापीठ का विवरण, विद्यापीठ के संचालक पं० 'उदय' जैन के अभिनन्दन समारोह का विवरण, साधुमार्गी जैन संघ के नेताओं का परिचय है। सामग्री का चयन बालकोपयोगी एवं प्रस्तुतीकरण सुन्दर हैं। विद्यालय पत्रिकाओं में यह पहली पत्रिका है जिसने महावीर पर विस्तृत सामग्री देने का प्रयास किया है। आवरण पृष्ठ पर भगवान महावीर और चण्डकौशिक सर्प की घटना का चित्र एवं जैन मूर्ति कला से सम्बन्धित एक शिलापट्ट दिया गया है। मुद्रण स्वच्छ एवं आकर्षक है।

पंडित टोडरमल
व्यक्तित्व और कर्तृत्व

लेखक : डा. हुकमचन्द 'भारिल्ल'; प्रकाशक : मंत्री, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट: जयपुर–302004; आकार-प्रकार : 18 × 22/8; पृष्ठ : 368; मूल्य : सात रुपया

यह व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व पं० हुकमचन्द भारिल्ल शास्त्री का पंडित टोडरमल जी पर शोध प्रबन्ध है, जिस पर इन्दौर विश्व विद्यालय से श्री भारिल्ल को पी. एच, डी. की उपाधि वर्ष 1972 में प्राप्त हुई थी। इस विषय पर यह पहला शोध प्रबन्ध है जिसमें पण्डित प्रवर टोडरमलजी पर तथ्यों के आधार पर अनुसंधान और अनुशीलन के पश्चात अध्ययन प्रस्तुत किया है। पण्डित टोडरमल जी पर यह प्रारम्भ है शोध का अन्त नहीं।

इस शोध प्रबंध में पण्डितजी के बारे में प्रचलित अनेकानेक काल्पनिक धारणाओं का सयुक्ति एवं सप्रमाण खण्डन कर सत्य को बताया गया है। पण्डितजी की क्रान्तिकारी दृष्टि, मिथ्या धार्मिक धारणाओं के विरुद्ध सचोट प्रताड़न एवं उनके दार्शनिक, आध्यात्मिक एवं व्यवहारिक विचारों को पूर्वा पर सन्दर्भ में रखा गया है। जैन धर्म से सम्बन्धित सिद्धान्तों, व्याख्याओं, साहित्य और भाषा की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

मुद्रण सामान्य, पेपर अच्छा एवं जिल्द पक्की है। अधिक मूल्य न होने से पाठक श्री भारिल्ल की इस कृति से लाभ उठायेंगे और पण्डित टोडरमल जी के बारे में अधिक जानकारी पा सकेंगे।

मुक्ति पथ की ओर

लेखक : क्षुल्लक श्री सन्मति सागर; प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन समाज, जयपुर; आकार-प्रकार : २० × ३०/16; पृष्ठ : 312 मूल्य : स्वाध्याय, मनन और आचरण।

लघु वय के क्षुल्लक श्री सन्मति सागर जी महाराज आचार्यश्री सुमतिसागरजी महाराज के शिष्य है। आपकी दीक्षा फरवरी 72 में 24 वर्ष की कुमारावस्था में ही हुई। तब से आप निरन्तर अध्ययनरत है और जैन संस्कृति पर ज्ञानार्जन कर रहे है। सद्धान्तिक ज्ञान को समझाने वाली आपकी यह पहली पुस्तक है। जिसमें षड़ावश्यकों का विवेचन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। श्रावक के अष्ट मूल गुणों पर विशद विवेचन है। मुक्ति पथ के पथिक के लिये सम्यक दर्शन, ज्ञान और चारित्र की त्रिपथ गंगा कैसे फलित हो—इसका साधन निर्देश प्रस्तुत पुस्तक में समझाया है। पुस्तक में तलस्पर्शी दृष्टान्तों के अतिरिक्त विवाद रहित प्रतिपादन और आत्मिक विकास का क्रमबद्ध प्रगति का कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक में आवश्यक स्तुति पाठों का भी समावेश किया गया है। पुस्तक का मुख-पृष्ठ आकर्षक एवं मुद्रण सुन्दर है।

शिक्षक और समाज

श्री लेखकरण डंडिया अभिनन्दन ग्रंथ

प्रधान सम्पादक : माणिक्य चन्द्र जैन: सम्पादक: नेमी चन्द्र काला: प्रकाशक: श्री लेखकरण डंडिया अभिनन्दन समिति, जयपुर : प्राप्ति स्थल : नव कल्पना, महावीर पार्क रोड, जयपुर-3 आकार-प्रकार : 18 × 22/4 पृष्ठ : 312 मूल्य : 40 रुपये

समर्पण की भावना से सम्पादित और सम्मानार्थ प्रकाशित यह ग्रंथ शिक्षा शास्त्री श्री तेजकरण डंडिया को समर्पित अभिनन्दन ग्रंथ है। श्री तेजकरण डंडिया का व्यक्तित्व विभिन्न रूपों में समाज के समक्ष है। वे एक आदर्श शिक्षक, शिक्षा शास्त्री और सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में समाज की गत 65 वर्षों से निस्वार्थ सेवा करते आ रहे हैं। उनकी इन सेवाओं का मूल्यांकन इस ग्रंथ की विषयवस्तु है। इस ग्रंथ में उन उपलब्धियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है जो श्री डंडिया ने अपने जीवन काल में प्राप्त की। श्री डंडिया के व्यक्तित्व को मुखर करने के लिये सम्पादक-द्वय ने (शिक्षा-शास्त्रियों, राजनेताओं, समाजसेवियों, सहयोगियों शिष्यों और स्वजनों से साक्षात्कार, शुभ कामनाएं और संस्मरणों को माध्यम बनाया है। साथ ही इसमें शिक्षा सम्बन्धी विचार और चिन्तन भी प्रस्तुत किया गया है। भारत की शिक्षा को राजस्थान की क्या देन रही है इस पर भी सामग्री प्रस्तुत की गई है। राज्य की विभिन्न कतिपय शिक्षण संस्थाओं का परिचय भी इसमें अधिकृत समावेश किया गया है।

यह सारी सामग्री ग्रंथ के 10 खण्डों तथा 6 उपखण्डों में संगृहीत है। प्रथम 6 खण्ड श्री डंडिया के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से सम्बन्धित हैं और शेष 4 खण्ड राजस्थान में शैक्षिक उपलब्धियों, शिक्षा संस्थाओं, शिक्षा संचालन एवं शैक्षिक विचारों से सम्बन्धित हैं। वर्तमान शैक्षिक समस्याओं पर भी चर्चा के साथ ही श्री डंडिया के जीवन प्रसंगों के दुर्लभ चित्रों का समावेश भी किया गया है।

सामग्री का चयन एवं प्रस्तुतिकरण आकर्षक, भाषा-सरल और ग्राह्य, सम्पादन ललित, मुद्रण सामान्य एवं साज-सज्जा विशिष्ट है।

॥ श्री ॥

मोह का पराक्रम :

मनुष्य जानता है कि अच्छा क्या है ? पर उसे करने की उसको प्रवृत्ति नहीं होती। वह यह भी जानता है कि बुरा क्या है ? फिर भी उसे छोड़ने की उसकी इच्छा नहीं होती।

मूलचन्द सुशील कुमार पाटनी—बम्बई

विश्व वंद्य

भगवान महावीर के चरणों

में

शत् शत् वन्दन

चौरडिया परिवार

"रत्न प्रकाश"

(INDIAN GEMMOLOGY)

लेखक

राजरूप टाँक

मोतीसिंह भौमिया का रास्ता

जौहरी बाजार, जयपुर - ३

TELE NO. 72621

भगवान महावीर के २५०० वें परिनिर्वाण वर्ष में प्रत्येक पुस्तकालय एवं शास्त्र भण्डार में संग्रह योग्य

श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

द्वारा

नवीनतम प्रकाशित साहित्य

१–महाकवि दौलतराम कासलीवाल: व्यक्तित्व एवं कृतित्व १०)
लें० डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल

(१८ वीं शताब्दि के राजस्थान के प्रसिद्ध कवि दौलतराम के जीवन एवं उनके संपूर्ण साहित्य पर आलोचनात्मक विवेचन)

(प्रस्तुत पुस्तक अ. भा. दि. जैन परिषद् के १९७४ के पुरस्कार से पुरस्कृत हो चुकी है) मू० १०)

२–वचन दूतम् रचयिता पं. मूलचन्द शास्त्री पृष्ठ सं ८० मू० ५)

(महाकवि कालिदास के मेघदूत के पद्यों के चतुर्थ पाद की समस्या पूर्ति के साथ राजुल की अन्तर्वेदना को लेकर संस्कृत का नवीनतम खण्ड काव्य)

कतिपय अन्य महत्वपूर्ण साहित्य

१–राजस्थान के जैन ग्रंथ भण्डारों की ग्रंथ सूची (पांच भागों में)

२–राजस्थान के जैन संत व्यक्तित्व एवं कृतित्व १०)
(पं. गोपालदास बरैया पुरस्कार से पुरस्कृत)

3–Jain Grantha Bhandars in Rajasthan. १०)

४–हिन्दी पद संग्रह
(विभिन्न जैन कवियों के ४०१ हिन्दी पदों का अपूर्व संग्रह) ५)

५–जिणदत्त चरित (हिन्दी का आदिकालिक काव्य) ७)

६–प्रद्युम्न चरित (ब्रज भाषा का प्रथम महाकाव्य) ७)

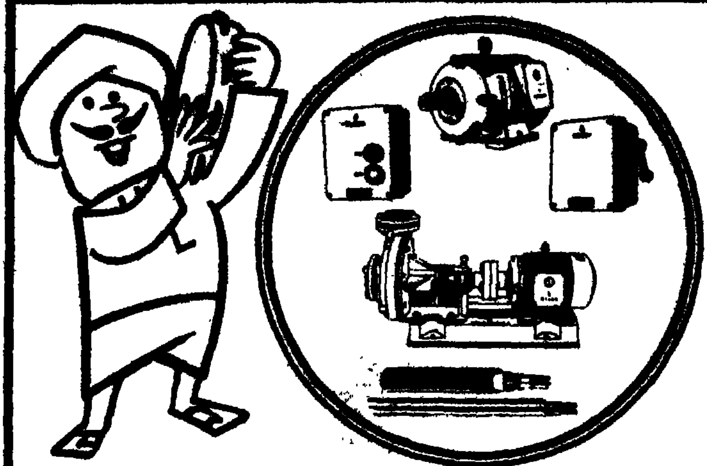
७–जैन शोध और समीक्षा १०)

८–भगवान महावीर–जीवन एवं सन्देश ८)

सोहनलाल सोगाणी
मंत्री
दि. जैन अ. क्षेत्र श्री महावीर जी

SIEMENS

सीमेन्स



सीमेन्स के ये पंचरतन हमारे यहां मिलते हैं। इसके अलावा हम यंत्रों के सही चुनाव, बैंकों से ऋण दिलाने, पम्पसेट को कुयें पर बिठाने तथा बिक्री-बाद की सेवा के लिये भी आपको पूरी सहायता देते हैं।

सीमेन्स पम्पसेट संबंधी जरूरतों के लिये अवश्य मिलिये।

अधिकृत विक्रेता :

वेस्टर्न इण्डियन स्टेट्स मोटर्स

एम० आई० रोड,

जयपुर—१

फोन नं० : 75697, 74123